भारतीय अर्थशास्त्र

द्वितीय भाग

लेखक :

सूरज भान गुप्त, बी० ए० (आनर्स), एम० ए०,

अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग,

डी० ए० वी० कॉलिज, अमृतसर,

सदस्य, बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़ इन इकनामिक्स, पंजाब विश्वविद्यालय ।

प्रकाशक :

नवयुग प्रकाशन,

मुज़फ़्फ़रनगर (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण,
१९५९

मूल्य : १० रु० ५० नये पैसे { मूल्य : ६ रु० ५० नये पैसे भाग १
मूल्य : ४ रु० भाग २

प्रकाशक :-
नवयुग प्रकाशन,
मुज़फ्फरनगर ।

मुद्रक :
बी० एन० गुप्ता
सिंघल प्रेस, मेरठ।

विषय-सूची

(द्वितीय भाग)

अध्याय

पृष्ठ संख्या

अध्याय २२

भारत में बड़े स्तर के उद्योग

(Large Scale Industries in India)

प्राक्कथन–

भारत आर्थिक दृष्टि से एक अर्ध-विकसित तथा पिछड़ा हुआ देश है। इसका अभी पर्याप्त औद्योगिक विकास नहीं हुआ है। परन्तु देश की निर्धनता और बेकारी को दूर करने के लिये यह अत्यावश्यक है कि देश का तेजी से औद्योगीकरण किया जाय। देश की खेती की उन्नति भी, एक बड़ी सीमा तक, इस औद्योगीकरण पर निर्भर है। इस औद्योगीकरण में बड़े स्तर के उद्योगों, लघु उद्योगों और कुटीर उद्योगों, सभी का विकास शामिल है। तथापि यहाँ इस अध्याय में हम केवल बड़े स्तर के उद्योगों के बारे में ही पढ़ेंगे। अगले अध्याय में हम कुटीर व लघु उद्योगों व उन की समस्याओं का विस्तार में अध्ययन करेंगे। उससे अगले दो अध्यायों में क्रमशः औद्योगिक वित्त और राज्य की उद्योगों के प्रति नीति का अध्ययन किया जायेगा।

बड़े स्तर के उद्योगों की भारत में स्थापना वैसे तो आज से १०० से भी कुछ अधिक वर्ष पहले ही आरम्भ हो गई थी, परन्तु इनका वास्तविक विकास वर्तमान शताब्दी में आ कर ही हुआ है। सर्व-प्रथम वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में स्वदेशी आन्दोलन ने और फिर प्रथम विश्व युद्ध (१९१४—१८) ने उद्योगों के विकास को कुछ प्रोत्साहित किया। १९२३ में सरकार ने विभेदात्मक संरक्षण की नीति (Policy of Discriminating Protection) को अपनाया। इस के अन्तर्गत जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुआ जैसे लोहा और इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग, दियासलाई उद्योग, आदि, उनका काफी तेजी से विकास हुआ। १९३९-४५ के दूसरे विश्व युद्ध ने देश में कई प्रकार के नये उद्योगों को जन्म दिया, और पुराने उद्योगों का आगे विकास किया। १५ अगस्त, १९४७ को देश स्वतंत्र हुआ और इस का विभाजन भी हुआ। तब से देश की सरकार देश में उद्योगों के विकास को कई प्रकार से प्रोत्साहित कर रही है। अप्रैल, १९५१ से उसने देश के आर्थिक विकास के लिये नियोजन की विधि को अपनाया है। पहली पंच वर्षीय योजना १ अप्रैल, १९५१ को आरम्भ होकर ३१ मार्च, १९५६ को समाप्त हो चुकी है। दूसरी पंच वर्षीय योजना इस समय देश में चल रही है। इस में औद्योगिक विकास पर पर्याप्त बल दिया गया है। इन योजनाओं तथा इन में औद्योगिक विकास का हम पुस्तक में आगे यथास्थान अध्ययन करेंगे।

हां, यहां यह अवश्य बतला दिया जाय कि यद्यपि भारत मे बड़े स्तर के उद्योगो को स्थापना १०० से भी अधिक वर्ष पहले आरम्भ हो गई थी, तथापि अभी तक भी अपनी आवश्यकता की बहुत सी वस्तुओ के लिये तथा मशीनरी व अन्य पूंजी वस्तुओ के लिये हम विदेशों पर ही निर्भर हैं। बड़े स्तर के उद्योगों मे काम करने वालों की संख्या बहुत छोटी है। १९५१ में यह संख्या केवल २५ लाख (कुल कार्य-शील जनसंख्या की केवल २·४%) थी। इसके अतिरिक्त, भारत के स्वतन्त्र-प्राप्ति से पूर्व के औद्योगीकरण की एक और कमज़ोरी यह थी कि लोहे और इस्पात उद्योग, कोयला उद्योग तथा सीमेंट उद्योग को छोड़ कर, बडे स्तर के अन्य लगभग सभी उद्योग उपभोग-वस्तुओं, जैसे सूती कपड़ा, चीनी, चमडे का सामान, वनस्पति (घी), इत्यादि को उत्पन्न करने वाले उद्योग थे, जब कि किसी भी देश का दृढ़ आधार पर औद्योगीकरण करने के लिये यह आवश्यक है कि वहाँ उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो, जैसे लोहे और इस्पात के अतिरिक्त, भारी इन्जीनियरिंग, भारी रसायन, आदि उद्योगों का भी विकास किया जाय। हर्ष की बात है कि देश की राष्ट्रीय सरकार इस आवश्यकता के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है। द्वितीय पंच वर्षीय योजना में वह ऐसे ही उद्योगों के विकास पर विशेष रूप से बल दे रही है। अगली योजनाओ मे भी यथासम्भव ऐसा ही किया जायेगा।

इस अध्याय मे हम केवल बड़े स्तर के पाच मुख्य उद्योगों : सूती वस्त्र उद्योग, पटसन उद्योग, चीनी उद्योग, लोहा और इस्पात उद्योग, तथा कोयला उद्योग के विकास, वर्तमान स्थिति व विभिन्न समस्याओ का अध्ययन करेंगे। भारत मे इनके अतिरिक्त भी बड़े-बडे स्तर के कई एक अन्य उद्योग चल रहे हैं, जैसे कि सीमेन्ट उद्योग, भारी रसायन (Heavy Chemicals) उद्योग, कागज उद्योग, दियासलाई उद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, शीशा उद्योग, दियासलाई उद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, वनस्पति (घी) उद्योग, विभिन्न प्रकार के इन्जीनियरिंग तथा बिजली उद्योग, चाय, काफी, रबड, आदि के बागान उद्योग, आदि। परन्तु स्थान के अभाव के कारण इन सब का यहा अध्ययन नही किया जायेगा।

सूती वस्त्र उद्योग

(Cotten Textile Industry)

भारत के संगठित उद्योगो में इस उद्योग का स्थान सर्वप्रथम है। भारतीय पूंजी और भारतीय उपक्रम से स्थापित और विकसित यह देश का पहला बड़े स्तर का उद्योग है। सूत और कपडे के उत्पादन के दृष्टिकोण से भारत का संसार में तीसरा स्थान है और कपास के उपभोग के आधार पर दूसरा स्थान है। यह उद्योग लगभग ४·५ लाख श्रमिको को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्रदान करता है। (हाथकरघा उद्योग में लगभग एक करोड बुनकर लगे हुए हैं।) इस उद्योग में लगभग ११० करोड रुपये की पूंजी लगी हुई है, और इसमें ३५० करोड रु० से ५०० करोड़ रु० के बीच वार्षिक कारोबार होता है।

संक्षिप्त इतिहास

भारत का सूती कपड़ा का उद्योग प्राचीन काल से ही संसार में बहुत ख्याति प्राप्त कर चुका था। १७वीं और १८वीं शताब्दी में भी बाहर के देशों को भारत से बड़ी मात्रा में सूती कपड़े का निर्यात किया जाता था।

परन्तु आधुनिक ढंग पर सूती कपड़े का पहला कारखाना सन् १८१८ में कलकत्ते में लगाया गया था। तथापि, इस उद्योग का वास्तविक आरम्भ सन् १८५४ में बम्बई में बुनाई के पहले कारखाने की स्थापना से हुआ। धीरे-धीरे और कारखाने खोले गये और १८८० में इनकी संख्या ५६ हो गई। इनमें से अधिकांश की स्थापना बम्बई में हुई, क्योंकि यहा की नम जलवायु, पूंजी और साख की पर्याप्त सुविधा, कच्चे माल (कपास) की समीप ही उपलब्धि, बन्दरगाह नगर होने के कारण मशीनों और आवश्यक सामग्री की आयातमें तथा चीन (हमारे सूत का तब सब से बड़ा ग्राहक) जापान, आदि देशों को निर्यात में मितव्ययिता और यातायात के सस्ते और द्रुतगामी साधन, सभी उपलब्ध थे।

तथापि, १८७७ के बाद से उद्योग का विकेन्द्रीकरण आरम्भ हो गया, और नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर, आदि नगरों में सूती कपड़े की मिलें स्थापित होने लगीं। इसके कई कारण थे, जैसे रेलों का विकास, कच्चे माल (कपास) तथा उपभोग केन्द्रों की अधिक समीपता, सस्ते श्रम की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि, आदि।

१९०५ तक मिलों की संख्या बढ़ कर १९७ हो गई थी। अब तक अधिक जोर सूत कातने पर ही था, क्योंकि चीन में भारतीय सूत की बहुत माग थी। परन्तु इसके पश्चात् (और इस से पूर्व भी) इस उद्योग को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक तो, १९०५ के बाद चीन, जापान, और सुदूर पूर्व के अन्य देशों को होने वाला सूत का निर्यात धीरे-धीरे बन्द होने लगा। (व्यापार की अवनति के प्रमुख कारण ये थे: भारत में चादी के सिक्कों की मुक्त ढलाई पर रोक लग जाने से चीन के साथ विनिमय-दर में उत्पन्न अव्यवस्था, स्वयं चीन में सूत कातने के उद्योग का विकास, स्वदेशी आन्दोलन तथा अन्य कारणों से स्वयं भारत में बुनाई के उद्योग का विकास आदि।) दूसरे, १८९५ में देश में उत्पन्न वस्त्र पर ३½% का उत्पादन-शुल्क (Excise Duty) लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त, फैक्टरी अधिनियम पास होने से, श्रम महंगा हो गया, और देश में सूत व कपड़े की उत्पादन लागत बढ़ गई।

प्रथम महायुद्ध ने, अन्य उद्योगों के साथ-साथ, इस उद्योग को भी बहुत प्रोत्साहन दिया, क्योंकि इस अवधि में एक तो, सैनिक आवश्यकताओं के लिये कपड़े की माग बढ़ी, और दूसरे, जहाजों की कमी के कारण, विदेशों से कपड़े का आयात कम और महंगा हो गया। फलतः १९१७ से १९२२ तक के ६ वर्षों में इस उद्योग ने द्रुत वृद्धि की। उद्योग के लगी पूंजी, मिलों की संख्या उत्पादन, और हिस्सेदारों के लाभ सभी कुछ बढ़े। १९२२ में मिलों की संख्या बढ़ कर २९८ हो गई थी।

परन्तु इसके तुरन्त पश्चात् ही उद्योग के लिये संकट-काल प्रारम्भ हो गया। कपड़े की कम मांग, कपास के मूल्यों में भयानक घटा-बढ़ी, मजदूरों की व्यापक हड़तालें, विदेशी, विशेषतः जापानी, माल की घातक प्रतियोगिता, विदेशी विनिमय की दरों में परिवर्तन, आदि कारणों से उद्योग को बहुत कठिन समय देखना पड़ा। इस सबसे उद्योग को भारी क्षति हुई। अतः १८९६ में लगाये गये उत्पादन-शुल्क को १९२५ में हटा लिया गया। परन्तु इससे भी दशा नहीं सुधरी। अतः १९२७ में सर्वप्रथम सूत को और १९३० में कपड़े को संरक्षण दिया गया। १९२९-३३ की विश्व-व्यापी महामंदी ने सूती कपड़े के उद्योग को भी हानि पहुंचाई। उधर, १९३१ के बाद से सस्ते जापानी कपड़े की आयात की प्रतिस्पर्धा और भी बढ़ गई। अतः कुछ समय के पश्चात् आयात-करों को बढ़ाकर उद्योग को और संरक्षण देना पड़ा। यह संरक्षण कुल मिलाकर २० वर्ष तक रहा। १९४७ में इसे अन्तिम रूप से हटा लिया गया। संरक्षण की इस नीति का एक दोष यह था कि यह निश्चित नहीं थी। इसमें बार बार संशोधन और आयात-करों में घटा-बढ़ी होती रहीथी। दूसरे, इस पर साम्राजीय अधिमान (Imperial Preference) की नीति लाद दी गई थी, जिसके अन्तर्गत ब्रिटेन और ब्रिटिश राष्ट्र संघ के अन्य सदस्य देशों से आने वाली आयातों पर नीची दर पर आयात-कर लगाये जाते थे, और अन्य विदेशों से आयातों पर ऊंची दर पर आयात-कर लगाये जाते थे। इस नीति के कारण भारत का सूती वस्त्र का उद्योग, जापान की प्रतिस्पर्धा से तो बच पाया, परन्तु लंकाशायर और मान्चेस्टर (इंगलैंड) की स्पर्धा से बहुत नहीं बच पाया। यह हमारी राजनीतिक दासता की कीमत थी। तथापि, यह मानना पड़ेगा कि संरक्षण के कारण भारतीय सूती-वस्त्र उद्योग बर्बाद होने से बच गया, और आज यह देश का प्रधान राष्ट्रीय उद्योग है।

१९२९ से १९३९ के बीच मिलों की संख्या ३३४ से बढ़ कर ३८९ हो गई; सूत का उत्पादन ८०.७ करोड़ पौंड से बढकर १२३.३ करोड़ पौंड हो गया, और कपड़े का उत्पादन २२५.९ करोड़ गज से बढ़ कर ४२७ करोड़ गज हो गया।

दूसरे महायुद्ध से पूर्व इस उद्योग की दशा बहुत अच्छी नहीं थी। तथापि, इस युद्ध ने भी, प्रथम विश्व युद्ध की भांति, उद्योग को विकसित होने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। युद्धकाल में जापान से आयात बिल्कुल बन्द हो गये। अन्य देशों से होने वाले आयात में भी काफी कमी हो गई। इससे देशी बाजारों पर इसका एकाधिकार स्थापित हो गया। इधर सैनिक आवश्यकताओं के लिये तथा नागरिकों की ओर से भी कपड़े की मांग बढ़ी। उधर अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, मध्य पूर्व के तथा अन्य पड़ोसी देशों में भारतीय कपड़े की मांग बढ़ी, और इन देशों को बड़ी मात्रा में कपड़ा निर्यात करना पड़ा। इस सब से देश में कपड़े का उत्पादन बढ़ा, और १९४३-४४ में ४८७ करोड़ गज कपड़ा देश में बनाया गया। अभी तक भारतीय सूती मिलों ने कभी भी इतना कपड़ा तैयार नहीं किया था। परन्तु मांग अधिक होने तथा स्फीति (Inflation) होने के कारण कपड़े का मूल्य

भी बहुत बढ़ गया था। अतः १९४३ में सरकार ने कपड़े के मूल्य, उत्पादन और उपभोग पर नियंत्रण लगाये। ये नियंत्रण युद्ध के बाद भी चलते रहे। बीच में इन्हें हटाया भी गया था, परन्तु कपड़े की स्थिति फिर खराब होने के कारण, इन्हें फिर लगा दिया गया था। अन्ततः जुलाई, १९५३ में इन नियंत्रणों को पूर्णतः हटा लिया गया।

उद्योग ने युद्धकालीन समृद्धि भारी कीमत पर खरीदी थी। इस अवधि में मशीनों का अत्यधिक प्रयोग किया गया था, परन्तु युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण इनकी बदली नहीं हो पाई थी। अतः युद्धोत्तर काल में मशीनरी की बदली और टूट-फूट-सुधार (Renovation) उद्योग की प्रमुख समस्यायें हो गईं। इधर युद्ध समाप्त होने पर देश में हड़तालों की एक बाढ़ सी आई, और कारखानों में कार्य-दिवसों (Working Days) की संख्या बहुत गिर गई। १९४६ व १९४७ में देश में सबसे अधिक हड़तालें व अन्य औद्योगिक झगड़े हुए और सबसे अधिक मनुष्य-दिनों की हानि हुई। फलस्वरूप कपड़े का उत्पादन १९४० में गिर कर केवल ३७६·२ करोड़ गज रह गया।

उधर १५ अगस्त, १९४७ को देश का विभाजन हुआ। पश्चिमी पंजाब और सिंध के कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। इस से देश में कपास की बहुत कमी हो गई। लम्बे रेशे वाली रूई की कमी बहुत अधिक बढ़ गई, क्योंकि इस प्रकार की रुई अधिकांशतः पश्चिमी पंजाब और सिंध में ही पैदा की जाती थी। फलस्वरूप भारत कपास के लिये विदेशी आयातों पर निर्भर हो गया।

सितम्बर, १९४९ में अन्य २२ देशों की मुद्राओं के साथ, भारतीय रुपये का भी अमरीकन डालर में अवमूल्यन (Devaluation) हुआ। परन्तु पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। भारत सरकार ने अपने रुपये की पाकिस्तानी रुपये के साथ नई विनिमय-दर को स्वीकार नहीं किया। इससे दोनों देशों में व्यापार-गतिरोध (Trade Deadlock) हो गया। पाकिस्तान से आने वाली कपास की आयात पूर्णतः बन्द हो गई। देश में कपास की बहुत कमी हो गई। फलस्वरूप हमें संयुक्त राज्य अमरीका, मिस्र और पूर्वी अफ्रीका से महँगे दामों पर बड़ी मात्रा में कपास मंगानी पड़ी। तिस पर भी कपास की कमी के कारण देश में कई एक सूती मिलें कुछ समय के लिये बन्द हो गईं। इससे श्रमिकों में बेचैनी बढ़ी। हड़तालें हुईं। देश में कपड़े का उत्पादन कम हुआ। १९५० में देश में कपड़े का उत्पादन केवल ३६६·७ करोड़ गज था।

प्रथम पंच वर्षीय योजना:—अप्रैल, १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना आरम्भ हो गई। इस योजना में यह लक्ष्य रखा गया था कि १९५५-५६ तक सूत के उत्पादन को बढ़ाकर १६४ करोड़ पौंड, और कपड़े के उत्पादन को बढ़ाकर ४७० करोड़ गज

किया जाय। हाथ करघा उद्योग का विकास करने के उद्देश्य से योजना मे यह सुझाव दिया गया था कि योजनाकाल में कपडा बुनने का कोई भी नया कारखाना स्थापित न किया जाय; केवल सूत कातने की मिलें स्थापित की जाय। योजनाकाल में उद्योग ने पर्याप्त प्रगति की और योजना का वस्त्र-उत्पादन का लक्ष्य १९५३ मे ही पार कर लिया गया। १९५५ मे मिलो मे कपड़े का उत्पादन ५०१'४ करोड़ गज और सूत का उत्पादन १६३ करोड पौंड था। इसी वर्ष मे हाथ करघो का कपड़े का उत्पादन १४८ करोड़ गज (योजना का लक्ष्य था १७० करोड़ गज) था और शक्ति चालित करघो का उत्पादन २७ ३ करोड गज था। इस प्रकार कपडे का कुल उत्पादन ६२८ ७ करोड़ गज था। इसमे से ८७'२ करोड़ गज कपडा निर्यात किया गया था।

वस्त्र जांच समिति अथवा कानूनगो समिति, १९५२:— नवम्बर, १९५२ मे भारत सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग के विभिन्न क्षेत्रो मिलो, हाथ करघो, और शक्तिचालित करघो — की व्यापक जाच करने के लिये, श्री कानूनगो की अध्यक्षतामे एक समिति नियुक्त की। समिति ने अपनी रिपोर्ट सितम्बर, १९५४ मे पेश की। इसमे इसने अनुमान लगाया था कि १९६० तक देश मे प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग १८'५ गज हो जायेगा, और कि तब तक देश की जनसंख्या बढ़कर ४० करोड़ हो जायेगी। इस प्रकार १९६० देश मे देश में कपड़े की कुल आन्तरिक मांग ७४० करोड़ गज होगी। समिति ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रति वर्ष १०० करोड गज कपडे की निर्यात के लक्ष्य को बनाये रखना चाहिये। इस प्रकार १९६० तक कपड़े के उत्पादन को बढ़ाकर ८४० करोड गज करना होगा। उत्पादन मे इस वृद्धि को प्राप्त करने के लिये उसने निम्नलिखित सिफारिशें की थी —

(१) मिलो मे कपड़े के उत्पादन को ५०० करोड गज तक ही सीमित रखा जाय। इसके अतिरिक्त जितने कपडे की आवश्यकता हो, उसे उन्नत प्रकार के करघो और शक्तिचालित करघो से उत्पन्न किया जाय। अतः कपडे की बुनाई मिलों का और प्रसार नही होना चाहिये। हां, इन मिलों का अभिनवीकरण अवश्य होना चाहिये। इसके लिये आगामी २० वर्षों मे मिलो मे प्रतिवर्ष ५,००० सादे करघो के स्थान परस्वचालित करघो को लगाना चाहिये।

(२) मिल उद्योग के कताई विभाग का विस्तार किया जाय तथा उसका हाथ करघा एवं शक्तिचालित करघा विभाग से सामंजस्य स्थापित किया जाय।

(३) हाथ करघा उद्योग की प्रौद्योगिक कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिये, समिति ने देश मे चालू १२ लाख हाथकरघो को अर्ध-स्वचालित (Semi-automatic) करघों अथवा शक्तिचालित करघो में बदलने के एक कार्यक्रम की सिफारिश की थी। इस सम्बन्ध मे इसका सुझाव था कि आगामी ६ वर्षों मे ३ लाख हाथ करघों को २'१३ लाख उन्नत प्रकार के करघो अथवा शक्तिचालित करघों में बदलना चाहिये, और शेष का ऐसा रूपान्तरण (Conversion) आगामी दो या तीन पचवर्षीय अवधियों में होना चाहिये।

रहे है । इससे मिलों की आर्थिक स्थिति को भारी धक्का पहुंच रहा है। फलस्वरूप कई एक मिलों ने अपना उत्पादन कम कर दिया है, और कुछ एक कुछ समय के लिये बन्द हो हो गई हैं । इससे मजदूरों को बड़ी हानि हो रही है । वैसे भी आज की परिस्थितियों मे यह विचित्र दशा है कि, एक ओर तो देश मे लोगो के पास पहनने को कपड़ा नही है, और सरकार यह आयोजन कर रही है कि योजनाकाल में लोगों की आयो मे वृद्धि होने से व जनसंख्या के बढ़ने से कपड़े की माग मे जो वृद्धि होगी, उसे कपडे के उत्पादन को बढ़ा कर पूरा किया जाय । दूसरी ओर, कपड़े का जो अतिरिक्त उत्पादन किया जा रहा है, वह बिक नही रहा है, और मिलो के पास बिना बिके हुए कपडे का स्टॉक बढ रहा है उद्योगपतियों के अनुसार, इसका मुख्य कारण भारत सरकार द्वारा १ सितम्बर, १९५६ से मिलो मे बने कपडे पर उत्पादन शुल्क में की गई वृद्धि है। इसके अतिरिक्त, भारतीय कपडे को विदेशी बाजारो मे अन्य प्रतियोगी वस्त्र-उत्पादक देशो, विशेषतः जापान, की कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड रहा है । साथ ही, इन निर्यात बाजारो मे उनका स्वयं अपना वस्त्र उद्योग जन्म ले रहा है । अतः यह स्थिति उत्पन्न हो रही है । इस दशा को सुधारने के लिये सरकार ने हाल ही मे मिलो मे बने कपडे पर उत्पादन-शुल्क मे कुछ कमी की है, और कपडे की निर्यात को बढाने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं।

द्वितीय पच वर्षीय योजना—दूसरी पंच वर्षीय योजना मे यह लक्ष्य रखा गया है कि सूती कपडे के कुल उत्पादन (मिलो, हाथ करघो और शक्तिचालित करघो के उत्पादन को मिलाकर) को १९५५-५६ के ६८५ करोड गज से बढा कर १९६०-६१ मे ८५० करोड गज तक पहुँचाया जाय, और सूत के उत्पादन को १६३ करोड़ पौंड से बढ़ाकर १९५ करोड़ पौंड किया जाय। ऐसा करने मे प्रति वर्ष १०० करोड़ गज कपड़ा विदेशो को निर्यात कर देने के पश्चात् प्रति व्यक्ति उपभोग के लिये १८ गज कपडा उपलब्ध हो पायेगा। मूल योजना मे कपड़े के अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य का मिलो, हाथ करघो और शक्तिचालित करघो मे बंटवारा नही किया गया था क्योंकि योजना के प्रकाशन के समय तक सरकार 'अम्बर चर्खे' के कार्यक्रम के बारे मे कोई निर्णय नही ले पाई थी।

नई सूती वस्त्र नीति —जून १९५६ मे भारत सरकार ने अपनी नई सूती वस्त्र नीति की घोषणा की। इसमे दूसरी योजना के अन्त मे कपडे के कुल उत्पादन का लक्ष्य ८४० करोड़ गज रखा गया। १९५५ मे कपडे का उत्पादन ६८४·७ करोड गज था। इस प्रकार योजनाकाल मे १५५·३ करोड़ गज कपडे का अतिरिक्त उत्पादन करना होगा। इसमे से १०० करोड गज कपडा हाथ करघो मे (७० करोड गज कपडा मिलो मे काते गये सूत से और ३० करोड गज कपड़ा अम्बर चर्खों के सूत से), २० करोड गज कपडा हाथ करघा उद्योग मे लगाये जाने वाले शक्तिचालित करघो से, और शेष ३५·३ करोड गज कपड़ा मिलें निर्यात के लिये तैयार करेंगी।

मिलों में निर्यात के लिए कपडे के उत्पादन में इस वृद्धि के लिए उन्हें १४,६०० स्व-चालित करघों के लगाने की अनुमति दी गई है। हाथकरघा क्षेत्र मे १६५६-५७ व १६५७-५८ के दो वर्षों में बुनकर सहकारी समितियों द्वारा ३५,००० शक्ति-चालित करघे लगाने की बात कही गई थी।

उद्योग की मुख्य समस्यायें व उनके उपचार

सूती वस्त्र उद्योग, यद्यपि भारत का प्रधान राष्ट्रीय उद्योग है, और इसे देश में स्थापित हुए १०० से भी अधिक वर्ष हो गये हैं, तथापि इसे अभी भी कई एक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। उद्योग की मुख्य समस्यायें व उनके उपचार निम्नलिखित हैं —

(१) **मशीनरी के प्रतिस्थापन तथा अभिनवीकरण की आवश्यकता**—दूसरे विश्व युद्ध के दिनो में मिलो ने कपडे का तो खूब उत्पादन किया था, जिससे मशीनों की काफी घिसाई हुई थी, परन्तु नई मशीनो की आयात की कठिनाई के कारण मशीनो का सामान्य प्रतिस्थापन भी नहीं हो पाया था। तभी से उद्योग में पुरानी व घिसी हुई मशीनो के प्रतिस्थापन की समस्या बनी हुई है। इसके अतिरिक्त मिलो में लगी हुई अधिकांश मशीनें व करघे इत्यादि पुराने प्रकार के हैं, जबकि अन्य प्रतियोगी देशों जैसे जापान और यू० के० आदि में वहा के मिल उद्योगो ने नवीनतम प्रकार की स्व-चालित मशीनो को लगाया है जिनसे उनकी उत्पादक कार्यक्षमता और भी बढ गई है। भारत में भी इसी प्रकार के अभिनवीकरण की बहुत अधिक आवश्यकता है।

परन्तु इस मार्ग में दो कठिनाइयां हैं। एक तो पूंजी की कमी है। १६४६-५० में यह अनुमान लगाया था कि तत्कालीन प्रचलित मूल्यों पर केवल बंबई की मिलों में ही मशीनो के प्रतिस्थापन व अभिनवीकरण के लिए १०० करोड रुपये की आवश्यकता है जबकि उनके पास केवल ४५ करोड रुपये के कोष ही उपलब्ध थे। अब मशीनें और भी महंगी हो गई हैं। अत: अधिक बडी मात्रा में पूंजी चाहिए। मिलों ने युद्ध-काल में और उसके बाद भी मोटे लाभ कमाये हैं। परन्तु इन लाभो का अधिकांश भाग उनके लाभांशों के रूप में हिस्सेदारो में बांट दिया जाता रहा है। उसे मशीनों के प्रतिस्थापन, आदि में बहुत कम लगाया गया है। ऐसा करना ठीक नही रहा है। सूती वस्त्र मिल उद्योग देश का एक पुराना तथा सुस्थापित उद्योग है। अत: इसे अपने लिए अधिकांश दीर्घकालीन पूंजी अपने ही कोषों व लाभों से प्राप्त करनी चाहिए। इस दिशा में बाहरी स्रोत एक सीमा तक ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

अभिनवीकरण से सबन्धित दूसरी समस्या इससे होने वाली मजदूरों की बेरोजगारी है। यह स्पष्ट ही है कि मिलो में नई स्वचालित मशीनें लगाने से इन मिलों में पहले की अपेक्षा कम संख्या में मजदूरो की आवश्यकता होगी, जिससे बहुत से मजदूर बेकार हो जावेंगे। अत: मजदूर संघ इसका विरोध करते हैं। इनके लिए यह आवश्यक है कि अभिनवीकरण का एक क्रमिक कार्यक्रम बनाया जाय, और साथ ही,

ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे कि इस कार्यक्रम से जितने मजदूर बेकार हों, उ
कोई अन्य रोजगार मिल जाये।

हमे अपने देश में ही विभिन्न प्रकार की सूती वस्त्र उद्योग मे काम आने वा
मशीनें बनानी चाहियें। इस दिशा में अब प्रगति हो रही है।

(२) **विदेशी प्रतियोगिता**—भारत के सूती वस्त्र मिल-उद्योग को लाभदा
स्थिति मे बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि इसके द्वारा बनाया गया कपड़ा पर्या
मात्रा मे विदेशो को निर्यात किया जाय। दूसरे विश्व युद्धकाल मे और इसके पश्चात्
कुछ वर्षों में उद्योग को मध्य पूर्व व अफ्रीका के देशो व अन्य समीपवर्ती दे
के सुरक्षित बाजार मिल गये थे, और यहा से इन देशों को बडी मात्रा मे कप
निर्यात किया जाता था। १६५०-५१ मे लगभग ११७ करोड रुपये के मूल्य
१,२७ करोड गज कपड़ा निर्यात किया गया था। कपड़े के निर्यात का यह उच्च
शिखर था। इसके पश्चात से कपड़े का निर्यात बहुत कम रहा है। यह इसलिए, क्यो
एक तो जिन देशों को भारत से कपड़ा निर्यात किया जाता है, वहा अपने वस्त्र-उद्
का विकास हो रहा है। दूसरे, अन्य प्रतियोगी वस्त्र-उत्पादक देशों, विशेषतः जापान, च
की प्रतिस्पर्धा बढती जा रही है। इस प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए और अ
निर्यात-बाजारो को बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि भारतीय उद्योग अपनी का
क्षमता को बढाए, और अधिक अच्छा तथा सस्ता कपड़ा बनाए। इसके लिए धि
मशीनों का प्रतिस्थापन तथा अभिनवीकरण और श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृ
अत्यावश्यक है। साथ ही, विदेशो मे पर्याप्त विज्ञापन एवं प्रचार तथा विदेशी बाजा
का अध्ययन भी आवश्यक है। सरकार द्वारा १६५४ मे स्थापित 'सूती वस्त्र निर्य
प्रोत्साहन परिषद' इस दिशा मे अच्छा कार्य कर रही है। भारत सरकार को अप
निर्यात-शुल्क नीति भी ऐसी रखनी चाहिए जिससे भारतीय कपड़े की निर्यातो व
प्रतियोगी शक्ति को बड़ा धक्का न लगे।

(३) **कच्चा माल**—देश के विभाजन के पश्चात से भारत मे कपास की कम
हो गई है। अपनी मिलों को पूरा वर्ष चालू रखने के लिए हमें मंहगे भाव पर विदे
से कपास को आयात करनी पड़ती है। इससे कपड़े की उत्पादन लागत भी ऊंच
पड़ती है। इसके लिए आवश्यक है कि देश मे कपास का, विशेषतः लम्बे रेशे वाल
कपास का, उत्पादन बढ़ाया जाय। पिछले कुछ वर्षों से सरकार इस ओर प्रयत्नशी
है, और उसे सफलता भी मिली है। परन्तु हम अभी तक भी इस दिशा मे आत्म
निर्भर नही हुए हैं।

(४) **हाथ-करघा उद्योग एवं मिल उद्योग मे सामंजस्य**—कपडे की बुनाई
क्षेत्र मे हाथ-करघों और मिलों मे पुरानी प्रतिस्पर्धा चली आ रही है। मुख्यतः रोज
गार की मात्रा के दृष्टिकोण से, सरकार हाथ-करघों के विकास और उन्नति क
प्रोत्साहित कर रही है। इसके लिये उसने कुछ विशिष्ट प्रकार के कपड़ों का उत्पाद

हाथ-करघों के लिए सुरक्षित कर दिया है। साथ ही, मिलों में बनाये गये कपडे पर १ पैसे प्रति गज की दर पर विशिष्ट उप-कर (Cess) लगाया है, जिससे प्राप्त धन-राशि को हाथ-करघो के विकास पर व्यय किया जाता है। दूसरी योजना मे कपडे का जो अतिरिक्त उत्पादन किया जायेगा, उसका अधिकाश भाग हाथ-करघो से बुना जाने के लिए सुरक्षित कर दिया गया है। इन सब पदो से मिल-उद्योग को हानि होती है, और उसके प्रसार पर रोक लगती है। परन्तु सरकार की यह नीति निश्चित है। अत मिल उद्योग को इसे स्वीकार कर, अपना क्रियाकरण करना चाहिए। उचित साझे उत्पादन कार्यक्रम से हाथ-करघो और मिलो की प्रतियोगिता को कम किया जा सकता है। सूत की कताई के क्षेत्र मे तो हाथ-करघे कताई मिलो पर निर्भर हैं ही। वहा ये मिल-उद्योग के पूरक है प्रतियोगी नही। हा, अब अम्बर चर्खे इस क्षेत्र मे कताई मिलो के अवश्य नये प्रतियोगी हैं। परन्तु देश मे तथा बाहर सूत की माँग को देखते हुए, कताई मिलो को इससे भय नही मानना चाहिए।

(५) सरकार की कर नीति—मिल उद्योग को सरकार से एक स्थाई शिकायत यह रहती है कि वह इस पर बहुत ऊचे उत्पादन-शुल्क लगाती है। इस से लाभ की मात्रा बहुत कम हो जाती है, और उद्योग के पास मशीनो के प्रतिस्थापन आदि के लिए पर्याप्त धन-राशि नही बच पाती है। अत: सरकार को अपनी कर-नीति उद्योग के हितो को ध्यान मे रख कर बनानी चाहिये। परन्तु यहा हमे ध्यान रखना है कि आज जब हम यह चाहते है कि देश के आर्थिक विकास मे सरकार सक्रिय तथा बढता हुआ योग दे, तो हमे करो के लिये भी तैयार रहना चाहिये।

(६) अनुसधान—सूती वस्त्र जैसे संगठित तथा अत्यधिक प्रतियोगी मिल उद्योग मे निरन्तर औद्योगिक उन्नति तथा सुधार की बडी आवश्यकता है। भारत अभी इस दिशा मे बहुत पिछडा हुआ है। अत: इस उद्योग से सम्बन्धित अनुसन्धान की उचित व्यवस्था की जानी चाहिये।

पटसन उद्योग
(Jute Industry)

भारत के बुनाई (Textile) उद्योगो मे पटसन के उद्योग का सूती कपड़े के उद्योग के बाद दूसरा स्थान है।

सूती कपडे का उद्योग जहा मुख्यत: कपडे की घरेलू माग को पूरा करता है (यद्यपि दूसरे विश्व युद्ध के आरम्भ से भारतीय कपड़े की निर्यात भी बहुत बढ गई है), वहा जूट-उद्योग मुख्यतः निर्यात-व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन दोनों उद्योगों मे और भी अन्तर हैं। सूती कपडे का उद्योग मुख्यतः भारतीय पूंजी व उपक्रम से स्थापित व विकसित हुआ है, जूट-उद्योग विदेशी, मुख्यत: स्कॉटलैण्ड की, पूंजी और साहस से स्थापित तथा विकसित हुआ है। सूती वस्त्र उद्योग अब भी भारतीयो के

समय पर पाकिस्तान से समझौते कर कच्ची जूट मंगवाने की व्यवस्था की गई। परन्तु, पाकिस्तान इन समझौतों का ठीक प्रकार से पालन नहीं करता रहा है, और भारत के जूट-उद्योग की कच्चे माल सम्बन्धी समस्या दूर नहीं हुई है। इसी बीच मे सरकार देश मे कच्ची जूट के उत्पादन को बढाने के लिए भरसक प्रयत्न करती रही है, और कर रही है। इन्ही प्रयत्नो के फलस्वरूप १९५०-५१ मे देश मे कच्ची जूट का उत्पादन ३३ लाख गाँठें हो गया था, जबकि १९४८-४९ मे यह उत्पादन केवल १७ लाख गाँठें ही था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना मे कच्ची जूट के उत्पादन को बढाकर १९५५-५६ मे ५४ लाख गाँठें कर देने का लक्ष्य रखा गया था। परन्तु यह लक्ष्य प्राप्त नही हो पाया। १९५५-५६ मे केवल लगभग ४२ लाख गाँठें कच्ची जूट ही उत्पन्न हो पाई। १९५१-५२ व १९५२-५३ मे अवश्य जूट का उत्पादन इससे अधिक (क्रमशः ४७ लाख व ४६ लाख गाँठें) था परन्तु अगले दो वर्षों मे तो यह गिरकर बहुत कम (क्रमशः ३१ लाख व २९ लाख गाँठें) रह गया था।

योजना मे उद्योग की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने की कोई व्यवस्था नही की गई थी, क्योंकि इस उद्योग की वास्तविक समस्या उत्पादन-क्षमता को बढाना नही, वरन् कच्ची जूट के उत्पादन को बढाकर उद्योग के उत्पादन को पूर्ण क्षमता तक लाना है। उद्योग की यह क्षमता १२ लाख टन जूट का सामान उत्पन्न करने की है। अतः प्रथम योजना मे यह लक्ष्य रखा गया था कि १९५५-५६ तक १२ लाख टन जूट का सामान उत्पन्न किया जाय, जिसमे से १० लाख टन सामान निर्यात कर दिया जाय। परन्तु मुख्यतः कच्ची पटसन की कमी के कारण ये लक्ष्य पूरे नही हो पाये। १९५० से १९५७ के बीच देश मे जूट के सामान का उत्पादन इस प्रकार रहा*:—

वर्ष	उत्पादन (लाख टनों मे)
१९५०	८·३५
१९५१	८·७५
१९५२	९·५२
१९५३	८·९९
१९५४	९·२८
१९५५	१०·२८
१९५६	१०·९३
१९५७	१०·२०

*ये आकड़े 'भारतीय जूट मिल संघ' की सदस्य मिलों तथा एक गैर सदस्य मिल के उत्पादन के हैं।

स्रोत : उद्योग-व्यापार पत्रिका, अगस्त १९५८ पृष्ठ १२९७।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत असम में १.५ करोड़ रुपये की लागत पर एक नई जूट मिल स्थापित की जायेगी। इसे छोड़ कर जूट उद्योग की क्षमता को बढ़ाने के लिए इस योजना में भी कोई व्यवस्था नहीं की गई है। यह इसलिए क्योंकि यह अनुमान लगाया गया है कि १९६०-६१ में कुल ११ लाख टन जूट के माल की मांग होगी, जब कि उद्योग अभी ही १२ लाख टन माल उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। दूसरी योजना बनाने समय १९५५-५६ में जूट वस्तुओं का अनुमानित उत्पादन १०.४ लाख टन था। १९६०-६१ में इसे बढ़ाकर केवल ११ लाख टन किया जायेगा। कच्ची पटसन के उत्पादन को (१९५५-५६ में ४२ लाख गाठें) बढ़ाकर पहले ५० लाख गाठें करने का लक्ष्य रखा गया था। हाल ही में इसे सशोधित करके ५६ लाख गांठें कर दिया गया है। इससे देश कच्ची जूट की पूर्ति में आत्म-निर्भर तो नहीं होगा, क्योंकि देश में प्रति वर्ष ७३.५ लाख जूट की गाठों की माग का अनुमान है—७२ लाख गाँठें कारखानों में यदि सभी कारखाने अपनी क्षमता का पूर्ण प्रयोग करें, और १.५ लाख गाठें कारखानों से बाहर के प्रयोगों में। शेष माग और घरेलू उत्पादन के अन्तर को आयातों से पूरा किया जायेगा। १९५४ में स्थापित जूट जांच आयोग की इस सिफारिश को मान लिया गया है कि हमें कच्ची जूट में निरपेक्ष नहीं वरन् सापेक्षिक आत्म-निर्भरता का उद्देश्य अपने सामने रखना चाहिए। हम जूट के जो ग्रेड अपने यहां पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं करते, उन्हें पाकिस्तान से आयात करना चाहिए और शेष अपने देश में ही उगाने चाहिए। दूसरी योजना में जूट की गहरी खेती और अच्छी किस्म की जूट के उत्पादन पर अधिक जोर दिया जायेगा।

वर्तमान स्थिति

इस समय (१९५८ के आरम्भ में) भारत में ११२ जूट मिलें हैं। इन जूट मिलों का प्रबन्ध ८२ जूट मिल कम्पनियां करती हैं। इनमें कुल लगभग ७२ हजार करघे लगे हुए हैं, जो विश्व भर के करघों की कुल संख्या का लगभग ५३% भाग बनाते हैं। प्रति सप्ताह ४८ घन्टे की एक पाली चला कर इनसे प्रतिवर्ष लगभग १२ लाख टन जूट का माल उत्पन्न किया जा सकता है। परन्तु वास्तविक उत्पादन इससे कम होता है। उदाहरणार्थ, १९५७ में 'भारतीय जूट मिल संघ' की सदस्य मिलों तथा एक और गैर सदस्य मिल का उत्पादन केवल लगभग १०.३ लाख टन ही था। एक वर्ष में तैयार किए जाने वाले जूट के कुल माल का मूल्य लगभग १३० करोड़ रुपये होता है।

पिछले एक या दो वर्षों में तरह-तरह का माल बनाने पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। रूई भरने के लिए बोरे (झीनी बुनाई का टाट जो अमरीका में रूई पैक करने के काम आता है), चौड़े अर्ज का टाट (जो अमरीका में कालीनों के नीचे लगाया जाता है), जूट का तिरपाल, कागजी अस्तर वाला टाट, जूट की दरियाँ, जूट की जालियाँ आदि कुछ विशेष प्रकार की वस्तुएं अब देश में बनाई जा रही हैं। टाट

ग्रौर बोरों की साधारण किस्मों की अपेक्षा इनका अधिक अच्छा मूल्य मिलता है, ग्रौर उद्योग के हित में तथा निर्यात बढ़ाने के लिए इस दिशा में ग्रौर भी सुधार करने की आवश्यकता है।

१६५० में १०७ मिलों में लगभग ३० करोड़ रुपये की स्थिर (Fixed) पूंजी ग्रौर ३-४ करोड़ रुपये की कार्यशील (Working) पूंजी लगी हुई थी। इसी वर्ष इसमें लगभग ३ लाख मजदूर काम पर लगे हुए थे।

यह उद्योग स्थानीयकरण (Localisation) का चरम उदाहरण है। ११२ मिलों में से १०१ मिलें पश्चिमी बंगाल में, कलकत्ता में व इसके ग्रास-पास स्थित हैं। यह मुख्यतः कच्चा माल (जूट) निकट होने के कारण है। शेष मिलों में से ४ आंध्र में, ३ बिहार में, ३ उत्तर प्रदेश में ग्रौर १ मध्य प्रदेश में है। १ नई मिल ग्रसम में लगाई जा रही है।

जूट-उद्योग भारत का प्रमुख निर्यात-व्यापार है। इसकी वार्षिक उत्पत्ति का लगभग ८५ से ६०% के बीच भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। इससे बड़ी मात्रा में विदेशी विनिमय (कुल निर्यात—ग्राय का लगभग २० से २५ प्रतिशत के बीच भाग) प्राप्त होता है। १६५५-५६ में ६६१ करोड़ रुपये के मूल्य के कुल निर्यातों में से लगभग १२० करोड़ रुपए के मूल्य के निर्यात जूट के सामान के थे। हमारे जूट के सामान का सबसे बड़ा ग्राहक संयुक्त राज्य अमरीका (U. S. A.) है। अतः डालर कमाने वाली निर्यात-वस्तु के रूप में जूट के माल का बहुत महत्व है।

परन्तु कई कारणों, जैसे कच्ची जूट की कमी के कारण उत्पादन में कमी, जूट मिलों की प्राविधिक कार्य-कुशलता अपेक्षाकृत नीची होने के कारण ऊंची उत्पादन लागत, ग्रौर परिणामतः हमारी जूट-वस्तुग्रों के ऊंचे मूल्य जूट-वस्तुग्रों के विदेशी निर्माताग्रों, विशेषतः पाकिस्तान की बढ़ती हुई प्रतियोगिता, विदेशों में जूट के बोरों के स्थान पर मोटे कागज व कपड़े के थैलों, ग्रादि सस्ती स्थानापन्न वस्तुग्रों का बढ़ता हुआ प्रयोग, केन्द्रीय सरकार द्वारा जूट-वस्तुग्रों की निर्यात पर लगाया जाने वाला ऊंचा निर्यात शुल्क, ग्रादि कारणों से भारत का जूट-वस्तुग्रों का निर्यात कम हो रहा है, तथा भविष्य में इसके ग्रौर कम होने का भय है। इधर ३१ जुलाई १६५५ को पाकिस्तान द्वारा भी अपने मूल्य का ग्रव-मूल्यन (Devaluation) कर देने से उसकी कच्ची जूट व जूट का सामान विदेशों में बहुत सस्ता हो गया है। भारत की जूट-वस्तुग्रों को विदेशी बाजारों में प्रतियोगी ग्रवस्था बनाए रखने के लिए, सरकार को बाध्य होकर, तुरन्त ही (पाकिस्तानी रुपए के ग्रवमूल्यन होते ही) जूट-वस्तुग्रों की निर्यातों पर लगाये गये शुल्क को पूर्णतया हटा लेना पड़ा। इससे हमारी निर्यात बढ़ी। जून १६५० में ग्रारम्भ हुए कोरियन युद्ध की अवधि में एक समय तो ये निर्यात-शुल्क बहुत ऊंचे थे—हैसियन (Hessian) पर १,५०० रु० प्रति टन, ग्रौर बोरों पर ३५० रु० प्रति टन। १६५५-५६ में लगभग १२० करोड़ रु० के मूल्य का ८७१ लाख टन जूट का सामान

विदेशो को निर्यात किया गया था। इस वर्ष मे देश मे जूट के सामान का कुल उत्पादन लगभग १० ६५ लाख टन था।

उद्योग की समस्याएं

जैसा कि योजना आयोग ने भी बताया है, भारतीय जूट उद्योग की इस समय *निम्नलिखित तीन प्रमुख समस्याये हैं**—

(i) **कच्चे माल की कमी**—जैसा कि हम ऊपर बता आए है, १६४७ मे देश का विभाजन होने से यहा की जूट मिलें कच्ची जूट के लिए पाकिस्तानी आयातो पर निर्भर हो गई हैं। इस निर्भरता को कम करने के लिए देश मे कच्ची जूट के उत्पादन को बढाने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं। प्रथम पच वर्षीय योजना मे इस दिशा मे जहा तक सफलता मिली है, और दूसरी योजना मे जो लक्ष्य व कार्यक्रम रखे गए हैं, उनके बारे मे हम ऊपर यथास्थान पहले ही बता आए हैं।

(ii) उपकरण का आधुनिकीकरण (Modernisation of Equipment) कर, उत्पादन-लागत मे कमी करने की आवश्यकता, भारत की जूट मिलो मे लगी मशीनें आदि उपकरण बहुत पुराने तथा दिनातीत (out of date) हो गए हैं। इस कारण से इनकी प्राविधिक कार्य कुशलता (Technical efficiency) बहुत कम है, और उत्पादन लागत ऊंची है। विदेशो मे आधुनिक स्वयं चालित मशीनो को लगाकर नीची लागत पर जूट का माल तैयार किया जाने लगा है। पाकिस्तान मे ही अब कई एक बडी और आधुनिक जूट मिले स्थापित की गई है। इन कारणो से विदेशी बाजारो मे *भारतीय जूट-वस्तुओं की प्रतियोगी दशा बहुत खराब हो गई है और भारत तेजी से* विदेशी प्रतियोगियो के हाथो अपने निर्यात-बाजार खो रहा है। ऐसी दशा मे जूट-उद्योग की प्रतियोगी दशा को सुधारने के लिए मिलो मे शीघ्रातिशीघ्र मशीनो व औजारो का अभिनवीकरण कर उत्पादन-लागत को गिराना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इस दिशा मे सबसे बडी कठिनाई पूंजी की कमी है। अनुमान है कि उद्योग के अभिनवीकरण के लिए लगभग ५० करोड रुपये की पूंजी चाहिए। उद्योग अभी इतनी बडी पूंजी का विनियोग करने मे समर्थ नही है। अत. इसकी इस दिशा मे सहायता आवश्यक है।

'राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम' (National Industrial Development Corporation) द्वारा जूट मिलो के आधुनिकीकरण के लिए ऋण मजूर किए जा रहे है। मार्च १६५८ तक ६ मिल कम्पनियो के लिए ऋण मजूर किए जा चुके थे, जिनमे से २ को लगभग ५१ लाख रुपये प्राप्त भी हो चुके थे। अन्य अनेक आवेदन-पत्र विचाराधीन थे। ३० सितम्बर १६५७ तक ८२ जूट मिल कम्पनियो मे से ४४ ने आधुनिक पूनी कताई मिलें लगा ली थी, कुछ ने पूर्ण रूपेण आधुनिकीकरण कर लिया है और कुछ ने अंशत: (४०% से कुछ अधिक पुराने तकुओ के स्थान पर आधुनिक पूनी कताई के फ्रेम लगाए जा चुके हैं अथवा लगाए जा रहे हैं।

* इसका अगले अध्याय मे यथास्थान अध्ययन किया जायेगा।

(iii) **विदेशी प्रतियोगिता**—हम ऊपर बता आये हैं कि भारत का जूट उद्योग मुख्यतः निर्यात-व्यापार पर निर्भर है। विभाजन से पूर्व तो भारत का जूट व जूट-वस्तुओ मे एकाधिकार था। परन्तु अब ऐसी बात नही रही है। विदेशों में भारतीय जूट-वस्तुओ की मांग कम होती जा रही है। इसके दो मुख्य कारण है। एक तो यह कि पाकिस्तान तथा अन्य देशो की आधुनिक मिलो की प्रतियोगिता बढती जा रही है। इसके बारे मे हम अभी ऊपर बता आये हैं। दूसरे काफी पहले से ही संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य देशो मे जूट के माल के स्थान पर काम मे लाई जा सकने वाली सस्ती वस्तुओं, जैसे मोटे कागज या सूती कपड़े के थैलों आदि के प्रयोग किये जा रहे हैं। अभी इन वस्तुओ ने जूट के बोरों आदि का बहुत अधिक स्थान तो नहीं ले लिया है, क्योंकि जूट के बोरे अधिक सस्ते, मजबूत और टिकाऊ होते हैं, तथा एक से अधिक बार प्रयोग में लाये जा सकते हैं। परन्तु भविष्य में विदेशो में जूट की वस्तुओं का सस्ती स्थानापन्न वस्तुओ (Cheap Substitutes) द्वारा स्थान ले लिए जाने का भय अवश्य है। ऊपर लिखी इन दोनों बातों का प्रभाव पूर्ण इलाज यह है कि उद्योग का अभिनवीकरण कर उत्पादन-लागत को कम किया जाए। इसके अतिरिक्त, विदेशी बाजारो में माग की दशाओं का अध्ययन करना और वहां अपने उत्पादों का प्रचार करना भी आवश्यक है।

१९५४ की जूट जांच आयोग ने उद्योग की कार्यकुशलता और प्रतियोगी शक्ति को बढाने के लिए इस बात की सिफारिश की थी कि जूट मिलों के बीच 'काम के समय सम्बन्धी समझौता' (Working time Agreement) समाप्त कर दिया जाय। इस समझौते के अधीन मिलों के प्रति सप्ताह काम ३ घन्टे कम किये हुए हैं, और मशीनो का एक भाग सील-बन्द कर दिया गया है। इसमे अकार्यकुशल मिलों को संरक्षण मिला है, और अधिक कार्यकुशल मिलो ने उत्पादन-लागत को कम करने के प्रयत्न नहीं किये हैं। समझौते की समाप्ति से ये दोष दूर हो जायेंगे।

चीनी उद्योग
(Sugar Industry)

महत्व—संयुक्तराज्य अमरीका (U. S. A.) के पश्चात् भारत संसार मे चीनी का सबसे बडा उत्पादक है। भारत के बडे संगठित उद्योगों मे भी सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात चीनी उद्योग का दूसरा स्थान है। इसमे लगभग ७२ करोड रु० की पूंजी लगी हुई है, जिसमे से ३० करोड रुपए की अचल (Fixed) पूंजी है, और ४२ करोड रुपए की कार्यशील (Working) पूंजी है। १९५४-५५ मे इस उद्योग के उत्पादन का कुल मूल्य लगभग १२० करोड रुपए था। इस उद्योग के विकास ने चीनी की आयात को सामान्यतः अनावश्यक बना दिया है, जिससे प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा मे विदेशी विनिमय की बचत होती है। (१९३०-३१ मे पहले ही प्रतिवर्ष औसतन लगभग १५ करोड रुपए की चीनी विदेशों से आयात की जाती थी। आज के भावो पर व उपभोग की मात्रा पर तो यह रकम इससे पांच-छ गुना होती।) चीनी पर लगे उत्पादन शुल्क तथा गन्ना-शुल्क (Cane Cess) से सरकार को बड़ी मात्रा में

आय प्राप्त होती है। चीनी मिलो मे लगभग १'४ लाख कुशल व अकुशल श्रमिक तथा विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त २,५०० व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं।

देश की कृषि अर्थ-व्यवस्था पर इसका बहुत प्रभाव है, क्योंकि इससे गन्ना उगाने वाले खेतिहरों को गन्ने के मूल्य के रूप मे बड़ी अच्छी आय प्राप्त होती है। पश्चिमी उत्तरप्रदेश के किसानो की समृद्धि का यही मुख्य कारण है। वैसे भी उत्तर प्रदेश व बिहार की अर्थ-व्यवस्था इस उद्योग के विकास व समृद्धि से बहुत अधिक बधी हुई है, क्योंकि देश के कुल चीनी-उत्पादन का लगभग ७०% भाग इन दो राज्यों मे उत्पन्न किया जाता है।

चीनी उद्योग के महत्व का एक और कारण यह है कि यह अन्य उद्योगों, जैसे कागज, गत्ता, सोख्ता, शक्ति अलकोहल आदि के उद्योगों को खोई (Bagasses) और शीरा (Molasses) आदि कच्चा माल देता है।

संक्षिप्त इतिहास

भारत मे आधुनिक ढग की चीनी की मिलें सर्वप्रथम सन् १९०३ के आस-पास खोली गई थी। पहले विश्व युद्ध (१९१४-१८) ने उद्योग के विकास को प्रोत्साहित किया, क्योंकि इस काल मे चीनी की आयात कम हो गई थी, और चीनी पर ऊचे आयात शुल्क लगे हुए थे। परन्तु उद्योग द्वारा की गई उन्नति सराहनीय नही थी। उद्योग की वास्तविक उन्नति और द्रुत विकास का काल १९३१ ३२ से प्रारम्भ होता है, जबकि सर्वप्रथम इसे १५ वर्ष के लिए सरक्षण प्राप्त हुआ। यह सरक्षण १९४७ मे समाप्त हो जाना था। १९४७ मे सरक्षण की अवधि को २ वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया। १९४९ मे भी संरक्षण समाप्त न कर एक और वर्ष के लिये बढा दिया गया। अन्ततः अप्रैल, १९५० मे संरक्षण को हटा लिया गया, (और संरक्षण शुल्क को उसी दर पर आय-शुल्क (Revenue Duty) मे बदल दिया गया।) इस प्रकार चीनी-उद्योग को कुल १८ वर्ष तक के लिए संरक्षण प्राप्त रहा।

सरक्षण की इस अवधि मे चीनी-उद्योग ने बहुत तेजी से उन्नति की। सरक्षण प्राप्ति के कारण जितना द्रुत विकास देश मे इस उद्योग ने किया, उतना द्रुत विकास अन्य किसी भी संरक्षित उद्योग ने नही किया। इस दृष्टि से इसका विकास अद्वितीय है। इसीलिए भारत मे इस उद्योग को 'सरक्षण की सन्तान' ('Child of Protection') कहते हैं।

१९३१-३२ मे सरक्षण-प्राप्ति से पूर्व, देश मे प्रतिवर्ष औसतन लगभग १५ करोड रुपए के मूल्य की १० लाख टन चीनी विदेशों से आ... की जाती थी। परन्तु सरक्षण प्राप्त होते ही देश मे चीनी की मिलो की संख्या और चीनी का उत्पादन तेजी से बढने लगे, और चीनी की आयात कम होने लगी। उदाहरणार्थ १९३१-३२ मे देश मे चीनी की केवल ३१ मिलें थी, इनका कुल उत्पादन १.५८,००० टन था, और चीनी की आयात ५,३६,००० टन थी। संरक्षण-प्राप्ति के चार वर्षो के भीतर ही. १९३५-३६ में, मिलो की संख्या बढकर १३५ हो गई, चीनी का उत्पादन बढकर

६,१६,००० टन हो गया, और आयात गिरकर १,४२,००० टन रह गई। अगले वर्ष आयात और भी कम हो गई, और केवल २४,००० टन रह गई।

आयात में इस कमी के कारण सरकार की आयात-शुल्क से प्राप्त होने वाली आय भी कम हो गई। आय की इस कमी को पूरा करने के लिए अप्रैल, १९३४ से ही सरकार ने देश मे चीनी के उत्पादन पर उत्पादन-शुल्क (Excise Duty) लगाया और इस शुल्क की रकम के बराबर ही चीनी की आयात पर लगे संरक्षण शुल्क मे वृद्धि कर दी, जिससे कि उद्योग को दिए गए संरक्षण की वास्तविक मात्रा कम न हो, इसी बीच केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को गन्ने का न्यूनतम भाव निश्चित करने का भी अधिकार दे दिया, जिससे कि संरक्षण के सम्पूर्ण लाभ को केवल मिल-मालिक ही न हड़प जाएं, वरन् गन्ना उत्पन्न करने वाले किसानों को भी इस लाभ मे हिस्सा मिले।

१९३६-३७ मे चीनी के उत्पादन के ११.१ लाख टन हो जाने से देश मे अति-उत्पादन की दशा उत्पन्न हो गई। मिलो के पास चीनी के स्टाक बढ गये, और उन्हें बेचने की समस्या गहन हो गई। ऐसी दशा मे एक चीनी सिंडीकेट (Sugar Syndicate) स्थापित किया गया, जिसका मुख्य कार्य सदस्य मिलो द्वारा चीनी की बिक्री को नियमित करना था, जिससे कि चीनी का मूल्य आर्थिक स्तर से नीचे न गिर जाय। सिंडीकेट मूल्यों को गिरने से रोक पाया। अगले दो वर्षों मे उत्पादन को बहुत कम कर दिया गया। १९३८-३९ मे यह केवल ६.५१ लाख टन ही था। फलस्वरूप उस वर्ष बड़ी मात्रा में (३.३१ लाख टन) चीनी की आयात करनी पड़ी।

द्वितीय विश्व युद्ध और उसके पश्चात – अगले वर्ष (१९३९-४०) ही चीनी का उत्पादन लगभग दुगना (१२ लाख टन) हो गया। इसके पश्चात बाजार में फिर मन्दी आई और १९४१-४२ में चीनी का उत्पादन गिर कर केवल ७.५१ लाख टन रह गया। १९४२-४३ और १९४३-४४ के दो वर्षों उत्पादन में फिर वृद्धि हुई, परन्तु आगामी तीन वर्षों में उत्पादन निरन्तर कम होता गया।

१९४१–४२ मे चीनी का उत्पादन कम होने से देश मे चीनी की बहुत कमी हो गई। अतः १९४२ मे 'चीनी नियन्त्रण आदेश' के द्वारा केन्द्रीय सरकार ने चीनी के थोक और फुटकर मूल्य निश्चित कर दिए, नगरों में चीनी का राशन कर दिया, और चीनी के उत्पादन तथा गति पर नियन्त्रण कर लिया। यह नियन्त्रण दिसम्बर १९४७ तक चलता रहा। दिसम्बर १९४७ मे नियन्त्रण हटा लेने से अगले वर्ष मे चीनी का उत्पादन तो बढा, परन्तु चीनी के मूल्य कम न हो पाए, वरन् बहुत ऊंचे हो गए। १९४९ में चीनी का उत्पादन भी कम हुआ। अतः परिस्थितियों से बाध्य होकर सितम्बर १९४९ मे सरकार को चीनी के उत्पादन, मूल्य और वितरण पर नियन्त्रण करना पड़ा। चीनी सिंडीकेट की कार्यवाही से असन्तुष्ट होकर १९५० में सरकार ने इसे तोड़ दिया। १९५०–५१ में उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने फिर

आंशिक रूप से कन्ट्रोल हटा लेने की घोषणा की। साथ ही, गुड और खण्डसारी के भी मूल्य निश्चित कर दिये गए, जिससे कि उनकी स्पर्धा से चीनी के उत्पादकों को हानि न हो। इसके अतिरिक्त मिलों को यह अधिकार दिया गया कि वे १९४८-४९ या १९४९-५० के उत्पादन के १०७ प्रतिशत से अधिक उत्पन्न की गई चीनी को बाज़ार में मुक्त रूप से बेच सकती है। चीनी के नियन्त्रित मूल्य में भी कुछ वृद्धि की गई; तथा विभिन्न क्षेत्रों के लिये चीनी के विभिन्न मूल्य निश्चित किए। इस सब से देश में चीनी का उत्पादन बढा। १९५२ के अन्त में चीनी पर से पूर्ण रूप से कन्ट्रोल हटा लिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना*—१९५०-५१ में चीनी-उद्योग की निर्धारित क्षमता १५.४ लाख टन थी, और उत्पादन ११·१६ लाख टन था। योजना आयोग का अनुमान यह था कि १९५५-५६ तक देश में चीनी की मांग १५ लाख टन प्रतिवर्ष होगी। अत. योजना मे नई चीनी मिलें स्थापित कर उद्योग की निर्धारित क्षमता को बढाने की व्यवस्था नही की गई थी। केवल बेकार पडी क्षमता को प्रयोग मे लाने, और अनार्थिक इकाइयों का विस्तार करने और काम के दिनों की औसत संख्या १०० से बढाकर १२० कर देने की सिफारिश की गई थी। परंतु १९५२ के अन्त मे चीनी पर कंट्रोल हटा लेने से, चीनी का उपभोग तेजी से बढने लगा, और शीघ्र ही १५ लाख टन से अधिक हो गया। माग और उत्पादन मे बडे अन्तर को पूरा करने के लिए १९५३-५४ और १९५४-५५ मे बडी मात्रा मे (क्रमश ७·१६ लाख टन, और ५·७ लाख टन) चीनी विदेशों से आयात करनी पडी। ऐसी दशा मे चीनी मे आत्मनिर्भर होने के लिए योजना की पूर्व निश्चित नीति को १९५४ में बदलना पडा। तब यह निर्णय किया गया कि उद्योग की क्षमता को बढाकर कम से कम २० लाख टन कर दिया जाय, जिससे कि प्रतिवर्ष लगभग १८ लाख टन चीनी का उत्पादन मिल सके। तदनुसार, ४३ नई मिलो की स्थापना तथा ४२ पुरानी मिलो के पर्याप्त विस्तार के लिए लाइसैंस दिये गए। मार्च १९५६ के अन्त तक ७.२५ लाख टन चीनी के अतिरिक्त उत्पादन की क्षमता को स्थापना की अनुमति दी गई थी। इनमे से १९५५-५६ मे ८५ हजार टन की क्षमता उत्पादन करने लगी थी। शेष (६.४ लाख टन) द्वितीय योजना के वर्षों मे उत्पादन करने लगेगी। चीनी उद्योग के स्थापन (Location) को सुधारने के लिए ४३ नई मिलो मे से ३४ नई मिले भारत के प्रायद्वीप (१७ बम्बई, ७ मद्रास, ४ आंध्र, ४ मैसूर और २ हैदराबाद) मे स्थापित की जायेगी। एक और विशेष बात यह है कि इन ४३ नई मिलो मे से २२ मिले गन्ना उत्पादकों की सहकारी चीनी मिले होंगी, जिनमे से १४ अकेले बम्बई राज्य मे होंगी। इसके अतिरिक्त अनार्थिक आकार की तीन मिलो ने अपनी क्षमता का विस्तार किया, और ऐसी ६ मिलो को क्षमता के विस्तार के लिए लाइसैंस दिये गये।

*Planning Commission Programmes of Industrial Development. 1956—61 p. 398—404.

१९५०-५१ में और योजना के ५ वर्षों में चालू मिलों की संख्या और उनका चीनी का उत्पादन नीचे की तालिका में दिया गया है* :—

वर्ष (नवम्बर-अक्तूबर)	चालू मिलों की संख्या	मिलों के काम करने के दिनों की औसत संख्या	उत्पादन (लाख टनों में)
१९५०-५१	१३९	१०१	११·२
१९५१-५२	१४०	१२३	१५·०
१९५२-५३	१३५	११३	१३·०
१९५३-५४	१३५	८६	१०·०
१९५४-५५	१३७	१२९	१५·९
१९५५-५६	१४३	१३३	१८·२

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि देश में चीनी का उत्पादन प्रति वर्ष घटता बढ़ता रहा है। इसके कई कारण रहे हैं जैसे वर्ष में चालू मिलों की संख्या, उनके काम के दिनों की औसत संख्या, गन्ने की पूर्ति और गन्ने से निकलने वाले रस की प्रतिशत इत्यादि।

उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत मार्च १९५४ में चीनी उद्योग के लिए एक 'विकास परिषद' (Development Council) की स्थापना की गई थी।

वर्तमान स्थिति

अप्रैल १९५६ में देश में चीनी के कुल १६० कारखाने थे। इनकी कुल उत्पादन-क्षमता १७·४ लाख टन चीनी प्रति वर्ष थी। इन १६० कारखानों में से ७२ अकेले उत्तर प्रदेश राज्य में, ३० बिहार में, १६ बम्बई राज्य में, १० आंध्र में, ९ मद्रास में और शेष देश के अन्य भागों में थे।

१९५५-५६ में कुल १६० कारखानों में से १७ कारखाने बन्द रहे, और १४३ कारखानों ने चीनी बनाई। इन चालू कारखानों की निर्धारित क्षमता १६·८ लाख टन चीनी थी वास्तव में इनका (अनुमानित) उत्पादन १८ २ लाख टन था। १९५५-५६ में चीनी का अनुमानित उपभोग १९ लाख टन था। १९५५-५६ में चीनी का उत्पादन और उपभोग दोनों ही पहले के किसी भी वर्ष के उत्पादन या उपभोग से अधिक थे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—अप्रैल १९५६ में चीनी उद्योग की चीनी उत्पन्न करने की क्षमता १७·४ लाख टन थी, और १९५५-५६ में चीनी का अनुमानित उत्पादन १८ २ लाख टन था। दूसरी योजना में यह लक्ष्य रखा गया है कि १९६०-६१ तक उत्पादन-क्षमता को बढ़ाकर २५ लाख टन, और वास्तविक उत्पादन को बढ़ा कर २२·५ लाख टन कर दिया जाय। उत्पादन-क्षमता के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ७·६ लाख टन (२५ लाख टन — १७·४ लाख टन) की अतिरिक्त उत्पादन-

*Source: Planning Commission Programmes of Industrial Development, 1956-61.

क्षमता और लगानी पड़ेगी। इसमें से ६४ लाख टन की क्षमता के लिये पहले ही (प्रथम योजना काल में) लाइसैंस दिये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त, योजना आयोग ने ३५ सहकारी चीनी मिलों की स्थापना को सिद्धान्तत मान लिया है। इन में से दो के लिये पहले ही लाइसैंस दिए जा चुके है। शेष ३३ मिले अनुमानतः ३.३ लाख टन की क्षमता रखेंगी। इनको भी स्थापना से उद्योग की कुल क्षमता २५ लाख टन के स्थान पर २७.१ (१७.४+६.४+३.३—२.०) लाख टन हो जायेगी।

अनुमान है कि ९.६ लाख टन की ही अतिरिक्त उत्पादन क्षमता की स्थापना के लिये ५० करोड़ रुपये की पूंजी का विनियोग चाहिये। इस अतिरिक्त क्षमता की स्थापना से लगभग ३०,००० व्यक्तियों को काम मिलेगा।

चीनी के कारखानों में पुरानी मशीनों के स्थान पर नई मशीनों के लगाने और पुराने कारखानों के अभिनवीकरण की अनुमानित लागत भी ४० करोड़ रु० है।

उद्योग की विशेषतायें व समस्यायें

भारत में चीनी उद्योग की प्रधान समस्या चीनी की ऊंची उत्पादन लागत है, जिसके कारण देश में उत्पन्न चीनी का मूल्य अन्य देशों की चीनी के मूल्यों से ऊंचा रहता है। इससे चीनी के उपभोक्ताओं पर अनावश्यक भार पड़ता है और विदेशों को चीनी का निर्यात नहीं किया जा सकता। चीनी की ऊंची उत्पादन लागत व ऊंचा मूल्य उद्योग की निम्नलिखित मुख्य विशेषताओं व कमजोरियों से सम्बन्धित है :—

(१) देश में चीनी-मिलों का स्थापन (Location) ठीक नहीं है। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, यहां चीनी-उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश व बिहार राज्यों में केन्द्रित है। (१९५५-५६ में कुल १६० चीनी मिलों में से ७३ उत्तर प्रदेश में, और ३० बिहार में थी। शेष में से १६ बम्बई में, १० आन्ध्र में, ६ मद्रास में, ५ मध्य भारत में, और शेष देश के अन्य भागों में थी।)

परन्तु चीनी-उद्योग की अनुकूलता की दृष्टि से उत्तर प्रदेश व बिहार राज्यों (उत्तर भारत) की तुलना में भारत का प्रायद्वीप (Peninsula) अधिक अच्छा है। यह इसलिए क्योंकि भारत के प्रायद्वीप की जलवायु उष्णकटिबन्धीय (Tropical) है, जबकि उत्तरी भारत की जलवायु उप-उष्णकटिबन्धीय (Sub-tropical) है। गन्ने के उत्पादन के लिए पहले प्रकार की जलवायु अधिक अच्छी है। इसलिए यहां गन्ने की प्रति एकड़ उपज ३० से ४० टन के बीच है, जबकि उत्तरी भारत में यह उपज १२ से १५ टन के बीच है। इससे उत्तरी भारत में गन्ने का उत्पादन महंगा पड़ता है। चूंकि चीनी में आधी से अधिक (लगभग ६०% उत्पादन-लागत गन्ने की होती है, अतः वहां (उत्तरी भारत में) चीनी भी महंगी बनती है। इसके अतिरिक्त, उत्तरी भारत से दक्षिण के उपभोग केन्द्रों तक चीनी लाने में अनावश्यक ढुलाई व्यय भी लगता है। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारत में, उत्तरी भारत की अपेक्षा गन्ना पेरने का काल (Season) भी अधिक लम्बा रहता है। इन सब बातों को ध्यान में

रखते हुए, उद्योग के स्थापन को सुधारना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए एक उपाय तो यह है कि उत्तरी भारत से कुछ कारखानों को हटाकर दक्षिण में ले जाया जाय। परन्तु इस प्रकार का स्थानान्तरण (Shifting) बड़ा खर्चीला बैठता है। साथ ही उत्तरी प्रदेश और बिहार की राज्य सरकारें इसके लिए आसानी से राजी नहीं होगी। अतः यह उपाय अधिक अच्छा नहीं है। दूसरा उपाय यह है कि जिन नई मिलों के लिये लाइसेंस दिये जायें, वे अधिकांशतः दक्षिणी भारत में स्थापित होनी चाहियें। अब ऐसा ही किया जा रहा है। प्रथम योजना के अन्तिम दो वर्षों में जिन ४३ नई मिलों की स्थापना के लिये लाइसेंस दिये गए हैं, उनमें से ३४ मिलें भारत के प्रायद्वीप (१७ बम्बई, ७ मद्रास, ४ आन्ध्र, ४ मैसूर और २ हैदराबाद) में स्थापित की जायेंगी। तीसरा उपाय यह है कि जिन मिलों में पुरानी तथा घिसी मशीनों को बदला जाना है, उन्हें अभिनवीकरण (Modernisation) के समय पुराने स्थान से हटाकर अधिक उपयुक्त स्थान पर स्थापित किया जा सकता है।

(२) देश में बहुत सी चीनी-मिलें अनार्थिक आकार (Uneconomic Size) की हैं। ऐसी मिलों की चीनी बनाने की उत्पादन लागत ऊंची रहती है। आधुनिक कार्य दशाओं में लगभग ७०० टन गन्ना प्रतिदिन पेरने की क्षमता रखने वाली मिल आर्थिक आकार की मानी जाती है। इस दृष्टि से १९५५-५६ में १४३ चालू मिलों में से ३१ मिलें अनार्थिक आकार की थीं। इनमें से ९ मिलों को अपनी क्षमता ७०० टन से अधिक बढ़ाने के लिए लाइसेंस दे दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त, प्रथम योजना काल में अनार्थिक आकार की ३ मिलें अपनी क्षमता को ७०० टन से अधिक कर चुकी हैं। १९५५ ५६ में बन्द रहने वाली अधिकांश मिलें भी अनार्थिक आकार की थीं। आवश्यकता इस बात की है कि शीघ्रातिशीघ्र अनार्थिक आकार की सभी मिलों का विस्तार कर उनकी प्राविधिक कार्यकुशलता बढ़ाई जाय, जिससे कि उनकी उत्पादन-लागत में कमी हो।

(३) अधिकांश वर्तमान चीनी-मिलों में पुरानी और घिसी हुई मशीनों के स्थान पर नई मशीनों का लगाना बहुत समय से आवश्यक हो रहा है। अधिकांश मशीनरी तो लगभग २० वर्ष पहले खरीदी गई थी। द्वितीय विश्व युद्ध व उसके तुरन्त बाद के वर्षों में सामान्य प्रतिस्थापन (Normal Replacement) भी नहीं हो पाये, क्योंकि मशीनों के हिस्से आसानी से उपलब्ध नहीं थे। अब भी मशीनों के मूल्य बहुत ऊंचे हैं। अनुमान है कि पुरानी मशीनों के प्रतिस्थापन और वर्तमान मिलों के अभिनवीकरण (Modernisation) के लिए ५० करोड़ रुपये की भारी रकम चाहिये। तथापि, मिलों की प्राविधिक कार्यकुशलता बढ़ाने के लिये इस रकम की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) गन्ना—गन्ना-उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिये चीनी-मिलों द्वारा खरीदे जाने वाले गन्ने का निम्नतम मूल्य सरकार स्वयं निश्चित करती है। १९५०-५२ में गन्ने का मूल्य १ रुपया १२ आने प्रति मन, और १९५३-५४ में १ रुपया ५

ग्राने प्रति मन था। उसके पश्चात् से अब गन्ने का मूल्य १ रु० ७ आ० प्रति मन है। चूंकि भारत में चीनी की उत्पादन लागत में ६० प्रतिशत भाग गन्ने के मूल्य का होता है, अतः गन्ने का ऊंचा मूल्य बड़ी सीमा तक चीनी की ऊंची उत्पादन-लागत के लिये उत्तरदायी है। चीनी की उत्पादन-लागत व मूल्य कम करने के लिए आवश्यक है कि गन्ने का मूल्य कम हो, और गन्ने की किस्म में सुधार हो। पहली बात के लिये यह आवश्यक है कि गन्ने की प्रति एकड़ उपज को बढ़ाया जाय। भारत में इस समय, यद्यपि गन्ने के लगभग ६७ प्रतिशत क्षेत्र में अच्छे बीजों से खेती होती है, तथापि यहाँ गन्ने की प्रति एकड़ औसतन उपज लगभग १४-१५ टन है, जबकि जावा और हवाई में यह उपज क्रमशः ५६ टन और ६२ टन है। भारत में गन्ने की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिये आवश्यक है कि किसानों को अधिक पानी या सिंचाई की सुविधा, सस्ती खाद और अच्छी किस्म का बीज आदि उपलब्ध कराये जायं। और गन्ने की गहरी खेती को प्रोत्साहित किया जाय। साथ ही, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, गन्ने की खेती के लिये उप-उष्ण कटिबन्धी (Sub-tropical) उत्तरी भारत की अपेक्षा उष्णकटिबन्धी (Tropical) भारत का प्रायद्वीप अधिक उपयुक्त है। अतः प्रायद्वीप में गन्ने की खेती को अधिकाधिक उत्साहित किया जाना चाहिये।

भारत में राज्य सरकारें गन्ना-विकास के लिये चीनी उत्पादन पर शुल्क (Cess) लगाती हैं। परन्तु वे इस शुल्क की पूरी आय को गन्ना-विकास पर व्यय नहीं करती हैं। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश ने १९५४-५५ में २५६ लाख रु० की शुल्क आय में से केवल ४५ लाख रु० ही गन्ना-विकास योजनाओं पर व्यय किया गया था यह ठीक नहीं है। जैसा कि गन्ना आयोग का भी मत है शुल्क आय की सम्पूर्ण राशि गन्ना विकास पर ही व्यय की जानी चाहिये

रस की दृष्टि से भारत में गन्ने की किस्म भी घटिया है। यहां गन्ने में से लगभग १० प्रतिशत रस निकलता है जबकि आस्ट्रेलिया में गन्ने में रस की मात्रा १४.३३ प्रतिशत, और क्यूबा में १२.०४ प्रतिशत होती है। चीनी की उत्पादन लागत को कम करने के लिये यह भी आवश्यक है कि गन्ने की किस्म में इस प्रकार से सुधार किया जाय कि उसमें रस की मात्रा की प्रतिशत बढ़ जाय।

आजकल किसानों को गन्ने का मूल्य उसके वजन के अनुसार दिया जाता है, न कि गन्ने में रस की मात्रा के अनुसार। इससे किसानों को अधिक रस वाला गन्ना उत्पन्न करने तथा उसे पूरा पक जाने पर काटने के लिये प्रोत्साहन नहीं मिलता। अतः यह अच्छा होगा यदि किसानों को गन्ने का मूल्य गन्ने में रस की मात्रा के अनुसार दिया जाय। इसके लिये दक्षिण भारत चीनी-मिल परिषद् ने १९५२-५३ में एक सूत्र (Formula) तैयार किया था जिसके अनुसार परिषद् की कुछ मिलों में गन्ने का मूल्य दिया जाता है। भारत सरकार ने इस प्रश्न की जांच करने के लिए एक विशेषज्ञ-समिति (Expert Committee) की नियुक्ति भी की है।

(५) अन्य लागतें:—भारत में चीनी उत्पादन की अन्य लागतें भी ऊंची हैं।

बहुत से कारखानों में ईंधन का खर्च आवश्यकता से अधिक है। अधिकांश कारखानों में गन्ने के रस को साफ करने के लिये जो विधि अपनाई जाती है, उसमें गन्धक का अधिक प्रयोग होता है। गन्धक का उत्पादन देश में कम होने के कारण वह बाहर से मंगाई जाती है, और उसका मूल्य ऊंचा पड़ता है। अतः चीनी मिलों को चाहिये कि वे दूसरी ऐसी विधियों को अपनायें, जिनमें गन्धक का कम प्रयोग होता हो। बहुत से कारखानों में मशीनों के पुरानी व घिसी हुई होने के कारण, तथा कुछ कारखानों के आर्थिक आकार से छोटे होने के कारण भी उत्पादन-लागत ऊंची पड़ती है। इसका हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार देश में चीनी के उत्पादन पर ऊंची दर पर उत्पादन शुल्क (Excise Duty) लगाती है। इससे भी चीनी का मूल्य ऊंचा होता है। राज्य सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले गन्ना शुल्क (Cane Cess) के बारे में हम ऊपर बता ही आये हैं।

(६) उपोत्पाद (By.products):-गन्ने से चीनी बनते समय खोई (Bagasses) और शीरे (Molasses) के रूप में उपोत्पाद प्राप्त होते हैं। खोई से गत्ता, कागज, सोख्ता, खाद आदि और शीरे से शक्ति अल्कोहल व औद्योगिक अल्कोहल तैयार की जा सकती है। परन्तु भारत में अभी इन उपोत्पादों का इस प्रकार से बहुत कम प्रयोग किया जाता है। खोई को बहुधा सुखा कर कारखानों में ईंधन के रूप में जलाया जाता है। शीरे से देश में अवश्य शक्ति अल्कोहल व औद्योगिक अल्कोहल तैयार की जाती है। परन्तु अल्कोहल उद्योग में अभी सभी शीरे का प्रयोग नहीं होता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि खोई तथा शीरे का औद्योगिक प्रयोग किया जाय। इससे चीनी की उत्पादन लागत कम होगी।

द्वितीय योजना में इस दिशा में प्रगति की व्यवस्था की गई है। अनुमान है कि १९६०-६१ में अल्कोहल उद्योग को ८ लाख टन शीरा उपलब्ध हो सकेगा। इस सब को प्रयोग करने से ४ करोड़ गैलन अल्कोहल उत्पन्न किया जा सकेगा। तथापि, *योजना में १९६०-६१ के लिये ३ करोड़ गैलन अल्कोहल (१·८ करोड़ गैलन शक्ति* अल्कोहल, और १२ करोड़ गैलन औद्योगिक अल्कोहल) उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा गया है।

(७) पूर्ण क्षमता का प्रयोग न होना—भारत में स्थापित सभी चीनी मिलें हर वर्ष उत्पादन नहीं करती। इनमें से कुछ बन्द पड़ी रहती हैं। उदाहरणार्थ, १९५५-५६ में १६० चीनी मिलों में से १४३ मिलों ने काम किया, और बाकी १७ बन्द रहीं। इन १७ में से १३ मिलें ऐसी थी, जो कईवर्षों से बन्द पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त, चालू मिलों में से भी सभी अपनी पूर्ण क्षमता के बराबर उत्पादन नहीं करती। इसका मुख्य कारण उन्हें गन्ने का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होना है। फलतः क्षमता का पूर्ण प्रयोग न होने से देश में जहां चीनी का उत्पादन कम होता है, वहां चीनी की उत्पादन लागत भी ऊंची रहती है। अतः क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने के लिये भी कदम उठाये जाने चाहियें।

लोहा तथा इस्पात उद्योग
(Iron and Steel Industry)

लोह तथा इस्पात का उद्योग किसी देश के औद्योगीकरण का आधार है। अन्य उद्योगों का विकास इस उद्योग के विकास पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, यदि हम देश में सूती कपड़े या चीनी या कागज़ या किसी अन्य वस्तु की मिल लगाना चाहते हैं, तो हमें लोहे और इस्पात की बनी मशीनों और यन्त्रों की आवश्यकता होती है। कृषि के तथा अन्य औजार भी लोहे व इस्पात के बने होते हैं। रेलें, पानी के जहाज हवाई जहाज मोटर कारें, तारें, मकान, देश की सुरक्षा के लिये अस्त्र शस्त्र व अन्य सामान तथा प्रतिदिन के उपयोग की अन्य हज़ारों वस्तुओं के बनाने के लिये लोहा और इस्पात अत्यन्त आवश्यक हैं। अतः यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि लोहा और इस्पात केवल औद्योगिक ढांचे के ही नहीं, वरन् आधुनिक युग में समस्त जीवन के आधार हैं।

इसी लिये आजकल किसी देश का औद्योगिक महत्व व महानता इसी बात में जाने जाते हैं कि वह देश कितना इस्पात बनाता और उपभोग करता है। यदि हम भारत का भी भौतिक विकास चाहते हैं और यह चाहते हैं कि यहां के लोगों का रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो, तो हमें देश में इस आधारभूत उद्योग का द्रुत गति से विकास करना होगा। सौभाग्य से, प्रकृति ने भारत को इस महत्वपूर्ण उद्योग के लिये सभी आवश्यक कच्चे माल प्रदान किये हैं। हमारे यहां उच्च कोटि के कच्चे लोहे के विस्तृत भण्डार हैं। अनुमान है कि ये भण्डार लगभग १,००० करोड़ टन के हैं। इसकी तुलना में, यद्यपि कोक बनाने वाले कोयले के हमारे भण्डार इतने ही बड़े नहीं हैं, तथापि, इनका उचित संरक्षण करने पर हमारी आवश्यकताओं के लिए ये भी पर्याप्त हो सकते हैं। इस उद्योग के लिये अन्य आवश्यक कच्चे माल, जैसे चूना पत्थर, डोलोमाइट (Dolomite) और मैंगनीज़ आदि भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। एक और अच्छी बात यह है कि ये अन्य कच्चे माल लोहे की खानों से बहुत दूर नहीं हैं। जस्ता, टीन तथा अन्य मिलावट की धातुओं की भारत में अवश्य कमी है। परन्तु इस कमी को आयात से पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार भारत प्रकृति की ओर से विश्व में लोहे और इस्पात का बहुत बड़ा उत्पादक होने के लिये बना है। भारत में इस उद्योग का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। अतः भारत के औद्योगीकरण का भविष्य भी अत्यन्त उज्ज्वल है।

संक्षिप्त इतिहास :—भारत की लोहा पिघलाने और ढालने की अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। इसका एक प्रमाण दिल्ली में कुतुब मीनार के पास एक २३ फुट ऊंची लोहे की लाठ है, जो पिछली १५ शताब्दियों से ज्यों की त्यों खड़ी है। आज के इन्जीनियर इस बात पर हैरान हैं कि यह लाठ ऐसी किस प्रकार के लोहे में बनाई गई थी जिससे कि यह जंग और संक्षरण (Rust & Corrosion) से अभी तक खराब नहीं हुई है।

तथापि आधुनिक युग मे लोहा और इस्पात तैयार करने में भारत अन्य देशों से बहुत पीछे छूट गया है। यहा आधुनिक विधि से इस्पात तैयार करने का सबसे पहला प्रयत्न मद्रास में १८३० मे किया गया था। परन्तु यह प्रयत्न निष्फल रहा। इसके बाद के ४४ वर्षों में किये गये अन्य प्रयत्न भी सफल नही हुए। १८७५ मे बंगाल मे बराकार में एक और कारखाना लगाया गया। बाद में इसे बंगाल, आयरन एण्ड स्टील कम्पनी ने ले लिया।

परन्तु भारत में आधुनिक तरीके के लोहे और इस्पात के उद्योग के वास्तविक आरम्भ का श्रेय श्री जमशेद जी टाटा को जाता है, जिसने १९०७ मे टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना की। इस कारखाने ने ढला हुआ लोहा (Pig Iron) १९११ मे और इस्पात १९१३ मे बनाना प्रारम्भ किया।

टाटा कम्पनी द्वारा उत्पादन आरम्भ करने से पूर्व भारत अपनी आवश्यकता का सभी इस्पात विदेशो से आयात किया करता था। ये आयात लगभग १० लाख टन इस्पात प्रति वर्ष हुआ करती थी। देश मे लोहे और इस्पात का उत्पादन प्रारम्भ होने पर धीरे-धीरे दशा सुधरी। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४–१८) की अवधि मे भारतीय कम्पनियों ने अच्छे लाभ कमाये, यद्यपि उद्योग ने विशेष प्रगति नही की। युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् भारतीय कम्पनियो की दशा खराब होने लगी क्योंकि उन्हें इस्पात की सस्ती विदेशी आयातो का सामना करना पडा। अत. उद्योग ने संरक्षण की मांग की। टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) की सिफारिश पर १९२४ मे सर्वप्रथम इस उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया, जो ३१ मार्च, १९४७ तक रहा।

इस संरक्षण-काल मे उद्योग ने बहुत तेजी से उन्नति की। इस काल मे पहले से स्थित कारखानो का विस्तार हुआ और नये कारखाने स्थापित हुए। यह उद्योग इस बात का महत्वपूर्ण प्रमाण है कि संरक्षण किस प्रकार एक नये उद्योग के विकास में सहायक सिद्ध हो सकता है। नीचे की तालिका १९१६ से १९३९ के बीच उद्योग की प्रगति को बताती है :—

वर्ष	इस्पात का उत्पादन
१९१६	९ ,००० टन
१९२१	१२६,००० टन
१९२४	१६३,००० टन
१९३३	४८३,००० टन
१९३९	८४३,००० टन

संरक्षण प्राप्ति से पूर्व १९२३–२४ मे देश मे इस्पात का उत्पादन घरेलू माग का केवल १९ प्रतिशत भाग पूरा करता था। १९३९ मे हम अपनी घरेलू माग का ७५ प्रतिशत भाग इस्पात के घरेलू उत्पादन से पूरा करने लगे थे। साथ ही इस्पात की उत्पादन लागत को भी काफी कम कर लिया गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने उद्योग को और अधिक प्रोत्साहन दिया। इस अवधि में

सरकार ने भी उद्योग को वित्तीय (Financial) व प्राविधिक (Technical) सहायता दी। फलतः इस्पात का उत्पादन १९३९ में ८४३ हजार टन से बढ़कर १९४८ में ११४६ हजार टन हो गया। इसके अतिरिक्त कई विशिष्ट प्रकार का इस्पात जो भारत में पहले तैयार नहीं किया जाता था, तैयार किया जाने लगा। इस्पात के उत्पादकों की किस्म में भी उन्नति हुई।

परन्तु युद्ध के तुरन्त पश्चात् ही लोहे और इस्पात का देश में उत्पादन गिरने लगा। वास्तव में यह क्रम १९४४ में ही आरम्भ हो गया था, और १९४८ तक चलता रहा। १९३९ के ११.४६ लाख टन के उत्पादन की तुलना में १९४८ में केवल ८.५६ लाख टन इस्पात उत्पन्न किया गया। १९४९ में उत्पादन फिर से बढ़ा, और १९५३ के वर्ष को छोड़कर तब से यह प्रतिवर्ष निरन्तर बढ़ता रहा है। १९५६ में तैयार इस्पात का उत्पादन १३.१६ लाख टन और १९५७ में १३.४६ लाख टन था।

लोहे और इस्पात के वर्तमान कारखाने

भारत में लोहा और इस्पात तैयार करने की निम्नलिखित तीन मुख्य कम्पनियां हैं :—

(i) जमशेदपुर (बिहार) में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, (ii) हीरापुर और कुल्टी में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, जिसके साथ बर्नपुर में स्टील कार्पोरेशन ऑफ बंगाल को १९५२ में मिला दिया गया था; और (iii) भद्रावती (मैसूर) में मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स।

टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी—यह कम्पनी १९०७ में बनाई गई थी। इसके कारखाने जमशेदपुर (बिहार) में स्थित हैं। इनकी स्थिति आदर्श है। यहां कच्चा लोहा, कोयला तथा चूना-पत्थर समीप की खानों से प्राप्त हो जाता है। पानी पास की दो नदियों से मिल जाता है। रेल और पक्की सड़कों की सुविधाएं भी यहां प्राप्त हैं। कलकत्ते की बन्दरगाह भी अधिक दूर नहीं है।

यह कारखाना राष्ट्रमंडल (Commonwealth) के सबसे बड़े कारखानों में से एक है तथा एशिया में दूसरे नम्बर पर है। भारत में यह लोहे तथा इस्पात का मुख्य उत्पादक है। यह पूर्णतया संगठित इकाई (Fully Integrated Unit) है। लोहे और इस्पात के कारखाने के अतिरिक्त कम्पनी की लोहे, कोयले, मैंगनीज और चूना पत्थर की अपनी खानें भी हैं। इसके कारखाने में ५ धमिधमन भट्टियां (Blast Furnaces) हैं, और इनसे उत्पन्न लोहे के लगभग ⅔ भाग से इस्पात तैयार किया जाता है। इस समय इसकी उत्पादन-क्षमता १९ लाख टन ढला हुआ लोहा (Pig Iron) और ८.५ लाख टन तैयार इस्पात प्रतिवर्ष है। आरम्भ में इस कारखाने में केवल २ धमिधमन भट्टियां थीं। तब इसकी उत्पादन-क्षमता केवल १.२ लाख टन ढला हुआ लोहा तथा ८० हजार टन लिपटा हुआ (Rolled) इस्पात थी। बाद में (१९१७) 'बृहत्तर विस्तार' (Greater Expansion) की योजना के अन्तर्गत इसकी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाया गया था।

दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात ४२'६ करोड़ रुपये की लागत का विस्तार एवं आधुनिकीकरण का एक नया कार्यक्रम आरम्भ किया गया था। इसे पूरा किया जा रहा है। इससे कम्पनी की इस्पात उत्पन्न करने की क्षमता के ६'३१ लाख टन हो जाने की आशा थी। इसी बीच, भारत सरकार के अनुमोदन से कम्पनी ने अपनी उत्पादन-क्षमता को १५ लाख टन प्रतिवर्ष तक बढ़ाने का निश्चय किया है। इस दूसरी विस्तार-योजना की अनुमानित लागत ६८ करोड़ रुपये है। इस योजना को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने टाटा कम्पनी को १० करोड़ रुपये का ऋण दिया है, और विश्व बैंक से इसे प्राप्त होने वाले ऋण की गारन्टी दी है। यह विस्तार योजना मई १९५८ तक पूरी हो जानी थी।

कम्पनी कई प्रकार का इस्पात तथा इससे बना माल तैयार करती है। वर्तमान मूल्यांकन के अनुसार, इसमें १२० से १५० करोड़ रुपये तक की पूंजी लगी हुई है। इसमें लगभग ७२,००० श्रमिक काम करते हैं। इनकी औसत मजदूरी भारत में सबसे ऊंची है। श्रमिकों के लिए अन्य सुविधाओं की भी आदर्श व्यवस्था है।

इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, १९१८ में मुख्यतः ढला हुआ लोहा तैयार करने के लिए स्थापित की गई थी। इसके कारखाने हीरापुर और कुल्टी में हैं। १९५२ में स्टील कार्पोरेशन आफ बंगाल इसमें मिला दी गई थी। यह कम्पनी इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी से ढला हुआ लोहा लेकर इस्पात बनाती है। इसका कारखाना आसनसोल के पास बर्नपुर में है, जो १९३९ में चालू हुआ था।

इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (स्टील कार्पोरेशन आफ बंगाल को मिलाकर) की इस्पात उत्पन्न करने की क्षमता इस समय लगभग ३'५ लाख टन है। इसका भी आधुनिकीकरण तथा विस्तार किया जा रहा है, जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता ८ लाख टन तैयार इस्पात प्रतिवर्ष हो जायगी। इसके लिए भारत सरकार ने एक तो स्वयं १० करोड़ रुपये का ऋण दिया है तथा विश्व बैंक द्वारा इसे मिलने वाले २० करोड़ रुपये के ऋण की गारन्टी दी है।

मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स भाद्रा नदी के किनारे भद्रावती (मैसूर) में १९१८ में स्थापित किया गया था। इसमें लोहा ढालना १९२३ में प्रारम्भ किया था। १९३६ में इसमें एक इस्पात-संयत्र (Steel Plant) और एक स्टील रोलिंग मिल (Steel Rolling Mill) और लगा दिये गये। इसकी तैयार इस्पात की उत्पादन-क्षमता इस समय ८५,००० टन है। इस कारखाने का भी विस्तार किया जा रहा है। ऐसा होने पर इसकी उत्पादन-क्षमता १ लाख टन हो जायेगी।

इन तीन बड़े कारखानों के अतिरिक्त देश में बहुत सी छोटी-बड़ी री-रोलिंग मिलें (Re-rolling Mills) भी हैं जो इस्पात-पिण्डकों (Steel-Billets) को लपेटने (Roll करने), क्षेप्य पदार्थ (Scrap) से दण्ड, आदि (Rods and Bars) बनाने का

तथा विशिष्ट इस्पात-वस्तुएं (Special Steel Products) बनाने आदि का काम करती है।

भारत का लोहे और इस्पात का यह उद्योग संसार में सब से सस्ता ढला हुआ लोहा तथा आस्ट्रेलिया के पश्चात् सब से सस्ता इस्पात बनाता है।

इस उद्योग की स्थापना से बहुत से सहायक उद्योगों, जैसे टीन की चादरें (Tin Plates), तार व तार की कीलें (Wire and Wire Nails), मशीनों के पुर्जे, रेल के इंजिन, बोयलर (Boilers), ढलाई की वस्तुएं (Castings), सड़क कूटने के इंजिन, खेती के औजार, आदि बनाने के उद्योगों का विकास हो गया है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत लोहा और इस्पात उद्योग

प्रथम पंचवर्षीय योजना में लोहे और इस्पात के उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार थे :—

(लाख टनों में)

	१९५०-५१		१९५५-५६	
	उत्पादन क्षमता	उत्पादन	उत्पादन क्षमता	उत्पादन
ढला हुआ लोहा	१८·५	१५·७	२७०	१९·५
इस्पात (मुख्य उत्पादक)	१०·१५	९८	१६ ५	१२·८

इन लक्ष्यों की तुलना में १९५५ में ढले हुये लोहे का वास्तविक उत्पादन लगभग १७.६ लाख टन था, और १९५५-५६ में इस्पात का उत्पादन लगभग १३ लाख टन था। योजनाकाल में केन्द्रीय सरकार द्वारा कुल ८० करोड़ रु० की लागत (योजनाकाल में इस पर केवल ३० करोड़ रु० व्यय किये जाने थे, जिसमें से १५ करोड़ रु० सरकार ने और शेष १५ करोड़ रु० देशी व विदेशी पूंजीपतियों ने व्यय करने थे) का एक लोहे और इस्पात का कारखाना लगाया जाना था। इसने १९५५-५६ तक ३.५ लाख टन ढला हुआ लोहा तैयार करना आरम्भ करना था। साथ ही मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स की विस्तार योजना के द्वारा १९५५-५६ तक ६०,००० टन अतिरिक्त इस्पात उत्पन्न किया जाना था। परन्तु प्रथम योजना के अन्त तक ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके थे। तथापि योजना के अन्त तक सार्वजनिक क्षेत्र में १०·१० लाख टन स्टील इन्गोट की क्षमता के ३ कारखानों के बारे में सब प्रारम्भिक काम पूरा किया गया, और आगामी वर्षों में लोहे और इस्पात के उद्योग के द्रुत विकास की नींव डाली गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लोहे और इस्पात के उद्योग के विकास को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया गया है। योजनाकाल में सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े और मध्यम उद्योगों पर व्यय की जाने वाली ६१७ करोड़ रु० की रकम में से लगभग ४०० करोड़ रु० अकेले इस उद्योग पर व्यय किये जायेंगे। इससे योजना के अन्तर्गत इस उद्योग का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

योजना मे कृषि, उद्योग, यातायात आदि के विकास की जितनी योजनायें शामिल की गई है, अनुमान है कि १९६०-६१ तक उन सब से लगभग ४५ लाख टन तैयार इस्पात की मांग होगी। इसके अतिरिक्त, उसी वर्ष तक ढलाई के कारखानों (Foundries) को ७.५ लाख टन ढले हुए लोहे की आवश्यकता पड़ेगी। इन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये योजना मे निम्नलिखित लक्ष्य रखे गये हैं :—

(लाख टनो मे)

वस्तु	१९५५-५६ क्षमता	१९५५-५६ उत्पादन अनुमान	१९६०-६१ (लक्ष्य) क्षमता	१९६०-६१ (लक्ष्य) उत्पादन
तैयार इस्पात (मुख्य उत्पादक)	१३	१३	४६.८	४३
ढला हुआ लोहा (ढलाई के कारखानो को बेचने के लिये)	३.८	३.८	९.८	७.५

इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सरकार एक तो, सार्वजनिक क्षेत्र मे लोहे और इस्पात के तीन नये कारखाने लगा रही है, और दूसरे, निजी क्षेत्र मे पहले से स्थित मुख्य उत्पादको को अपने कारखानो का विस्तार करने मे सहायता दे रही है। आशा है कि १९६०-६१ तक सार्वजनिक क्षेत्र के तीन नये कारखाने कुल २० लाख टन इस्पात तैयार करने लगेंगे (यद्यपि इनकी अन्ततः कुल उत्पादन-क्षमता इससे अधिक होगी), और निजी क्षेत्र के तीनो मुख्य उत्पादको के पूरा हो जाने पर १९६०-६१ मे उनका कुल उत्पादन २३ लाख टन होगा। इस प्रकार १९५५-५६ के १३ लाख टन तैयार इस्पात के उत्पादन की तुलना मे १९६०-६१ मे तैयार इस्पात का उत्पादन ४३ लाख टन (२३१% की वृद्धि) होगा।

सार्वजनिक क्षेत्र म योजना के अन्तर्गत १० १० लाख टन इस्पात इनगोट उत्पन्न करने की क्षमता के तीन बड़े कारखाने लगाये जा रहे हैं। इनमे से एक में ३.५ लाख टन फाउण्डरी ग्रेड के ढलवें लोहे के उत्पादन की भी सुविधा होगी।

पहला कारखाना—जर्मन फर्म क्रप एण्ड डीमाग (Krupp & Demag) के प्राविधिक सहयोग से, रुउरकेला (उड़ीसा) मे स्थापित किया जा रहा है। अनुमान है कि इस कारखाने पर लगभग १७० करोड़ रुपये (पुराने अनुमान के अनुसार लगभग १२८ करोड़ रुपये) खर्च होंगे। इसमे ७.२ लाख टन तैयार इस्पात प्रति वर्ष उत्पन्न किया जायेगा।

दूसरा कारखाना—मध्यप्रदेश मे भिलाई (Bhilai) मे सोवियत संघ की सहायता से स्थापित किया जा रहा है। इस पर १३१ करोड़ रु० (पुराने अनुमान ११० करोड़ रु०) व्यय होने का अनुमान है। इससे प्रतिवर्ष ७.७ लाख टन इस्पात तैयार होगा।

तीसरा कारखाना—ब्रिटिश इस्पात उद्योगपतियो की सहायता से पश्चिमी

बंगाल मे दुर्गापुर मे स्थापित किया जायेगा। अनुमान है कि इस पर १३८ करोड रु० (पुराने अनुमान ११५ करोड रु०) व्यय होगा और इससे ७'६ लाख टन इस्पात तैयार होगा।

आशा है कि राउरकेला और भिलाई के कारखाने १६५८ के अन्त तक और दुर्गापुर का कारखाना १६५६ के अन्त तक उत्पादन आरम्भ कर देगे। आशा है कि ये कारखाने उत्पादन आरम्भ करने के एक वर्ष पश्चात् पूर्ण उत्पादन-क्षमता के बराबर उत्पत्ति करने लगेंगे।

इन तीनो कारखानो के लिये जो योजनाये बनाई गई हैं उनमे उनके भावी विकास के लिये भी गुंजाइश रखी गई है। इस प्रकार अन्ततः भिलाई कारखाने का प्रति वर्ष उत्पादन २५ लाख टन इनगोठ तक और राउरकेला के व दुर्गापुर के कारखाने का उत्पादन १२.५ लाख टन इनगोट तक बढाया जा सकेगा।

इन तीनो कारखानो के उत्पादन-कार्यक्रमो का इस प्रकार समन्वय किया गया है कि इस देश मे सभी प्रकार का इस्पात उत्पन्न होने लगेगा। उदाहरणार्थ, राउरकेला में केवल चपटा इस्पात जैसे प्लेटे (Plates) व चादरें (Sheets) उत्पन्न की जायेंगी। भिलाई मे रेलो की पटरियां और अन्य भारी वस्तुएं तथा दुर्गापुर में मध्य दर्जे की भारी वस्तुए, पहिये टायर और ऐक्सेल (Axles) रेलो के स्लीपर और कतने (Billets) आदि उत्पन्न की जायेंगी।

अनुमान है कि प्रत्येक कारखाने मे प्रतिवर्ष २० लाख टन कच्चा लोहा, ५ लाख टन चूना पत्थर, १.५ लाख टन कच्ची मैंगनीज और १६ लाख टन कोयले की आवश्यकता पडा करेगी। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कारखाने की ओर तथा वहा से प्रति वर्ष ६० से ७० लाख टन के बीच कच्चा माल ढोना पडा करेगा। इसके अतिरिक्त, उत्पादन आरम्भ करने पर प्रत्येक कारखाने मे ७.५ करोड गैलन पानी की प्रति दिन आवश्यकता पडेगी। इन कारखानो मे बडी सख्या मे अनुभवी तथा कुशल इंजीनियरो व प्रशिक्षित श्रमिको की आवश्यकता होगी। अत इनकी प्रशिक्षा के लिये देश मे तथा विदेशो (जर्मनी यू० एस० एस० आर०—U S S. R., इगलैंड और अमरीका मे प्रबन्ध किया गया है।

अनुमान है कि इन कारखानो के पूरा हो जाने पर, सार्वजनिक क्षेत्र मे लगभग १२० करोड रु० के मूल्य का इस्पात तैयार होने लगेगा, जिससे प्रति वर्ष लगभग १५० करोड रु० के विदेशी विनिमय की बचत हुआ करेगी। (यह इसलिये क्योंकि बाहर से मंगाया जाने वाला इस्पात भारतीय इस्पात से महंगा पडता है।) इसके अतिरिक्त, आशा है कि निर्यात के लिये लगभग ३ लाख टन इस्पात उपलब्ध हो सकेगा।

दूसरी पंचवर्षीय योजना मे केन्द्रीय सरकार के ३ इस्पात-कारखानो के लिये ३५० करोड रु० और मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के विस्तार के लिये ६ करोड रु० रखे गए हैं। इन तीन नये कारखानो के लिये बस्तिया बसाने के लिये दूसरी

योजना के अन्त मे पहिले ही कुछ और रुपयों की भी आवश्यकता होगी। अनुमान है कि इन तीनों कारखानो के लिये जो विदेशी सहायता पूंजी, मशीनों के दाम मे दिये जाने वाले मूल्य, और दूसरे उधार आदि के रूप में मिल रही है, वह लगभग ७५ करोड रुपये होगी।

१९६०-६१ मे इन कारखानो से कुल लगभग २० लाख टन तैयार इस्पात उत्पन्न किया जा सकेगा।

निजी क्षेत्र में विस्तारः—सार्वजनिक क्षेत्र के समान निजी क्षेत्र मे भी औद्योगिक योजनाओ मे लोहे और इस्पात का विशेष महत्त्व है। अनुमान है कि इस क्षेत्र मे कुल ११५ करोड़ रु० का विनियोग किया जायेगा। निजी क्षेत्र के तीन मुख्य कारखानो की विस्तार योजनाओं के बारे में हम पहले ही यथास्थान बता आये हैं। इन योजनाओं के १९५८ के मध्य तक पूरा हो जाने की आशा है। ऐसा हो जाने से ये कारखाने १९५५-५६ के १३ लाख टन इस्पात के उत्पादन की तुलना में १९६०-६१ मे २३ लाख टन इस्पात उत्पन्न करने लगेंगे।

नीचे हम द्वितीय योजना मे लोहे और इस्पात उद्योग की क्षमता में होने वाले प्रसार को तालिका के रूप में देते हैं:—

	विस्तार वर्तमान क्षमता	तैयार इस्पात (लाख टनों मे) विस्तार के पश्चात् क्षमता
टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	८	१५
इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	३	८
मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	·२५	१
नये कारखाने		
राउरकेला	...	७·२
भिलाई	....	७·७
दुर्गापुर	...	७·९
योग		४६·८

भावी विस्तार—शोर्केरो इस्पात सयन्त्र—देश के भावी औद्योगिक विकास को देखते हुए लोहे और इस्पात उद्योग का ऊपर बताया गया विस्तार काफी नहीं होगा। अत: अभी से यह कहा जा रहा है कि तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस्पात की उत्पादन क्षमता को बढा कर लगभग १५० लाख टन करना आवश्यक होगा। इसके लिए पहली प्राथमिकता तो पहले से स्थित कारखानो के विस्तार को दी जायगी। ऐसा अनुमान है कि राउरकेला, भिलाई और दुर्गापुर के कारखानो की कुल क्षमता में लगभग ४० लाख टन की वृद्धि की जा सकेगी। टाटा कम्पनी और इण्डियन कम्पनी के कारखानो का और विस्तार करके अधिक से अधिक १० लाख टन इस्पात उत्पन्न करने की क्षमता को और बढाया जा सकेगा। इतना होने पर

भी इस बात की आवश्यकता रहेगी कि कुल लगभग ४० लाख टन इस्पात उत्पन्न करने की क्षमता रखने वाला इस्पात का कारखाना लगाया जाय। तदनुसार, योजना आयोग व मन्त्री ने यह स्वीकार कर लिया है कि ऐसा एक कारखाना भारत सरकार द्वारा बोकेरो (बिहार) में बनाया जाय। सार्वजनिक क्षेत्र में यह चौथा इस्पात का कारखाना होगा।

बिहार में बोकेरो नाम का यह स्थान इस्पात के तीसरे कारखाने के लिए भी बहुत उपयुक्त समझा गया था। परन्तु बाद में इसके स्थान पर दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल) को इसलिए चुना गया, क्योंकि बोकेरो तक जाने के लिए परिवहन के साधन उपलब्ध नहीं थे। अन्यथा यह स्थान हर प्रकार से उपयुक्त है।

ऊपर बताये निर्णय के अनुसार, भारत सरकार के १९५८-५९ के बजट में ५० लाख रु० की व्यवस्था कर दी गई है जिससे कि इस चौथे इस्पात कारखाने के सम्बन्ध में प्रारम्भिक कार्य आरम्भ किया जा सके।

इस प्रकार भारत में लोहे और इस्पात उद्योग का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

कोयला उद्योग
(Coal Industry)

किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए कोयला उद्योग एक आधारभूत उद्योग है। यह इसलिए क्योंकि कोयला शक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। देश के यन्त्र, कारखाने और रेलें, आदि इसी से चलती हैं। लोहे और इस्पात आदि उद्योगों के लिये यह आवश्यक कच्चा माल है। घरलू कार्यों में इसका बहुत प्रयोग होता है। जल-विद्युत की उत्पत्ति होने से इसका महत्व अवश्य कुछ कम हो गया है। परन्तु जब तक जल-विद्युत काफी बड़ी मात्रा में उत्पन्न नहीं की जाती तब तक देश के औद्योगिक विकास में कोयले का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। देश के प्रमुख उद्योगों में कोयला उद्योग एक है। कोयला खानों में लगभग ३.५ लाख मजदूर कार्य करते हैं। विश्व में कोयला-उत्पादन में भारत का आठवां स्थान है।

संक्षिप्त इतिहास:—भारत में कोयला खनन उद्योग का आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ही जमाने में ही गया था—कोयला खानों से निकालने का पहला लाइसेंस १७७४ में दिया गया था। परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ क्योंकि कम्पनी ने इंगलैण्ड से कोयला आयात करना अपेक्षाकृत सस्ता पाया। १८१४ में रानीगंज में कोयला निकालना आरम्भ हुआ, परन्तु कोयला उद्योग का विकास फिर भी बहुत धीमा रहा। इसका वास्तविक विकास १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश में रेलों के चलने व अन्य उद्योगों के स्थापित होने से ही आरम्भ हुआ। १८६८ में देश में कोयले का उत्पादन केवल ५ लाख टन था, १९०० में यह बढ़ कर ६१ लाख टन और १९१० में बढ़ कर १२० लाख टन हो गया। तत्पश्चात् लोहे व इस्पात उद्योग की स्थापना ने और प्रथम विश्व युद्ध काल में औद्योगिक विकास ने कोयले के उत्पादन को और प्रोत्साहन दिया। १९२० में यह उत्पादन बढ़ कर १८० लाख टन हो गया

था। तब तक कोयला विदेशों को भी निर्यात किया जाने लगा था; १९२० में ही १२ लाख टन कोयला विदेशों को निर्यात किया गया। परन्तु तत्पश्चात् कुछ काल के लिये कोयला उद्योग कठिनाईयों में फँस गया। रेलों ने, (जोकि कोयले की सबसे बड़ी अकेली उपभोक्ता रही है,) अपनी कोयला खानें ले लीं और उनसे कोयला निकालने लगीं; कोयले की निर्यात कम हो गई, विशेषतः बम्बई की सूती मिलों में शक्ति के रूप में पन-बिजली और तेल का प्रयोग बढ़ गया, बम्बई में उपनगरीय (Suburban) रेलें बिजली से चलाई जाने लगीं। अतः १९२६ में उद्योग ने संरक्षण के लिये भारत सरकार से प्रार्थना की। परन्तु प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Board) ने इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। यहाँ तक कि मण्डल की अल्पसंख्यक-प्रतिवेदन (Minority Report) की इस सिफारिश को भी कि अर्थ-सहायता प्राप्त विदेशी कोयले पर प्रतिप्रभावी शुल्क (Countervailing Duties) ही लगा दिए जाय, सरकार ने इसलिये स्वीकार नहीं किया कि इससे विदेशों में प्रतिकार (Retaliation) होगा।

तथापि, १९२७ से ही दशा कुछ सुधरी, और उद्योग ने खोये हुए निर्यात बाजारों को पुनः प्राप्त कर लिया। १९३० में इसका उत्पादन बढ़ कर २३८ लाख टन हो गया था। इसके पश्चात् के चार वर्षों में विश्व-व्यापी महामन्दी के कारण भारतीय कोयला उद्योग की दशा भी खराब रही, और कई एक खानें भी बन्द हो गईं। तत्पश्चात् देश के अन्य उद्योगों की दशा के सुधरने से कोयले की घरेलू माँग बढ़ी और धीरे धीरे विदेशों को निर्यात भी बढ़ी। अतः कोयले का देश में उत्पादन भी बढ़ा।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से पूर्व १९३८ में देश में कोयले का उत्पादन २८० लाख टन था। द्वितीय युद्ध आरम्भ होने से देश में औद्योगिक प्रक्रिया में जो वृद्धि हुई उससे कोयले की माँग बढ़ी, और आरम्भ के तीन वर्षों में कोयले का उत्पादन भी बढ़ा। १९४२ में कोयले का उत्पादन बढ़ कर २९० लाख टन हो गया था। तत्पश्चात् परिवहन सुविधाओं तथा श्रमिकों की कमी के कारण कोयले का उत्पादन कुछ गिरने लगा। अतः सरकार ने कई एक पद उठाकर उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया, जिससे १९४५ में कोयले का उत्पादन बढ़ कर फिर २९० लाख टन हो गया। तत्पश्चात् कोयले का उत्पादन १९४८ के वर्ष को छोड़ कर अन्य हर वर्ष में निरन्तर बढ़ता रहा है। १९५० में यह उत्पादन बढ़ कर ३२३ लाख टन हो गया था।

अप्रैल, १९५१ से प्रथम पंचवर्षीय योजना आरम्भ हो गई। इस योजना में कोयले के उत्पादन का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं रखा गया था परन्तु यह अनुमान लगाया गया था कि प्रथम योजना काल में जो विकास-कार्यक्रम शामिल किये गये हैं उनके फलस्वरूप १९५५-५६ तक कोयले के उत्पादन को बढ़ा कर ३६० लाख टन करना होगा। वास्तव में १९५५ में कोयले का उत्पादन बढ़ कर ३८२ लाख टन और १९५६ में ३९४ लाख टन हो गया था।

कोयला-क्षेत्र :—भारत का प्रमुख कोयला-क्षेत्र दामोदर घाटी है। यहां से देश का कुल कोयला-उत्पत्ति का लगभग ८८% भाग प्राप्त होता है। दामोदर घाटी की दो मुख्य खानें झरिया (बिहार) और रानीगंज (पश्चिमी बंगाल) में हैं। यहां से देश की कुल उत्पत्ति का क्रमशः ४०% व ३०% कोयला प्राप्त होता है। झरिया का कोयला भारत के कोयलों में सर्वोत्तम माना जाता है। बिहार में झरिया के अतिरिक्त, बोकैरो गिरिडीह और कर्णपुरा (उत्तरी व दक्षिणी) में भी कोयले की खानें हैं। बिहार की ये खानें मिलकर सारे भारत का आधे से अधिक कोयला उत्पन्न करती हैं। कोयले की छोटी-छोटी खानें मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आंध्र, मद्रास, केरल, बम्बई, आसाम, राजस्थान और काश्मीर में भी हैं।

उत्पादन, उपभोग व निर्यात :—भारत में इस समय लगभग ८४२ खानों से कोयला निकाला जाता है और इनमें लगभग ३·५ लाख मजदूर कार्य करते हैं। १९५६ में इनमें कोयले का कुल उत्पादन ३९४ लाख टन (१९५७ में ४३५ लाख टन) था। इसमें से लगभग १७ लाख टन कोयला तो विदेशों को निर्यात कर दिया गया था; शेष देश में ही उपभोग किया गया था। यहां कोयले की सबसे बड़ी उपभोक्ता रेलें हैं, जो देश के कुल कोयला-उत्पादन का लगभग ⅓ भाग उपभोग करती हैं। इसके बाद कोयला के बड़े उपभोक्ता लोहा व इस्पात उद्योग, बिजली घर, ईंटों के भट्टे, सूती वस्त्र की मिलें, सीमेंट के कारखाने, कागज की मिलें, जूट मिलें, इन्जी॰ निर्माण कारखाने और घरेलू कार्य हैं।

सरकारी नीति :—प्रारम्भ में अन्य उद्योगों की भांति कोयला उद्योग के प्रति भी सरकार की नीति 'हस्तक्षेप न करने' की नीति रही। तथापि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में और उसके पश्चात् उसने 'फैक्टरी अधिनियमों' की भांति कोयला तथा अन्य खानों से सम्बन्धित अधिनियम पास किये, जिनके द्वारा खानों में काम के घण्टे और अन्य कार्य-दशाओं का नियमन किया गया। १९२५ में दशा खराब होने के कारण उद्योग ने संरक्षण के लिये सरकार से प्रार्थना की। परन्तु उसकी यह प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई। उस वर्ष तथा बाद में सरकार ने समय-समय पर कोयला उद्योग की दशाओं व समस्याओं का अध्ययन करने के लिये कोयला समितियां नियुक्त कीं। १९२५ की भारतीय कोयला समिति की सिफारिश पर १९२६ में एक 'कोयला ग्रेडिंग मण्डल' की स्थापना की। इस मण्डल ने कोयले के श्रेणीकरण में काफी काम किया है। कोयला खान सुरक्षा (क्षेप्यभरण—Stowing) अधिनियम १९३९ के अन्तर्गत कोयले की खानों को बालू से पाटने के लिये कोयले पर लगाये गये विशिष्टकर (Cess) को एकत्र करने के लिये नवम्बर १९३९ में एक 'क्षेप्यभरण मण्डल' (Stowing Board) की स्थापना की गई। मई, १९४४ में कोयला-खान नियन्त्रण आदेश लागू किया गया, जिसके अन्तर्गत कोयले के उत्पादन, मूल्य, परिवहन और वितरण के सम्बन्ध में एक व्यापक कोयला नियन्त्रण योजना चालू की गई। इसी वर्ष कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों के कल्याण की वृद्धि

के लिये एक कोष की स्थापना के लिये सरकार ने अध्यादेश जारी किया।

योजना आयोग की सिफारिश पर, १६५२ में सरकार ने कोयला खान (संरक्षण तथा सुरक्षा) अधिनियम [Coal Mining (Conservation and Safety) Act] लागू किया। इस अधिनियम के आधीन एक केन्द्रीय कोयला मण्डल (Central Coal Board) तथा अनेक परामर्शदात्री समितियाँ (Advisory Committees) स्थापित की गई है और भारत सरकार को निम्नलिखित अधिकार दिये गये हैं :—

(i) कोयले की खानों की सुरक्षा और कोयले के संरक्षण के लिये पद उठाना।

(ii) केन्द्रीय कोयला मण्डल को कोयला उद्योग की समस्याओं को सुलझाने का अधिकार देना,

(iii) कोयला और कोक के उत्पादन पर उत्पादन कर लगाना और

(iv) उद्योग का नियमन करने के लिये नियम बनाना।

इस प्रकार कोयला उद्योग उत्पादन वितरण मूल्य-निर्धारण आदि के दृष्टिकोण से सरकार द्वारा पूर्णतया नियन्त्रित है। यह नियंत्रण 'कोयला (Coal Controller) द्वारा किया जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। सरकार द्वारा १६४८ मे घोषित औद्योगिक नीति मे तथा १६५६ मे घोषित नई औद्योगिक नीति में भी कोयले के महत्व को ध्यान में रखते हुए यह कहा गया है कि भविष्य में कोयले की सभी नई खानें सरकार सार्वजनिक क्षेत्र मे खोलेगी निजी साहसियों को केवल उनकी पुरानी खानों मे ही कोयला निकालने की अनुमति होगी। अतः पिछले वर्षों मे सरकार ने कई एक कोयला खानें खोली हैं और आगे कई एक नई कोयला खानें खोलने की योजना है। इन सब (११) खानों का स्वामित्व तथा प्रबन्ध सितम्बर १६५६ में स्थापित एक नई कम्पनी, 'राष्ट्रीय कोयला विकास निगम' (National Coal Development Corporation) को सौंप दिया गया है। आगे भी सरकार जो कोयला खानें खोलेगी, उनका प्रबन्ध व स्वामित्व इस निगम के हाथो में ही होगा। इस निगम की अधिकृत पूंजी ५० करोड़ रु० है, और इसका मुख्य कार्यालय रांची मे है।

उद्योग की समस्यायें—भारत का कोयला उद्योग सुखद स्थिति मे नहीं है। इसकी कई एक समस्यायें हैं:—

(१) सुयुक्तिकरण (Rationalisation) की आवश्यकता.—कोयला उद्योग की सबसे बड़ी समस्या सुयुक्तिकरण की आवश्यकता है। भारत मे एक तो बहुत सी कोयला खानें बहुत छोटी छोटी है और आर्थिक आकार की नही है। दूसरे कोयला उद्योग का यन्त्रीकरण (Mechanisation, बहुत कम हुआ है, अधिकाश काम, जैसे खानो मे कोयला काटना उसे खानो से बाहर निकालना, तथा उसे फिर नियत स्थानो तक पहुचाना, आदि हाथो से व मानव-श्रम से

होता है, मशीनो का बहुत कम प्रयोग किया जाता है। १९५५ में लगभग १४४ खानों मे श्रौसतन केवल ४४२ कोयला काटने वाली मशीनें थी, जिनके द्वारा कुल उत्पादन का २३·६ प्रतिशत भाग उत्पन्न किया गया था। इसके अतिरिक्त काम मे आ रही ४ कोयला लादने वाली मशीनें थी, और ८८ मशीनें खानो से कोयले को नियत स्थान तक ढोने वाली थी। इसकी तुलना मे अन्य मुख्य कोयला-उत्पादक देशो, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका, इङ्गलैण्ड, आदि, मे कोयला उद्योग का यन्त्रीकरण बहुत बढ गया है। इसके अतिरिक्त भारत मे कोयला खानों मे काम करने वाले मजदूरो की उत्पादक-क्षमता भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। अत भारत मे कोयले की उत्पादन लागत काफी ऊँची रहती है, और कोयले की कुल उत्पत्ति कम रहती है। इसलिये कोयला उद्योग की समस्याओ पर विचार करने के लिये पिछले कुछ वर्षो मे जो समितिया नियुक्त की गई है, उनकी यह एक सिफारिश रही है कि कोयला उद्योग का शीघ्र ही यन्त्रीकरण होना चाहिये। इसके लिये एक तो यह आवश्यक है कि छोटी छोटी कोयला खानो का समामेलन (Amalgamation) कर उन्हे आर्थिक इकाईया बनाया जाय। एक खान मशीनों का प्रयोग करने के लिये एक आर्थिक इकाई तब मानी जाती है, जब वह प्रति मास कम से कम १०,००० टन कोयला उत्पन्न करे। कोयला खानो के यन्त्रीकरण को सुविधाजनक बनाने के लिये हमे यह भी चाहिये कि आवश्यक मशीनो को देश मे ही उत्पन्न किया जाय। तथापि कोयला खानो के सुयुक्तिकरण के मार्ग मे दो मुख्य कठिनाईया हैं: एक तो यह कि इस के लिये बड़ी मात्रा मे पूंजी चाहिये, दूसरी यह कि इससे कुछ श्रमिक बेकार हो जायेंगे। इन कठिनाइयो को हल करना अत्यन्त आवश्यक है इसके लिये एक सुझाव यह है कि सुयुक्तिकरण एक दम से सभी खानो मे न करके, धीरे धीरे कई एक चरणो (stages) मे किया जाना चाहिये

(२) संरक्षण (Conservation) की आवश्यकता — भारत में कई प्रकार से कोयले का अपव्यय भी बहुत होता है। खानो के निजी स्वामी पुरानी खानो मे कोयला छोडकर, नई खानो को खोदना आरम्भ कर देते है क्योकि पुरानी खानो की गहराई बढने के साथ-साथ उत्पादन कम होता जाता है और उत्पादन-लागत बढती जाती है। इसमे बहुत सा कोयला खानो मे ही पडा रह जाता है। यह सीमान्त कोटि के कोयले के साथ विशेष रूप से होता है। बहुत बार इसे बाहर खनिज-ढेरो (Mine Dumps) पर भी फेंक दिया जाता है। इस अपव्यय से बचने के लिये यह आवश्यक है कि न केवल उच्च कोटि का कोयला ही खानो से निकाला जाय वरन् सभी कोटि का कोयला खानो से निकाला जाय। फिर इसे यथासम्भव आपस मे मिला कर और धोकर बाजार मे लाया जाय। सारे देश में खनिज ढेरो का निरीक्षण करके अभिशोधन (Benefication) की विधियों द्वारा काम काम का कोयला निकाल लिया जाय।

बहुत सा कोयला खानो में स्तम्भो के रूप में छोड देने से भी व्यर्थ जाता है अन्य देशों की भांति बालू पाटने (sand stowing) की रीति हमारी खानो मे

प्रचलित नही हो पाई है। इस प्रथा के अनुसार कोयला निकाली हुई जगह को बालू से पाट दिया जाता है। इससे खान के भीतर कोयले के खम्भे छोडने की आवश्यकता नही पडती है और खान के दबने, आग लगने आदि का भी भय नही रहता है।

भारत मे कोक वाले कोयले का भी उचित उपयोग न होने मे अपव्यय होता है। हम ऊपर पढ आये हैं कि भारत मे उच्च कोटि का कोक वाला कोयला बहुत कम है। इसका अनुमानित भण्डार केवल लगभग २०० करोड टन है। अत इसका प्रयोग बहुत देख-भाल के साथ होना चाहिये। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही हो रहा है। आजकल भारत मे इस प्रकार का जितना कोयला उत्पन्न होता है उसका लगभग ४०% भाग तो केवल रेलें ही उपभोग करती हैं, जबकि लोहे और इस्पात का उद्योग इसका केवल २१% भाग उपभोग करता है। योजना आयोग तथा अन्य विशेषज्ञों का मत है कि इस कोयले को केवल लोहे और इस्पात के उद्योग मे तथा कोक बनाने मे प्रयोग करना चाहिये। अन्य कार्यों मे घटिया प्रकार का कोयला प्रयोग मे लाना चाहिये। तदनुसार दूसरी योजना मे रेलो ने कोक वाले कोयले के उपयोग को कम करने की एक योजना बनाई है।

(३) कोयला-क्षेत्रों के असमान वितरण की समस्या.—भारत मे कोयला-क्षेत्रो का वितरण बहुत असमान है। भारत की कुल उत्पत्ति का लगभग ८० या ८२% भाग केवल बिहार तथा पश्चिमी बगाल राज्यो मे प्राप्त होता है। कुछ कोयला मध्य प्रदेश, उडीसा, पुराने हैदराबाद राज्य और असम मे मिलता है। अन्य राज्यो मे कोयला बिल्कुल नही निकाला जाता अथवा 'न' के बराबर निकाला जाता है। पूर्व की खानो से इन राज्यो तक कोयला पहुचाने मे बहुत ढुलाई व्यय होता है। अतः १९५१ की कोयला उद्योग की कार्यकारी मण्डली (Working Party) ने यह सिफारिश की थी कि कोयले के उत्पादन को प्रदेशीय आधार पर सगठित किया जाना चाहिये, जिससे कि कोयले के वितरण मे कम व्यय हो। इसके लिये असम मे कोयले का उत्पादन बढाकर इसे आत्म-निर्भर बनाया जाना चाहिये, हैदराबाद मे कोयले के उत्पादन को बढाकर दक्षिण भारत को यहा से कोयले की पूर्ति होनी चाहिये, साथ ही मद्रास और उत्तर प्रदेश मे भी कोयला क्षेत्रो का विकास किया जाना चाहिये।

(४) परिवहन की समस्या—कोयला उद्योग की एक और कठिनाई परिवहन-सुविधाओं की अपर्याप्तता है। कोयला खानो को एक तो बहुधा रेलो से पर्याप्त संख्या मे गाडिया नही मिल पाती और फिर इन गाडियो की पूर्ति मे भी बहुधा देर हो जाती है। फल यह होता है कि बहुत सा कोयला (Pitheads) पर जमा होता रहता है, जिससे खानों के स्वामियो को बडी कठिनाई होती है। अतः खानो से कोयले के उत्पादन को बढाने के लिये यह भी आवश्यक है कि कोयले के परिवहन के लिये पर्याप्त सख्या मे गाडियाँ दी जायें इनकी पूर्ति बिना देर के हो और ढुलाई भाडा उचित हो। इसके लिये रेलो को अपनी मालगाडियो सम्बन्धी सुविधाओ का प्रसार

करना पड़ेगा और अपनी कार्य कुशलता को बढ़ाना होगा, जिससे दूर की जा सकने वाली दूरी को कम किया जा सके।

University Questions.

1. Point out the distribution of sugar-cane, cotton, tea and coal in India, and discuss their importance in Indian trade and industry. *(Agra, 1958)*

2. Describe the present position of sugar industry in India. *(Agra, 1957).*

3. Discuss the present position of the Indian cotton textile industry *(Agra, 1956).*

4. Describe the growth and state the present position of either the coal industry or the cotton industry in India. *(Agra, 1955)*

5. Describe any two of the large scale basic Industries of India. *(Patna, 1954)*

अध्याय २३

भारत मे कुटीर तथा लघु उद्योग
(Cottage and Small-scale Industries in India)

भारत मे उद्योगो को बहुधा तीन वर्गो मे बाटा जाता है (i) विशाल उद्योग (ii) लघु उद्योग और (iii) कुटीर उद्योग। इस अध्याय मे हम अन्तिम दो प्रकार के उद्योगो के बारे मे पढ़ेंगे।

परिभाषा.—'कुटीर' व 'लघु' उद्योगो के बीच कोई स्पष्ट व सर्वमान्य विभाजक रेखा नही है। विभिन्न उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए समय-समय पर इनकी अलग-अलग परिभाषाये दी गई हैं, और इनमे अन्तर करने के लिए अलग-अलग मानदण्ड सुझाये गये हैं। तथापि, हम यहा इनकी बहस मे नही पडेगे। हम यहाँ 'राजकीय आयोग (Fiscal Commission)' १९४९ ५०, द्वारा दी गई परिभाषाओ को अपनायेंगे। ये परिभाषायें अब सब से अधिक मान्य हैं। आयोग के शब्दो मे "एक कुटीर उद्योग वह है, जो कि पूर्णतः अथवा प्रधानतः कारीगर के परिवार की सहायता से, पूर्णकाल (whole-time) अथवा अंशकाल (part-time) व्यवसाय के रूप मे चलाया जाता है।" दूसरी ओर, "एक लघु-उद्योग वह है, जो मुख्यतः भाडे के श्रमिको द्वारा, जिनकी सख्या प्राय. १० से ५० के बीच होती है, चलाया जाता है।" ऊपर की परिभाषाओ मे 'कुटीर' व 'लघु' उद्योगो मे अन्तर का आधार 'भाड़े के श्रम' का प्रयोग, (और इकाई का आकार) है। इनमे 'बिजली के प्रयोग' के आधार पर अन्तर नही किया गया है। और यह है भी ठीक, क्योकि, जैसा कि इस आयोग ने भी बताया है, और हम भी नीचे देखेंगे, कुटीर उद्योगो के विकास के लिये बिजली का प्रयोग आवश्यक है। लघु-उद्योग मण्डल (Small Industries Board) की परिभाषा के अनुसार, लघु उद्योग मे वे कारखाने आते हैं, जिनमे ५ लाख से कम की पूंजी लगी है, तथा बिजली का प्रयोग करने पर जहा ५० से कम, अन्यथा १०० से कम व्यक्ति काम करते हैं।

कुटीर तथा लघु उद्योगो के बीच ऊपर बताये गये मुख्य अन्तर के अतिरिक्त, उनकी कुछ अन्य विशेषतायें या पहचानें भी बताई जा सकती हैं.—

कुटीर-उद्योग:—कुटीर उद्योग कारीगर अपने घर मे ही, अपने ही औजारो और साधनों से, केवल अपने या अपने परिवार के श्रम की सहायता से चलाता है। ये उद्योग पूर्णकाल अथवा अंशकाल दोनो प्रकार के हो सकते हैं। गावो मे ये प्रायः ग्रामीण उद्योग (Village Industries) के नाम से जाने जाते हैं, जैसे कि गुड़ बनाने का उद्योग। वहा ये सहायक अथवा ~स्य दोनो प्रकार के धन्धों के रूप मे

होते है, और य शकालीन और पूर्णकालीन दोनोप्रकार का रोजगार प्रदान करते है। परन्तु नगरो मे ये उद्योग पूर्णकाल व्यवसाय के रूप मे चलाये जाते हैं।

इन उद्योगो मे कारीगर अधिकांश काम अपने हाथो से और परम्परागत ढंग से ही करते हैं। आधुनिक शक्ति-चालित मशीनों का प्रयोग न के बराबर किया जाता है। इनका उत्पादन मुख्यतः स्थानीय बाजारो के लिये होता है। इनमे लगी पूंजी की मात्रा बहुत कम होती है।

लघु-उद्योग—इसके विपरीत लघु-उद्योगो में मुख्यतः भाडे के श्रम से काम लिया जाता है। इसमे लगी पूंजी की मात्रा भी बडी होती है। ये कुछ बड़े क्षेत्र की माग को पूरा करने के लिए उत्पादन करते हैं। भारत में ये नगरो तथा उपनगरों मे स्थित हैं, और प्रायः पूर्णकाल व्यवसाय के रूप मे चलाये जाते हैं।

वर्गीकरण—राजकोषीय आयोग, १९४९-५० ने कुटीर व लघु उद्योगों को पहले बारी-बारी ग्रामीण व नगरीय मे, और फिर आगे अंशकालिक व पूर्णकालिक उद्योगो मे बाटा है। हम इसी वर्गीकरण को चार्ट के रूप मे पृष्ठ ४५ पर देते हैं, और नीचे व्याख्या दी गई है।*

कुटीर-उद्योग—कुटीर उद्योग ग्रामीण और नागरिक दोनो प्रकार के हो सकते हैं। ये भी आगे अंशकालिक और पूर्णकालिक दो प्रकार के हो सकते है।

वर्ग क—(अंशकालिक ग्रामीण कुटीर उद्योग)—इन मे वे सब उद्योग शामिल हैं जो खेतिहरो को सहायक कार्य प्रदान करते हैं, जैसे हाथ करघे से कपडा बुनना, शहद के कीड़े पालना, टोकरियां बनाना, आटा पीसना, बीड़ियां बनाना, इत्यादि।

वर्ग ख—(पूर्णकालिक ग्रामीण कुटीर उद्योग)—इसमे अधिकतर ग्रामीण शिल्प (Village Crafts) शामिल हैं जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना, लोहार का काम, बढ़ई का काम, घानियो से तेल निकालना, व्यवसायी ग्रामीण जुलाहो द्वारा हाथ करघों से कपडा बुनना, चमड़ा रंगने का ग्रामीण उद्योग, गाडी बनाना, नाव बनाना (नदियों वाले जिलों मे), इत्यादि। ये उद्योग भारतीय गावो की अर्थ-व्यवस्था के अभिन्न अङ्ग हैं।

वर्ग ग तथा घ—(अल्पकालिक तथा पूर्णकालिक नागरिक कुटीर उद्योग)—नागरिक क्षेत्रों मे कुटीर उद्योग प्रायः श्रमिकों को पूर्णकालिक रोजगार ही प्रदान करते है। इनमें ये उद्योग शामिल है, जैसे सोने चांदी के तार का काम, लकड़ी व हाथी दांत की नक्काशी का काम, पीतल और कांसे का उद्योग, खिलौने बनाने का काम, सिल्क का कपड़ा बनाने का उद्योग, केलिको (Calico) की छपाई और रंगाई का काम इत्यादि।

लघु उद्योग—कुटीर उद्योगो की भांति लघु-उद्योग भी ग्रामीण और नागरिक दोनो प्रकार के हो सकते हैं। ये भी आगे अंशकालिक और पूर्णकालिक दो प्रकार के हो सकते है नीचे इनके उदाहरण दिये जा...

* फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पृ० ...१०५।

कुटीर तथा लघु उद्योग

- कुटीर उद्योग
  - ग्रामीण
    - अंशकालिक (अधिकांशतः कृषि के सहायक) — क
    - पूर्णकालिक (अधिकांशतः ग्रामीण शिल्प) — ख
  - नागरिक (Urban)
    - अंशकालिक (कुछ नागरिक शिल्प) — ग
    - पूर्णकालिक (अधिकांश नागरिक शिल्प) — घ
- लघु उद्योग
  - नागरिक तथा उपनागरिक (Urban & Suburban)
    - अंशकालिक (अधिकांशतः मौसमी उद्योग) — च
    - पूर्णकालिक (अधिकांशतः लघु कारखानी उद्योग — छ
  - ग्रामीण
    - अंशकालिक (अधिकांशतः मौसमी उद्योग) — ज
    - पूर्णकालिक ([illegible] मशीनें — झ

ems of I

वर्ग च (अंशकालिक नागरिक व उपनागरिक लघु-उद्योग) :—इसमे अधिकांशत: नागरिक क्षेत्रो के वे मौसमी उद्योग शामिल है, जिनमे अंशकाल-श्रम (Part-time Labour) लगा होता है, जैसे ईंट बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना इत्यादि।

वर्ग ■ पूर्णकालिक नागरिक व उपनागरिक लघु-उद्योग) :—इसमे नागरिक क्षेत्रो मे पूरा वर्ष चलने वाले (बारहमासी) छोटे कारखाने शामिल है, जैसे छोटे होजरी कारखाने, इन्जीनियरिंग के कारखाने, सूत लपेटने के अटेरन बनाना, बेलनो के चमडे Roller Skins) बनाना, टेप (Tape) या पट्टिया बनाना, छापेखाने इत्यादि।

वर्ग ज (अंशकालिक ग्रामीण लघु-उद्योग) :—इसमे ग्रामीण क्षेत्रो के वे सब मौसमी कारखाने शामिल है जो मुख्यत. कृषि उपज के विधायन (Processing) से सम्बन्धित हैं जैसे चावल व आटे की मिलें, खडमारी कारखाने (कुछ क्षेत्रो मे) और गुड बनाना आदि।

वर्ग झ (पूर्णकालिक ग्रामीण लघु-उद्योग) .—गावो मे पूरा वर्ष पूर्णकाल-कार्य प्रदान करने वाले लघु-उद्योग बहुत ही कम हैं। राजकोषीय उद्योग के मत मे, अत इस दिशा मे नये उद्योग स्थापित करने का सबसे अधिक क्षेत्र है। प्रारम्भ मे, केवल कम से कम कौशल व अपेक्षाकृत हल्के (कम वजन के) कच्चे माल के प्रयोग पर आधारित उद्योग जैसे कि बटन, कघे, चमडे की हल्की वस्तुएं, केन और बांस का बना फर्नीचर, अंगराग की साधारण सामग्री बनाने आदि के उद्योग स्थापित किये जाने चाहिये। बाद मे धीरे-धीरे अधिक कौशल और भारी उपकरणो का प्रयोग करने वाले अधिक पेचीदा उद्योग, जैसे कि कृषि औजार, हाथ-करघे के सह-साधन (Handloom Acessories), प्रतिदिन के प्रयोग के बर्तन, किरमिच के जूते, रबड के जूते, साइकिलो के हिस्से, घड़ियो के हिस्से आदि बनाने के उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं।

भारत में कुटीर उद्योग —भूतकाल मे भारत की औद्योगिक उन्नति के बारे मे १६१८ के औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) ने कहा था कि "जिस समय पश्चिमी यूरोप मे जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे, उस समय भारत अपने शासको की अपार सम्पत्ति तथा अपने शिल्पकारो के स्तुत्य कला-कौशल के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। बहुत बाद मे भी जब भ्रमणशील एवं साहसी पाश्चात्य व्यापारिक यात्री सर्वप्रथम भारत मे आये, तब यहाँ का औद्योगिक विकास यूरोप के उन्नतिशील [illegible] के मुकाबले मे किसी प्रकार कम नही था।" * प्रो० वेबर का कहना [illegible] के शिल्पकार नाजुक तन्तुओ से कपडा बुनने मे, रंगो के मिश्रण [illegible] मे, नगों की जडाई करने मे तथा अन्य अवशिष्ट कला के का[illegible] लिये प्रारम्भ

* इन्डस्ट्रियल कमीशन, १६१८ रिपोर्ट

से ही विश्व-प्रसिद्ध थे।"[१] ढाका की मलमल तथा अन्य सूती कपड़ों, रेशमी कपड़ों, ऊनी शाल-दुशालों, लोहे तथा अन्य धातुओं की बनी वस्तुओं सोने और चाँदी के तार बनाने की कला, पत्थर कला, चन्दन काष्ठ कला, कामदार चूड़ियाँ बनाने की कला, पत्थर पर खुदाई करने तथा जेवरों पर सोने का काम करने की कला आदि में भारत प्रसिद्ध था। चमड़ा कमाने और चमड़े का सामान बनाने की कला तथा कागज और तेल, इत्यादि बनाने के कला-कौशल भी भारत में प्रचलित थे। कितने ही परदेशी यात्रियों ने भारत की कला और उससे सम्बन्धित उद्योगों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारत के ये उद्योग केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करते थे वरन् अपनी निर्मित वस्तुएं विदेशों को भी भेजते थे।

परन्तु १९वीं शताब्दी में कई कारणों जैसे देशी राज दरबारों व सरदार-सामन्तों का संरक्षण समाप्त हो जाना, मशीनों से बने सस्ते माल की प्रतियोगिता, रेलों तथा यातायात के अन्य सस्ते तथा द्रुतगामी साधनों के विकास के कारण इस प्रतियोगिता का और भी विस्तार, ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश सरकार की प्रतिकूल नीति, भारत सरकार की विमुखता आदि कारणों से भारत के शताब्दियों पुराने, परन्तु समृद्ध उद्योगों तथा कला-कौशलों का पतन होने लगा। १९वीं शताब्दी के मध्य तक इनमें से बहुत से नष्ट प्राय हो गये। तथापि, अब भी कुछ उद्योग बचे हैं जो पिछले १००-१५० वर्षों के विरोधी वातावरण में जैसे-तैसे अपना अस्तित्व बनाए हुये हैं। अब भी वे बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार प्रदान करते हैं। (३१ की जनगणना के आँकड़ों के आधार पर डा० वी० के० आर० वी० राओ (Dr. V. K. R V Rao) ने यह अनुमान लगाया है कि कुटीर उद्योगों में ९१.४२ लाख व्यक्ति, लघु-उद्योगों में ७.२८ लाख व्यक्ति, और विशाल उद्योगों में केवल १४.०२ लाख व्यक्ति लगे हुए थे।* १९५१-५२ में कुटीर उद्योगों में लगभग २ करोड़ व्यक्ति लगे हुए थे।) अब भी वे देश की, विशेषतः ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, और उसका एक अभिन्न अंग हैं। तथापि, इन सब की दशा अत्यन्त शोचनीय है। देश की अर्थ-व्यवस्था में इनका महत्व तथा इनके लाभों को ध्यान में रखते हुए इनकी कठिनाइयों को दूर करना तथा इनका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। नीचे हम पहले इनका भारत की अर्थ-व्यवस्था में महत्व पढ़ेंगे। फिर, इनकी कठिनाइयों व दोषों का विश्लेषण करेंगे। इसके बाद यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि इन कठिनाइयों व दोषों को दूर करने के उपाय क्या हैं, इस सम्बन्ध में सरकार की क्या नीति है, और वह क्या कर रही है।

---

[१] इन्डस्ट्रियल कमीशन १९१८ रिपोर्ट पृष्ठ २९५।

*Essay on 'Small Scale & Cottage Industries' by Dr. V.K.R.V. Rao in Industrial Problems of India, Ed. by P C. Jain 3rd Edition, p 104.

लघु-उद्योग हमारी अर्थ-व्यवस्था में हाल ही मे पनपे हैं। तथापि, इनमें लगे हुए लोगों की संख्या की दृष्टि से ये अभी विशेष महत्वपूर्ण नहीं हुए हैं। परन्तु इन का भविष्य बड़ा उज्जवल है।

कुटीर व लघु-उद्योगों का भारत की अर्थ-व्यवस्था में स्थान तथा महत्व

कुटीर व लघु उद्योगों का विरोधी पक्ष—पिछले कुछ वर्षों से देश की अर्थ-व्यवस्था मे कुटीर व लघु उद्योगो के महत्व को पुनः माना जाने लगा है। इस से पूर्व इनको विशेष महत्व नही दिया जाता था, और यह सोचा जाता था कि कुटीर उद्योग दिनातीत हो चुके हैं; और किस समय के साथ इनका विनाश अवश्यम्भावी है। आज भी ऐसे लोगों की कमी नही है, जो केवल विशाल उद्योगो के ही पुजारी हैं। उनके अनुसार आधुनिक यन्त्र-युग मे कुटीर व लघु उद्योग एक (Anachronism) हैं। उनके विकास को प्रोत्साहन देना औद्योगिक व आर्थिक प्रगति की गति को आगे बढ़ने से रोकना ही नही, वरन पीछे लाना है। इस धारणा का मुख्य आधार एक है। वह यह कि उनके मत मे विशाल उद्योगो की तुलना मे कुटीर व लघु उद्योगो की प्रावैधिक कार्यकुशलता (Technical Efficiency) बहुत कम होती है, क्योंकि इन उत्तरोक्त (Latter) उद्योगों मे स्वयचालित मशीनों का प्रयोग न कर, अधिकांश काम हाथों से या साधारण मशीनो से होता है, और दूसरे, इन्हें विशाल उद्योगों को उपलब्ध बड़े पैमाने की आन्तरिक व बाह्य बचतें प्राप्त नहीं होती। अतः इनके प्रोत्साहन से कई एक हानियां होती हैं। इससे एक तो देश की प्रौद्योगिक प्रगति (Technological Progress) रुक जाती है। दूसरे, इससे देश मे धन का उत्पादन कम होता है, जिससे एक ओर, जहां लोगो को उपभोग के लिये कम वस्तुएं उपलब्ध होती हैं, और उनका रहन-सहन का स्तर ऊपर नही उठ पाता, वहां, दूसरी ओर लोगो की बचत करने की शक्ति कम होती है, जिससे देश मे पूंजी-निर्माण कम होता है। देश मे पूंजी का कम मात्रा मे निर्माण होना देश के द्रुत आर्थिक विकास के मार्ग मे सब से बड़ी बाधा है। श्रम और पूंजी की दी हुई मात्रा से कम मात्रा मे धन के उत्पादन का यह अर्थ है कि इन साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग नहीं हो रहा है अर्थात कुछ साधनों का अपव्यय हो रहा है। इससे वस्तुओं की उत्पादन लागत ऊंची पड़ती है, और उनके मूल्य भी ऊंचे रहते हैं। इसमे उपभोक्ताओं के रूप मे सम्पूर्ण समाज को हानि होती है। अतः इनके विकास को प्रोत्साहन देना देश के आर्थिक हित मे नही है।

कुटीर व लघु उद्योगों के पक्ष में तर्क—विशाल उद्योगो के पक्ष मे और कुटीर तथा लघु उद्योगो के विरुद्ध ऊपर दिये गये तर्क 'प्रावैधिक कार्यकुशलता' के प्रश्न पर आधारित हैं। ऊपर के तर्कों मे यह मान लिया गया है कि कुटीर उद्योग सदा परम्परागत विधियों से ही चलाये जायेंगे, कि अतः कुटीर तथा लघु उद्योगों की प्रावैधिक कार्यकुशलता मे सुधार नही किये जा सकते। परन्तु ऐसा मान लेना हमारी भारी भूल होगी, और प्रौद्योगिकी (Technology) के क्षेत्र मे होने वाले आधुनिक विकासों के प्रति आंखें मूंद लेना होगा। विद्युत शक्ति के विकास ने तथा उससे चलने वाली मोटरों

ग्रौर छोटी छोटी मशीनो ने ग्रब दशा को काफी बदल दिया है। राजकोषीय ग्रायोग (Fiscal Commission), १६४६–५० के शब्दो मे, "··· ग्रौद्योगिक उन्नति की ग्राधुनिक प्रवृत्तिया कुछ प्रकार के कुटीर तथा लघु उद्योगों के पक्ष मे संतुलन का निवारण कर रही हैं। शक्ति के स्रोत के रूप मे भाप-इंजिन (Steam Engine) के स्थान पर बिजली की मोटरो ग्रौर ग्रन्तर्दहन-इंजिनो (Internal Combustion Engines) के प्रतिस्थापन ने कुछ निर्माण उद्योगो मे उत्पादन इकाइयो के ग्रार्थिक पैमाने को कम करने की ग्रोर प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है। इसी प्रकार विद्युतशक्ति के प्रयोग से सम्बन्धित 'समायोज्य मशीनो ग्रौजारो' (Adjustable Machine Tools) का विकास भी इसी दिशा मे कार्यशील हो रहा है।"[1] इस प्रकार ग्राधुनिक ग्रौद्योगिक विकास कुटीर तथा लघु उद्योगो की सापेक्षिक स्थिति को मजबूत ही बना बना रहे हैं।

यह तो रही ग्राधुनिक ग्रौद्योगिक विकास की बात, जबकि लघु उद्योगो के विकास को विशिष्ट रूप से ध्यान मे रखकर ग्रनुसधान नही किये जाते रहे हैं। परन्तु भविष्य मे यदि इस उद्देश्य को सामने रखकर ग्रनुसंधान किये जायें तो कोई कारण नही कि विज्ञान तथा ग्रौद्योगिकी (Technology) ऐसी उत्पादन-विधियाँ तथा ऐसी मशीनो व यन्त्रो का विकास न कर सके, जो लघु उद्योगों के लिये विशिष्ट रूप से उपयुक्त हों ग्रौर उनकी प्रावैधिक कार्यकुशलता मे पर्याप्त वृद्धि के स्रोत हो।

ग्राधुनिक-कृत (Modernised) कुटीर तथा लघु उद्योगो की ऊपर बतलाई गई इस सापेक्षिक शक्ति के कारण ही इन उद्योगो ने संयुक्त राज्य ग्रमेरिका (U. S A.), यू० के० (U. K.), जर्मनी ग्रौर जापान जैसे ग्रौद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की ग्रर्थ-व्यवस्थाग्रो मे भी सदा ही बडा स्थान धारण किया है। इस तथ्य को बहुधा ग्रच्छी प्रकार से समझा नही जाता। ग्रतः नीचे हम इससे सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण ग्राकडे देते हैं। ··· १६४८ मे सयुक्त राज्य ग्रमेरिका मे १ मे ४ श्रमिको की १८ लाख ग्रौद्योगिक संस्थायें थी। हाल ही के ग्रनुमान के ग्रनुसार संयुक्त राज्य ग्रमेरिका मे व्यावारिक संस्थाग्रो मे ६२·५% छोटी व्यवसाय संस्थायें हैं, जिनमे देश के ४५% श्रमिक कार्य करते हैं ग्रौर जिनके द्वारा सम्पूर्ण व्यवसाय का ३४% भाग पूरा किया जाता है। यू० के० (U. K.) मे, सरकारी ग्रनुमान के ग्रनुसार, ५ से ३० के बीच श्रमिकों वाले कारखाने कुल रोजगार का २६% भाग प्रदान करते हैं ग्रौर कुल उत्पादन का १६% भाग उत्पन्न करते हैं। जर्मनी मे १६२५ मे १ से ५ के बीच वाली छोटी संस्थायें कुल कार्यशील जनसंख्या के २२·३% भाग को रोजगार प्रदान करती थी। जापान मे यह प्रतिशत बहुत ऊंची थी। वहा १६३० मे ५ से कम श्रमिको वाले कारखानो मे ५३% ग्रौद्योगिक जनसंख्या काम करती थी।*

जब ग्रौद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की ग्रर्थ-व्यवस्थाग्रो मे कुटीर व लघु उद्योगों का इतना बडा स्थान है तब भारत जैसे कृषि प्रधान, ग्रर्धविकसित परन्तु

1 Fiscal Commission (1949-50) Report, p. 100-101.

* Source Fiscal Commission (1949-50) Report p. 101-102.

प्रतिवासित (Over-populated) देश मे जहां जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही हैं, जहा बेकारी और अपर्याप्त रोजगार (Under employment) की समस्या बड़ा विकट रूप धारण कर चुकी है, जहा अकुशल श्रम की अधिकता तथा पूंजी व कुशल श्रम की अत्यधिक कमी है, और जहा कुटीर उद्योगों व दस्तकारियो (Handicrafts) की बहुत प्राचीन परम्परा है, वहा इन कुटीर व लघु उद्योगो के महत्व को बढा-चढा कर कहने की आवश्यकता नही है। भारत की विशिष्ट वर्तमान परिस्थितियो में इनका कई दृष्टिकोणो से विशेष महत्व है। हाल ही मे (जून, १९५५ मे) ग्राम व लघु उद्योग (द्वितीय पंचवर्षीय योजना) समिति ने जिसे उसके अध्यक्ष प्रो० डी० जी० कर्वे के नाम के पीछे 'कर्वे समिति' भी कहते है (और आगे जिसका हम इस छोटे नाम से ही उल्लेख करेंगे), इनके महत्व और द्वितीय पचवर्षीय योजना में इनके योग पर अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। इस समिति ने भी इन नीचे दिये दृष्टिकोणों से इन उद्योगों का देश की अर्थ-व्यवस्था मे बडा महत्व बताया है। नीचे हम इनका अध्ययन करते हैं।

(१) पूर्ण रोजगार (Full Employment) की प्राप्ति की आवश्यकता :— भारत मे इस समय बहुत बडी मात्रा मे बेकारी और अपर्याप्त रोजगार की गम्भीर समस्या है। द्वितीय योजना मे योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि भारत में १९५५-५६ मे लगभग ५३ लाख व्यक्ति पूर्णतया बेरोजगार थे। (इसके अतिरिक्त, देश की जनसंख्या जितनी तेजी से बढ रही है, उसे ध्यान मे रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति वर्ष लगभग १८ लाख नये व्यक्ति नये काम की खोज में श्रम-बाजार मे शामिल हो जाते हैं। अतः १९६०-६१ तक लगभग १ करोड़ और व्यक्तियो के लिये काम प्रदान करने की समस्या होगी। इस प्रकार १९६०—६१ तक देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिये १५३ लाख व्यक्तियो के लिये काम उत्पन्न करना होगा)। इनमे जो लोग केवल अपर्याप्त रूप से रोजगार प्राप्त (Under employed) है, उनकी संख्या शामिल नही है। ऐसे लोगो की ठीक-ठीक संख्या का पता भी नही है। परन्तु यह निश्चित है कि उनकी संख्या भी बहुत बड़ी होगी क्योंकि भारत के प्रमुख व्यवसाय, खेती मे लगे लोगो को वर्ष भर में केवल ६—७ महीने ही काम मिलता है, शेष समय वे बेकार रहते हैं। फिर वैकल्पिक रोजगार अवसरो (Alternative Employment Opportunities) के अभाव में खेती मे आवश्यकता से अधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मौसमी उद्योगो, जैसे चीनी के कारखानो आदि मे लगे श्रमिक भी वर्ष मे कुछ महीने बेकार रहते हैं। इस प्रकार से बडी संख्या मे बेकार और अपर्याप्त रूप से रोजगार प्राप्त लोगो का देश मे होना देश की मानव-शक्ति की बर्बादी का द्योतक है। साथ ही, आय मे वितरण की दृष्टि से यह जीवन-निर्वाह के स्तर से भी नीचे स्तर पर रहने वाले अत्यल्प आय वाले लोगो के वर्ग की बडी विकट समस्या उत्पन्न करता है। ऐसी परिस्थितियो में आर्थिक विकास के किसी भी कार्यक्रम में दो बातें आवश्यक हो जाती हैं। (i) एक तो यह कि ऐसे कार्यक्रम से और प्रौद्योगिक बेरोजगारी (Technological Unemployment) बिल्कुल भी नही बढनी चाहिये। (इस प्रकार की प्रौद्योगिक बेरोजगारी बढ़ने का सबसे अधिक भय 'परम्परागत (Traditional)

हस्त व लघु उद्योगों में है। कृषि में अभी तक इस प्रकार की बात नहीं हुई है। अतः यहां आधुनिक प्रविधियों (Modern Techniques) को इस प्रकार से बदलकर व अनुकूल बनाकर अपनाना चाहिये जिससे कि इन उद्योगों में लगा श्रम और पूंजी बेकार न हो जाय। यहां हमें यह समझ लेना है कि यह आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन अथवा अनुकूलन (Adaptation) से भारत में आधुनिक प्रविधियों की प्रगति रुक जायेगी)।

(ii) दूसरे, आर्थिक विकास का कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे विभिन्न क्षेत्रों में अधिक से अधिक रोजगार उत्पन्न हो। कुटीर लघु उद्योगों का विशेष महत्व यहां आकर विशेष रूप से प्रकट होता है। पिछले ५०–६० वर्षों में देश में विशाल उद्योगों ने पर्याप्त उन्नति की है, जिसके फलस्वरूप भारत इनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली बहुत सी वस्तुओं में अब आत्म-निर्भर हो गया है, और कुछ वस्तुओं (जैसे सूती कपड़े) की आयात के स्थान पर निर्यात भी करने लगा है। परन्तु फिर भी इन उद्योगों में अभी तक कुल लगभग ३० लाख व्यक्तियों को ही काम मिला हुआ है और यह तब जबकि ये उद्योग मुख्यतः उपभोग वस्तुओं के उद्योग रहे हैं। अब और आगे भविष्य में पूंजी वस्तुओं के उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जायेगा और यह निश्चित है कि उपभोग वस्तुओं के उद्योगों की अपेक्षा पूंजी वस्तुओं के उद्योगों में अधिक पूंजी और कम श्रम लगता है। ऐसी दशा में केवल विशाल उद्योगों के विकास द्वारा कितने और लोगों को रोजगार प्रदान किया जा सकता है, यह स्पष्ट ही है। (कुछ लोगों के अनुसार, विशाल उद्योगों के विकास के लाभ देखते समय हमें केवल यह ही नहीं देखना चाहिये कि उनमें प्रत्यक्ष रूप से कितने अतिरिक्त लोगों को रोजगार मिला, परन्तु हमें इनके विकास के, व्यापार, यातायात, बैंकिंग आदि के द्वारा रोजगार अवस्था पर जो गौण प्रभाव (Secondary Effects) होते हैं उन्हें भी देखना चाहिये। यह बात ठीक है परन्तु हमें याद रखना चाहिये कि रोजगार अवस्था पर गौण प्रभाव तो कुटीर तथा लघु उद्योगों के भी होते हैं और फिर कई विशाल उद्योगों के विकास के मुख्य गौण प्रभाव ही कुटीर तथा लघु उद्योगों का अनिवार्य विकास है। उदाहरणार्थ लोहे और इस्पात के उद्योग के विकास के फलस्वरूप लोहे और इस्पात से छोटी छोटी वस्तुएं बनाने वाले पचासों लघु उद्योगों, इंजीनियरिंग शालाओं व मरम्मत घरों का खुल जाना। ऐसी दशा में विशाल उद्योगों का विकास कुटीर व लघु उद्योगों के विकास के विरुद्ध पड़ कर उनका सहायक ही होगा।

तब कुटीर व लघु उद्योगों का विकास अधिकतम मात्रा में रोजगार प्रदान करने के लिए आवश्यक है। विशाल उद्योगों की तुलना में इनकी मुख्य विशेषता यह है कि ये श्रमपरक (Labour-intensive) होते हैं। इनमें पूंजी कम और श्रमिक अधिक लगते हैं। पूंजी और श्रम का अनुपात वैसे तो भिन्न-भिन्न उद्योगों में भिन्न-भिन्न होता है। तथापि उदाहरण के लिए यहां सूती कपड़ा बुनने के उद्योग के

आँकड़े देकर बात को स्पष्ट किया जा सकता है। यह नीचे दी गई तालिका* में किया गया है:—

भारत में सूती वस्त्र की बुनाई

	प्रति श्रमिक पूंजी का विनियोग (रु०)	प्रति श्रमिक उत्पादन (रु०)	उत्पादन का अनुपात	पूंजी की प्रति इकाई नियोजित श्रमिक
आधुनिक मिल (विशाल उद्योग)	१,२००	६५०	१·६	१
शक्ति करघा (लघु उद्योग)	३००	२००	१·५	४
स्वय-चालित करघा (कुटीर-उद्योग)	६०	८०	१·१	१३
हाथ करघा (,,)	३५	४५	०·८	३४

आज की दशाओं में जबकि देश में पूंजी और शिक्षित श्रमिकों की बहुत कमी है, और जबकि देश के द्रुत आर्थिक विकास के लिए अन्य अधिक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण उद्योगों, जैसे लोहे और इस्पात के उद्योग, आदि मूलभूत व भारी उद्योगों, के लिए ये स्वल्प साधन अधिक से अधिक मात्रा में चाहियें, तब यह और भी आवश्यक हो जाता है कि उपभोग-वस्तुओं की माग को हम अधिकाधिक मात्रा में इन कुटीर व लघु-उद्योगों से पूरा करें। जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, इनके चलाने में कम मात्रा में पूंजी चाहिये। इनमें प्रयोग की जाने वाली मशीनें व औजार अधिक आसानी से देश में ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। इनका चलाना अपेक्षाकृत अधिक आसान होता है। अतः इनमें बहुत अधिक शिक्षित श्रम की आवश्यकता नहीं होगी।

फिर हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इन उद्योगों में पहले से ही पूंजी व श्रम के रूप में साधन लगे हुए हैं। वर्तमान दशाओं में कुटीर व लघु उद्योगों को प्रोत्साहित न करके इन साधनों को वहां से निकलने पर बाध्य करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं होगा।

(२) कृषि में जनसंख्या के दबाव को कम करने की आवश्यकता—हम जानते हैं कि देश की खेती में आवश्यकता से अधिक जनसंख्या लगी हुई है। यह इसलिये क्योंकि पिछले ३०-४० वर्षों में जहां देश की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती रही है वहां, देश का आर्थिक विकास रुका रहने के कारण, रोजगार के अवसर उसी तेजी से नहीं बढ़ते रहे हैं। फलस्वरूप ग्रामीण जनता को खेती पर ही अधिकाधिक निर्भर होना पड़ा है, और खेती में जनसंख्या का दबाव अत्यधिक बढ़ गया है। इसके परिणामस्वरूप देश में खेतों का उपविभाजन व अपखण्डन भी खूब बढ़ा है, और अधिकांश खेतों का आकार बहुत छोटा और अनार्थिक हो गया है। खेती के विकास व युक्तिकरण (Rationalisation) की किसी भी योजना में खेती में लगे फालतू लोगों को

* P. S. Lokanathan, "Cottage Industries and the Plan", in Eastern Economist, 23 July, 1943, quoted by Wadia and Merchant in Our Economic Problem', 4th ed. p. 660.

यहां से हटाकर अन्य लाभप्रद कार्यों में लगाना, और इस प्रकार प्रति खेतिहर जोत के औसत आकार को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। इनके बिना खेती की उन्नति की कोई आशा नहीं की जा सकती। खेती में इस समय कितने फालतू लोग लगे हुए हैं, इस के बारे में अभी निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु तो भी सामान्य अनुमान यह है कि खेती में लगी हुई कम न कम १५-२० प्रतिशत जनसंख्या खेती के लिये अवश्य फालतू है। इस अतिरिक्त जनसंख्या को खेती से अन्य उद्योगों में किसी न किसी प्रकार खपाना है। यही नहीं, देश की जनसंख्या में प्रतिवर्ष ४५ से ५० लाख व्यक्तियों के बीच वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह है कि इसमें से ७०% अर्थात् ३१.५ से ३५ लाख के बीच व्यक्तियों की वृद्धि खेती पर आश्रित लोगों की होती है। परन्तु खेती में जब पहले से ही लगे हुए लोगों को निकाल कर अन्य कार्यों में खपाने की आवश्यकता है, तब खेती में इन नये आने वाले लोगों के लिये स्पष्ट ही कोई स्थान नहीं होगा। अतः इन नव-आगन्तुकों को भी खेती से अन्य कार्यों में खपाना होगा। विशाल उद्योगों में लोगों को खपाने या रोजगार प्रदान करने की कहां तक क्षमता है यह हम पहले ही बतला आये हैं। ५० वर्ष के पिछले विकास के पश्चात् भी इनमें इस समय केवल ३० लाख व्यक्ति ही लगे हुए हैं। भविष्य के १५-२० वर्षों में इनका द्रुत विकास यदि इतने ही लोगों को और कार्य प्रदान कर दे, तो भी समस्या हल नहीं होती। अतः इस क्षेत्र में भी श्रम-परक (Labour-intensive) होने के कारण कुटीर व लघु उद्योगों का अधिकतम विकास ही सर्वोत्तम उपाय है।

(३) **खेतिहरों को सहायक आय के स्रोत की आवश्यकता**—यह बात सर्वविदित है कि भारत के किसान बहुत निर्धन हैं और उनका रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है। यह इसलिये, क्योंकि एक तो भारतीय खेती पिछड़ी होने के कारण उन्हें पर्याप्त आय नहीं देती। दूसरे, उनके पास सहायक आय के स्रोत बहुत कम हैं। ऊपर हम यथास्थान यह भी बता आये हैं कि भारत में खेती एक पूर्णकाल व्यवसाय (Wholetime Occupation) नहीं है। देश के अधिकांश भागों में खेती उसमें लगे लोगों को वर्ष भर में औसतन ५-६ मास ही काम प्रदान करती है। शेष समय में लोग बेकार रहते हैं। ऐसी दशा में कुटीर उद्योगों का गांवों में विकास अत्यन्त आवश्यक है। इससे जहां किसानों को बेकार समय में करने के लिये काम मिलेगा, वहां इनकी आय भी बढ़ेगी। विशाल उद्योग यहां सहायक सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि किसान ऐसे ही उद्योगों को चला सकते हैं जिनमें कम पूंजी की आवश्यकता हो, जो सरल हों, जिन्हें सुविधानुसार मर्जी जब चलाया व बन्द किया जा सके, जिनमें उत्पन्न वस्तुओं की मांग स्थानीय ही हो, जिससे कि उत्पादित माल को बेचने में कोई कठिनाई न आये, जिनमें प्रयोग किया जाने वाला कच्चा माल स्थानीय गांवों में ही मिल जाय, आदि, आदि। ये सब शर्तें ग्राम-उद्योग (Village Industries) ही पूरी करते हैं। अतः भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इनका विशेष महत्व है।

(४) 'सामाजिक लागत' का सिद्धान्त (Theory of 'Social Cost')—विशाल उद्योगों को कुटीर व लघु उद्योगों से बहुधा इसलिये अच्छा समझा जाता है, क्योंकि विशाल उद्योगों के माल की उत्पादन-लागत कुटीर व लघु उद्योगों के माल की उत्पादन लागत की अपेक्षा काफी नीची होती है। परन्तु उत्पादन-लागतों की इस तुलना में सदा ही केवल 'निजी लागत' (Private Cost) को ही लिया जाता है, 'सामाजिक लागत' ('Social Cost') को नहीं। 'निजी लागत' से हमारा अभिप्राय उत्पादन के उस खर्चे से है, जो उत्पादक को स्वयं उठाना पड़ता है। 'सामाजिक लागत' का मतलब उस उत्पादन के फलस्वरूप उस खर्चे से है, जो उत्पादक द्वारा स्वयं न उठाया जा कर, सारे समाज को उठाना पड़ता है। अतः सारे समाज के दृष्टि-कोण से विशाल और कुटीर तथा लघु-उद्योगों की उत्पादन लागतों की सही तुलना करने के लिये इन 'निजी' व 'सामाजिक' दोनों प्रकार की लागतों को ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसा कि राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission), १९४९-५० ने बताया है, बहुत सी सामाजिक लागतें ऐसी हैं जो विशाल उद्योगों के विकास के साथ बड़ी मात्रा में पड़ती हैं, जबकि गाँवों में कुटीर व लघु उद्योगों के विकास से बहुत छोटी मात्रा में पड़ती हैं। इन सामाजिक लागतों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

(i) रहने के मकानों, और सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं की व्यवस्था की बड़ी मात्रा में लागत—यह लागत नगरों में विशाल उद्योगों के विकास के लिये अनिवार्य है, परन्तु गांवों में स्थित कुटीर व लघु उद्योगों के सम्बन्ध में काफी कम की जा सकती है;

(ii) 'सामाजिक बीमे' की लागत—यह लागत विशाल उद्योगों में रोजगार में उतार चढ़ावों के कारण उत्पन्न होती है, कुटीर व लघु उद्योगों में यह लागत बहुत ही छोटी मात्रा में होगी। यह इसलिये क्योंकि विशाल उद्योगों में जिस प्रकार श्रमिक अपनी मजदूरी की आय पर, निर्भर होते हैं, उसी प्रकार कुटीर व लघु उद्योगों के श्रमिक इस आय पर निर्भर नहीं होते। दूसरे, इसलिये भी, क्योंकि गाव का या स्थानीय बाजार अपेक्षाकृत बन्द होता है। अतः उसमें वस्तुओं की मांग व रोजगार में बहुत बड़े उतार चढ़ाव नहीं आते।

(iii) रहन-सहन की परम्परागत विधियों में परिवर्तन आने की लागत—विशाल उद्योगों के विकास के साथ यह परिवर्तन आना अनिवार्य है; परन्तु गावों में स्थित कुटीर व लघु-उद्योगों के विकास के साथ उतना आवश्यक नहीं है। भारत की कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में यह बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

यदि ऊपर बताई गई विभिन्न प्रकार की सामाजिक लागतों को भी ध्यान में रखा जाय, तो कुटीर अथवा लघु उद्योगों और विशाल उद्योगों में उत्पन्न वस्तुओं की उत्पादन-लागत में विशेष अन्तर नहीं रहेगा।

(५) उद्योगों के विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) तथा समान क्षेत्रीय वितरण (Equitable Regional Distribution) की आवश्यकता:—विशाल

उद्योगों की एक विशेषता यह है कि वे कुछ एक स्थानों में केन्द्रित होने की अर्थात् स्थानीयकरण अथवा केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति रखते हैं। इस केन्द्रीयकरण की कई एक सर्वमान्य हानियां हैं, जैसे कि औद्योगिक केन्द्रों के दोष, इन औद्योगिक केन्द्रों में ऊंची सामाजिक लागतें, युद्ध के समय में वायुयानों से बमबारी द्वारा इन केन्द्रों के पूर्ण विनाश के द्वारा देश की आर्थिक शक्ति के नष्ट हो जाने का भय, देश के विभिन्न भागों की असन्तुलित आर्थिक उन्नति आदि। उद्योगों के विकेन्द्रीकरण से ये हानियां दूर हो जाती हैं। इसके अन्तर्गत अपेक्षाकृत छोटे छोटे उद्योग देश के विभिन्न भागों में विस्तृत रूप से फैले होते हैं। इससे अन्य लाभों के साथ-साथ, देश के विभिन्न भागों का सन्तुलित आर्थिक विकास होता है और वहां के स्थानीय साधनों का भी पूर्ण प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त, लोगों को रोजगार प्रदान करने की दृष्टि से यह कहीं अच्छा है कि काम को ही लोगों के घरों तक ले जाया जाय, बजाय इसके कि उन्हें काम की खोज में गावों और कस्बों और अपने घरों के स्वास्थ्यपूर्ण तथा सुखद वातावरण से उखाड़ कर अत्यधिक भीड़ वाले औद्योगिक नगरों में बड़े-बड़े कारखानों में काम दिलाया जाय।

(६) आय और धन के वितरण में असमानता में कमी :—आय और धन के वितरण में अत्यधिक असमानता और मजदूरों का शोषण बहुत बड़ी सीमा तक बड़े स्तर के उद्योगों और उनके व्यक्तिगत स्वामित्व का परिणाम है। कुटीर उद्योगों के विकास से ऐसा नहीं होगा। इससे कुटीर उद्योगों में काम करने वालों की आय में बहुत कम असमानता होगी, और भाड़े के मजदूर न होने के कारण उनके शोषण का प्रश्न ही नहीं होगा।

(७) अन्य कारण :—स्थानीय उपज के विधायन (Processing) के लिये और केवल स्थानीय मांग की वस्तुओं के उत्पादन के लिये कुटीर व लघु उद्योग ही सर्वोत्तम हैं। इनके उत्पादन की विधियां ऐसी होती है कि ये बड़ी आसानी के साथ अपने उत्पादों को स्थानीय मांग में परिवर्तन के अनुसार बदल सकते हैं। फिर इनके बेचने की व इनके वितरण की लागत भी अपेक्षाकृत कहीं कम होती है। कलापूर्ण वस्तुओं और व्यक्तिगत रुचि को पूरा करने वाली वस्तुओं का उत्पादन भी छोटे स्तर पर ही लाभदायक रहता है।

ऊपर लिखी बातों से भारत की अर्थ-व्यवस्था में कुटीर व लघु उद्योगों का महत्व भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है

कुटीर व लघु उद्योगों की कठिनाइयां व उन्हें दूर करने के उपाय*

ऊपर हम पृष्ठ ४३ पर कुटीर व लघु उद्योगों का वर्गीकरण पढ़ आये हैं। वहां दिये गये विभिन्न वर्गों के उद्योगों की अपनी अपनी समस्यायें हैं। यहां हम

* उपायों के लिये कृपया इसी अध्याय में आगे 'प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुटीर व लघु उद्योग' शीर्षक के अध्ययन को देखिये।

स्थानाभाव के कारण उनका अलग अलग अध्ययन नही करेंगे।*१ यहां तो हम सभी प्रकार के कुटीर व लघु उद्योगो की मुख्य साझी कठिनाइयों का अध्ययन करेंगे।

यह तो हम इसी अध्याय मे ऊपर यथास्थान कह ही आये हैं कि भारत में कुटीर उद्योग सुखद स्थिति मे नही हैं। "कुछ उद्योग तो बिलकुल मर चुके हैं, कुछ अन्य मृतप्राय हैं और कुछ पानी पर तिनके के समान संघर्ष कर रहे हैं।"* यह इसलिये, क्योकि इन्हे पिछली कई शताब्दियो से गम्भीर कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है। ये कठिनाइया मुख्यतः कच्चे माल, निर्माण-प्रविधि, वित्त, विपणन, संगठन, कर, सरकारी नीति आदि से सम्बन्धित हैं। नीचे हम इन कठिनाइयो का तथा साथ ही इन्हे दूर करने के उपायो का अध्ययन करते हैं :—

(१) कच्चे माल की पूर्ति :— कुटीर तथा लघु उद्योगो मे काम करने वालों की एक कठिनाई यह है कि उन्हे पर्याप्त मात्रा मे कच्चा माल नही मिलता, और जो माल मिलता भी है, वह घटिया किस्म का होता है और अपेक्षाकृत ऊंचे दामो पर मिलता है। यह इसलिये क्योकि बडी मात्रा मे अच्छी किस्म का कच्चा माल मध्यजन नगरो मे बडे कारखानो को बेच देते हैं। इससे एक तो उनके द्वारा बनाई गई वस्तुएं घटिया किस्म की रह जाती हैं, दूसरे उनकी उत्पादन लागत अपेक्षाकृत ऊंची पड़ती है। कुछ कुटीर उद्योग अपने कच्चे माल के लिये बडे स्तर के उद्योगो पर निर्भर होते हैं, जैसे हाथ करघा उद्योग, सूत के लिये सूत कातने वाली मिलो पर निर्भर है। बहुत बार इसे मिलो से पर्याप्त सूत नही मिलता, जैसे कि द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे मिलो द्वारा स्वयं अधिक कपडा बनाया जाने के कारण, हाथ करघो को इस काम मे सूत की बहुत कमी पड गई थी। किसी भी प्रकार के संगठन के अभाव में, अकेला कारीगर असहाय होता है, वह दशा को सुधारने के लिये कुछ नही कर सकता। छोटे कारखानादारो की स्थिति भी इस दिशा मे विशेष अच्छी नही है।

उपाय :— इस कठिनाई को दूर करने का उपाय यह है कि कारीगरों की सहकारी समितिया (Industrial Co-operatives) संगठित की जाय। ये सहकारी संगठन, अन्य कार्यों के साथ, साझे रूप से सदस्यो के लिये कच्चा माल खरीदने का कार्य करें। कच्चे माल के अपेक्षाकृत बड़े ग्राहक होने के कारण ये संगठन अपने सदस्यों को अच्छी किस्म का कच्चा माल उचित मूल्य पर और आवश्यक मात्रा में खरीद कर दे सकेंगे। सरकार को भी चाहिये कि वह ऐसी 'औद्योगिक सहकारी समितियों' को कुटीर कारीगरो मे प्रोत्साहित करें। लघु उद्योगों को लोहा और इस्पात व सीमेंट आदि कच्चा माल देने के लिये 'राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम' (National Small

*१ ऐसे अध्ययन के लिये कृपया फिस्कल कमीशन, १९४९–५० की रिपोर्ट के पृष्ठ १०६–११२ को देखिये।

* "भारतीय अर्थशास्त्र". ले० ड्यूवेट तथा सिंह, तृतीय हिन्दी संस्करण पृष्ठ २८५।

Industries Corporation) कई एक डिपो खोलने पर विचार कर रहा है। ऐसा एक डिपो परीक्षण के तौर पर लुधियाना मे खोला गया है।

(२) *प्राचीन व पिछड़ी हुई उत्पादन-विधियां व औज़ार* :—भारत मे कुटीर उद्योगों में आज भी शताब्दियो, पुराने औजार, जैसे कि तेल निकालने की पुरानी घानिया, जुलाहे का हाथ करघा, आदि प्रयोग मे लाये जाते हैं। इनकी शक्ल-सूरत, *आकार आदि मे कोई परिवर्तन नही आया है। फलस्वरूप इन औज़ारो को प्रयोग* करने वाली उत्पादन विधिया भी बहुत पुरानी और पिछडी हुई हैं। इन उत्पादन-विधियो का पिछड़ापन गावो मे चमडा कमाने या मिट्टी के बर्तन बनाने या किसी अन्य उद्यो। मे भली भाति देखा जा सकता है। इस पिछड़ेपन के फलस्वरूप इनका उत्पादन मात्रा मे कम, किस्म व समापन (Finish) मे घटिया और वही घिसे-पिटे ढंग का तथा एकरूपतारहित और लागत मे महगा होता है। इससे इनकी प्रतियोगी दशा को धक्का लगता है और इनके लिये बाजार मे माग बहुत सीमित होती है।

लघु उद्योगो मे भी शैल्पिक ज्ञान की बहुत कमी है। उनकी उत्पादन-विधिया व उनकी मशीने व औज़ार भी बहुत उन्नत व आधुनिक ढंग के नही हैं।

इस पिछड़ेपन का मुख्य कारण यह है कि कुटीर व छोटे उद्योग धन्धों के औज़ारो, उत्पादन-विधियो और उत्पादो के क्षेत्र मे कोई अनुसन्धान नही किया जाता है। *मध्यजन, वैज्ञानिक, आविष्कारक, सरकार सभी इन ओर विमुख रहे हैं* और इनमे लगे कारीगर, साधनो व शिक्षा की कमी के कारण, स्वयं कुछ कर नहीं सकते।

उपाय :-कुटीर उद्योगो की प्रावैधिक कार्यकुशलता (Technical Efficiency) को बढाने और इनमे उत्पादन लागत को कम करने के लिये आवश्यक है कि इनमे प्रयोग किये जाने वाले औजारो व उत्पादन-विधियो मे सुधार किये जाय। सुधार *की इस दिशा मे अभी अपार क्षेत्र पड़ा है। इसके लिये अनुसन्धान की आवश्यकता* है। यह अनुसन्धान स्वयं कारीगरो व लघु उद्योगपतियो के बूते की बात नही है। अतः सरकार व इन उद्योगो के अखिल भारतीय सगठनो को इस ओर अग्रसर *होना चाहिये।*

परन्तु यहा हमे दो तीन बातो को और ध्यान मे रखना होगा। एक तो यह कि नये औज़ारो व नई उत्पादन-विधियो का केवल आविष्कार ही काफी नहीं है। इन्हे कारीगरो मे लोकप्रिय बनाना और यह देखना कि वे इन्हे वास्तव में अपनाते है, भी आवश्यक है। इसके लिये प्रदर्शन, प्रचार, नई प्रविधियों में शिक्षा का प्रबन्ध आदि सभी कुछ आवश्यक होगा। इस कार्य का बडा भाग सरकार को स्वयं करना होगा। साथ ही नये औज़ारो के उत्पादन व पूर्ति का भी समुचित प्रबन्ध करना होगा।

दूसरे कई एक उद्योगों में नई मशीनें ऐसी होंगी जो बिजली से चलने वाली हो। इनके लिये देश मे बिजली के उत्पादन को बढाना और कस्बों तथा गांवों में

इन उद्योगो तक पहुंचाना आवश्यक होगा। साथ ही यह भी देखना होगा कि कुटीर व लघु-उद्योगो को सस्ती दर पर यह बिजली प्रदान की जाय। आजकल केवल बिजली के बड़े उपभोक्ताओ को ही सस्ती दर पर बिजली दी जाती है। गांवो में भी बिजली पहुँच जाने से देश की अर्थव्यवस्था वास्तव मे प्रगतिशील और विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के रूप मे औद्योगीकरण के मार्ग पर आगे बढ़ सकेगी।

परन्तु साथ ही यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि इन नये औजारों, शक्ति-चालित मशीनों व नई उत्पादन-प्रविधियो को इस प्रकार अपनाया जाय कि इनसे देश मे 'प्राविधिक बेकारी' (Technological Unemployment') बिल्कुल भी न फैले। १६५५ की ग्राम व लघु-उद्योग समिति (कर्वे समिति) ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर विशेष रूप मे जोर दिया है।

(३) वित्त (Finance) की कठिनाई :—कुटीर व छोटे उद्योगो की एक और बहुत बड़ी और वास्तविक कठिनाई पर्याप्त मात्रा में व ब्याज की उचित दर पर वित्त का न मिलना है। कारीगरों व छोटे उत्पादको को कच्चा माल खरीदने व संग्रह करने तथा तैयार माल संग्रह करने व मजदूरी आदि देने के लिये अल्पकालीन अथवा कार्यशील (working) पूंजी चाहिये। साथ ही, औजार तथा अन्य उपकरण खरीदने, भूमि, इमारतो व मशीनों आदि मे विनियोग करने और जहां कुटीर-कारीगरों की 'औद्योगिक सहकारी समितिया हैं, वहां इन समितियो मे हिस्सा पूंजी देने के लिये, कारीगरो व छोटे उत्पादको को दीर्घकालीन व मध्यकालीन पूंजी चाहिये। उन्नत उपकरणो व उत्पादन-प्रविधियो तथा अलग से बनी इमारतो का] प्रयोग करने वाले उद्योगो मे दीर्घकालीन पूंजी की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता होती है। परन्तु इन विभिन्न आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये देश मे सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है। कारीगर बहुधा निर्धन हैं। उनके पास अपनी जमा पूंजी नहीं है। ऋण के लिये वे आवश्यक जमानत भी नही दे पाते। साथ ही उनकी पूंजी की मांग भी कम होती है। अतः बड़े उद्योगो व व्यापारियो को वित्त प्रदान करने वाले व्यापारिक बैंक उ ऋण देने में लाभ नहीं समझते। उन्हे ऋण देने के लिये अलग से सहकारी सं संस्थायें अथवा औद्योगिक सहकारी समितियां भी बहुत कम हैं। गांवो मे जो सहकारी साख समितियां हैं, वे प्रधानतः किसानो को ही ऋण देती हैं; उद्योगो को ऋण वे अपने क्षेत्र से बाहर का काम समझती हैं। 'उद्योगो को राज्य-सहायता अधिनि (State Aid to Industries Acts) के प्रावधानो के अन्तर्गत राज्य सरकार कुछ ऋण देती है। हाल ही मे राज्य-सरकारो द्वारा दिये जाने वाले ऋण कुछ मात्रा मे भी दिये जाने लगे हैं। परन्तु तब भी इस स्रोत से प्राप्त होने वाले आवश्यकता से बहुत कम है। 'राज्य वित्तीय निगम' ('State Financial Co ration') द्वारा भी अब बहुत सीमित मात्रा मे 'मध्यकालीन' व दीर्घकालीन दिये जाने लगे हैं। परन्तु इन सब से भी काम नही चलता। फलस्वरूप, ऋण छोटे उत्पादको को, साहूकारो व महाजनो पर ही निर्भर रहना पड़ता

(Uniform Quality) का अभाव, (iii) मशीनों द्वारा तैयार माल की तुलना में कुटीर-उत्पादों की ऊँची उत्पादन लागत, अतः ऊँचे मूल्य—यह कारण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, (iv) कुटीर-कारीगरों में किसी प्रकार के विपणन-संगठन का अभाव। अतः वे अपने माल की बिक्री के लिये पूर्णतया मध्यजनों पर निर्भर हैं। मध्यजन माल के विज्ञापन आदि पर कुछ खर्च नहीं करते, जिससे इनके बाज़ार का क्षेत्र विस्तृत नहीं हो पाता।

इन सब कमजोरियों के कारण कुटीर व लघु-उद्योग बड़े स्तर के उद्योगों की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर पाते हैं और इनके उत्पादों के बाज़ार का क्षेत्र सीमित ही रह जाता है।

उपाय :—विपणन के क्षेत्र में आवश्यकता इस बात की है कि कुटीर व लघु उद्योगों के माल की माँग बढ़ाई जाय और उत्पादकों को इस माल का उचित मूल्य दिलाया जाय। माँग को देश और विदेशों में दोनों जगह बढ़ाया जा सकता है। भारत ही अपनी बड़ी जनसंख्या के कारण, इसके लिये विशाल क्षेत्र प्रस्तुत करता है।* हाँ इसके लिये लोगों की क्रयशक्ति को बढ़ाकर दबी हुई आवश्यकताओं को जगाना होगा। साथ ही, विज्ञापन, प्रदर्शनियों, मेलों, भण्डारों (Emporium), शोभा-कक्षों (Show Rooms आदि के द्वारा कुटीर-उत्पादों का व्यापक प्रचार कर लोगों की रुचि इनके पक्ष में बदलनी पड़ेगी। इस दिशा में लखनऊ में उत्तर प्रदेश सरकार का 'कला तथा शिल्प-भण्डार' ('Arts and Crafts Emporium') और नई दिल्ली में 'केन्द्रीय कुटीर उद्योग भण्डार' (Central Cottage Industries Emporium) पहले से ही सराहनीय कार्य कर रहे हैं। हाल ही के वर्षों में इसी प्रकार के भण्डार अन्य बड़े नगरों में भी खोले गये हैं अथवा खोले जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्य सरकारें प्रमुख नगरों में अपने कार्य केन्द्रों (Work Centres) में दस्तकारी की वस्तुएं बनवातीं तथा बेचती हैं। इस दिशा में ही राज्य सरकारों को और आगे बढ़ना होगा। परन्तु केवल प्रचार से ही काम नहीं चलेगा। बड़े पैमाने पर उत्पन्न सस्ते माल से सफल प्रतियोगिता करने के लिये कुटीर व लघु उद्योगों की प्राविधिक कार्यकुशलता बढ़ानी होगी जिससे कि वे भी नीची उत्पादन लागत पर माल तैयार कर सकें और बेच सकें। साथ ही, उचित उपाय अपना कर कुटीर-उत्पादों में भी मशीनों से बने माल वाला समापन (Finish) और किस्म में

---

* अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन दल, १९५३–५४ जिसका अभी आगे चलकर जिक्र किया जायेगा, का भी इस सम्बन्ध में यह मत था कि 'भारतीय बाजार संसार के सब से बड़े सम्भाव्य (Potential) घरेलू बाज़ारों में से एक है। यदि यह बाज़ार नगरों और गाँवों दोनों में पूर्णतया विकसित किया जाय तो शायद यह अभी तक देखी गई सबसे बड़ी औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहित कर सकता है और भारत को विश्व में प्रमुख उत्पादक तथा उपभोक्ता देशों में से एक बना सकता है।"

एकरूपता लानी होगी। उचित संगठन के द्वारा उपभोक्ताओं की बदलती हुई रुचियों के अध्ययन की, तथा उसके अनुसार नये-नये डिजाइन निकालने की व्यवस्था करनी होगी। मध्यजनों पर निर्भरता को समाप्त अथवा कम करने के लिये कारीगरों को 'सहकारी विपणन संगठन' बनाने होंगे, जो, अन्य संस्थाओं के साथ, स्वयं भी ऊपर बताई दिशाओं में काम करेंगे।

विदेशों में संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रेलिया, तथा मध्य-पूर्व के देशों में हमारे कुटीर-उत्पादों की बिक्री के लिये अच्छा क्षेत्र है। इन देशों से पहले से ही हमारी दस्तकारी की तथा कलापूर्ण वस्तुओं की माग आती रही है। उचित उपाय अपनाकर इस माग को और बढ़ाया जा सकता है। यह देखा गया है कि इन देशों को एक साथ बड़ी मात्रा में और नमूने के अनुसार माल की आवश्यकता होती है। अतः हमें ऐसे ही माल की पूर्ति करनी चाहिये। इस दिशा में कुछ राज्यों में अपनाई गई 'गुण-चिन्ह योजना' (Quality Marking Scheme') बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है। अतः इसे सभी राज्यों में व्यापक रूप से अपनाया जाना चाहिये। साथ ही, विदेशों में स्थित हमारे व्यापार कमिश्नरों, और राजदूतों को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिये।

१९५२ में अमरीकन संस्था, 'फोर्ड फाउण्डेशन' की ओर से भारत में लघु उद्योगों की दशा का अध्ययन करने और उनकी उन्नति तथा विकास के सुझाव देने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन दल (International Planning Team) बुलाया गया था। इसने विपणन के क्षेत्र में निम्नलिखित कई एक संस्थाओं की स्थापना की सिफारिश की थी:—

(i) केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित एक स्वशासित 'विपणन-सेवा-निगम' ('Marketing Service Corporation'), जिसका कार्य उपभोक्ताओं की माँग का सर्वेक्षणों (Surveys) द्वारा पता चलाना, उत्पादकों को इन मांगों के अनुसार उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहित करना, आदि होना चाहिये। 'विपणन सूचना सेवा' (Marketing News Service) इस निगम का एक अभिन्न अङ्ग होना चाहिये। इसके द्वारा देश में और विदेशों में सभी प्रमुख बाजारों से सम्बन्ध स्थापित किये जाने चाहियें।

(ii) एक राष्ट्रीय रूपांकन विद्यालय' ('A National School of Designs') जो डिज़ाइन (रूपांकन) और फैशन में सृजनात्मक अध्ययन (Creative Studies) का केन्द्र हो।

iii) 'ग्राहक-सेवा निगम' (Customers Service Corporation), जो भारतीय और विदेशी क्रेताओं को माल की सन्तोषजनक पूर्ति सम्बन्धी सेवा प्रदान करे; और

(iv) निर्यात विकास कार्यालय (Export Development Offices)— एक उत्तरी अमरीका में, और एक योरप में। इनका काम दस्तकारी और कलात्मक वस्तुओं में विदेशी व्यापार प्रोत्साहित करना हो।

(५) संगठन का प्रभाव—भारत में कुटीर व लघु उद्योग संगठित नहीं हैं, जब कि छोटे व बिखरे हुए होने के कारण, उनका संगठित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस संगठन के अभाव में वे बड़े स्तर के संगठित उद्योगों से लगभग हर क्षेत्र में, जैसे कच्चा माल खरीदने, तैयार माल बेचने, वित्त प्राप्त करने, आदि में मार खाते हैं। इसी अभाव के कारण इन उद्योगों के क्षेत्र में अनुसंधान व अध्ययन आदि की कोई व्यवस्था नहीं है, जिससे एक अर्से से इनकी प्रगति रुकी हुई है। अतः इन उद्योगों की विभिन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिये इनका संगठित होना अत्यन्त आवश्यक है।

उपाय—इसके लिये उपाय यह है कि कुटीर उद्योगों में कारीगरों को औद्योगिक सहकारी समितियों में संगठित किया जाय। हाथ करघा उद्योग में बुनकरों की ऐसी बहुत सी समितियां संगठित की गई हैं और उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। अन्य कुटीर व लघु उद्योगों में भी इन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। इन समितियों के फिर आगे केन्द्रीय अथवा शिखर संगठन होने चाहियें। उधर पिछले कुछ वर्षों में केन्द्रीय सरकार ने उद्योगों के विभिन्न वर्गों के लिए अखिल भारतीय मण्डल तथा निगम स्थापित किये हैं। इन मण्डलों तथा निगमों का आगे यथास्थान जिक्र किया जायेगा। इनकी स्थापना से इन उद्योगों के विकास को काफी प्रोत्साहन मिला है। परन्तु इनके साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्राथमिक स्तर पर कारीगरों व लघु उद्योगपतियों को सहकारिता के आधार पर संगठित किया जाय।

(६) राज्य की नीतिः—देश में कुटीर व लघु उद्योगों की हीन दशा का एक और महत्वपूर्ण कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व विदेशी सरकार की इन उद्योगों के प्रति उपेक्षा की नीति रहा है। हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् से देश की केन्द्रीय सरकार व विभिन्न राज्य सरकारें इन उद्योगों के पुनर्स्थापन व विकास में लगी हुई हैं। इस दिशा में इन के द्वारा उठाये जाने वाले पगों का इसी अध्याय में आगे हम विस्तार सहित अध्ययन करेंगे। यहां तो केवल इतना कह दें कि बिना राज्य की सहायता तथा संरक्षण के इनका देश में भली भांति विकास तथा उन्नति करना लगभग असम्भव है।

( ) बड़े स्तर के उद्योगों की प्रतियोगिताः—कुटीर व लघु उद्योग ऊपर बतलाई गई विभिन्न कठिनाइयों तथा कमजोरियों के कारण बड़े स्तर के उद्योगों की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर पाते हैं, और अतः इनमें से बहुत सों का ह्रास हो रहा है। उदाहरणार्थ, तेल निकालने के लिए घानियों का स्थान तेल की मिलें ले रही हैं, चावल को हाथ से कूटने का स्थान बड़े-बड़े कारखाने ले रहे हैं, दियासलाई का कुटीर उद्योग बड़े दियासलाई कारखानों के सामने जम नहीं पा रहा है, इत्यादि, इत्यादि। परन्तु यहां हमें याद रखना है कि इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा का सभी प्रकार के कुटीर व लघु उद्योगों को सामना नहीं करना पड़ रहा है। कुछ कुटीर व लघु उद्योग बड़े स्तर के उद्योगों के प्रतियोगी हैं और कुछ नहीं।

लघु-उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए 'उद्योगों को राज्य सहायता अधिनियम' पास किये गये। परन्तु ये सब पद किसी निश्चित नीति के अंगों के रूप मे नही लिए गये थे। अतः इनसे इन उद्योगो को विशेष प्रोत्साहन नही मिला।

१६४७ में देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात सर्वप्रथम देश की अर्थ-व्यवस्था में कुटीर व लघु-उद्योगों के महत्व को भली प्रकार समझा गया। और देश की सरकार ने अपनी १६४८ की औद्योगिक नीति मे इसे पहली बार स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। पंचवर्षीय योजनाओं मे इनके विकास के निश्चित कार्यक्रम अपनाये गये हैं, और तदनुसार कई एक महत्वपूर्ण पद उठाये गये है। नीचे हम इनका अध्ययन करते हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कुटीर व लघु उद्योग—प्रथम योजना मे ग्राम उद्योगों को वही महत्व प्रदान नही किया गया था, जो कि इन्हे दूसरी योजना में प्रदान किया गया है। यह इसलिये, क्योंकि प्रथम योजना खाद्यान्न तथा अन्य कृषि उपज जैसे कच्ची पटसन व कपास आदि की कमी और युद्ध तथा विभाजन के द्वारा डाले गये भार की पृष्ठ भूमि मे बनाई गई थी। अतः इस योजना मे कृषि, सिंचाई, बिजली और यातायात को ऊंची प्राथमिकता दी गई थी। तथापि, इस योजना मे भी ग्राम व लघु-उद्योगों का देश की अर्थ-व्यवस्था मे, विशेषतया गाँवो मे (अपर्याप्त रोजगार प्राप्त) लोगों को रोजगार देने की दृष्टि से, महत्व पूरी तरह से माना गया था, और साथ ही, यह भी कहा गया था कि केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह इन्हे भी उतना ही महत्व प्रदान करे जितना कि कृषि को दिया गया है।

साथ ही, शायद सब से पहली बार सम्पूर्ण देश के दृष्टिकोण से और एकीकृत रूप (Integrated Manner) मे इन उद्योगो के विकास की कठिनाइयों और समस्याओं पर विचार करने का प्रयत्न किया गया था। इन उद्योगो के आर्थिक आधार को मजबूत बनाने वाली विभिन्न नीतियों और उपायो की सिफारिश की गई थी। योजना में निम्नलिखित दस ग्राम उद्योगों के विकास के कार्यक्रम भी शामिल किये गये थे— गाँवो मे तेल का उद्योग, नीम के तेल का साबुन बनाना, धान की भूसी निकालना, ताड का गुड बनाना, गुड और खांड का उद्योग, चमडा उद्योग, कम्बल उद्योग, हाथ मे कागज बनाना, मधुमक्खीपालन, और दियासलाई का कुटीर उद्योग। इसके अतिरिक्त, खादी और नारियल की जटा के धन्धे के विकास के बारे मे भी प्रस्ताव रखे गये थे। योजना का सामान्य उद्देश्य इन उद्योगो का पुनर्स्थापन करना था, जिससे कि ये ग्रामीण जनता को अतिरिक्त रोजगार प्रदान कर सकें।

योजनाकाल में उठाये गये पद—प्रथम योजनाकाल में इस क्षेत्र में निम्नलिखित दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण पद उठाये गये थे :—

(१) ग्राम और लघु उद्योगो के विकास के लिये अलग से एक धन-राशि रखी गई थी। मूल योजना मे केन्द्रीय सरकार द्वारा १५ करोड रु० और राज्य सरकारों द्वारा १२ करोड़ रु०, इस प्रकार कुल २७ करोड़ रु० व्यय किये जाने थे। संशोधित योजना में इस रकम को बढाकर लगभग ३० करोड़ रु० कर दिया गया था। इसके

अतिरिक्त, १९५३ में मिल में बने सूती कपडे पर लगाये गये ? पैसे प्रति गज के उपकर से प्राप्त धन खादी तथा हाथ करघा उद्योगो को वित्तीय सहायता देने के लिए प्राप्त होना था। अनुमान यह था कि इस प्रकार इन उद्योगो पर लगभग ४९·५ करोड रु० व्यय होगा। वास्तव मे ४३·७ करोड रु० की रकम व्यय हुई, जिसमे से ३३·६ करोड रु० का व्यय केन्द्रीय सरकार और उसकी संस्थाओ ने किया और शेष व्यय राज्यसरकारों ने किया। केन्द्रीय सरकार के इस व्यय मे २० करोड रु०की रकम ऊपर बताये गये उपकर से प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त, सामुदायिक विकास योजनाओ के बजट मे कुटीर उद्योगो के कार्यक्रम के लिए लगभग ७ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। वास्तव मे यहा ? ∽ करोड रु० ही व्यय किये गए।

(२) ग्राम और लघु उद्योगो के नियोजित विकास के लिये संगठन सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण पग निम्नलिखित ६ अखिल भारतीय मण्डलो की स्थापना अथवा पुनर्गठन था:—

(i) अखिल भारतीय हाथ करघा मण्डल (All India Handloom Board) ... (अक्तूबर, १९५२ मे स्थापित),

(ii) अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल (All India Handicrafts Board) ... (नवम्बर १९५२ मे स्थापित),

(iii) अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग मण्डल (All India Khadi & Village Industries Board) ... (फरवरी १९५३ मे स्थापित):

(iv) लघु उद्योग मण्डल (Small-Scale Industries Board) (नवम्बर, १९५४ मे स्थापित);

(v) केन्द्रीय सिल्क मण्डल (Central Silk Board) ... (अप्रैल १९५२ मे पुनर्गठित): और

(vi) नारियल की जटा मण्डल (Coir Board) ... (जुलाई, १९५४ में स्थापित)।

लघु उद्योगो के विकास के लिये लघु उद्योग मण्डल के अतिरिक्त निम्नलिखित संस्थाओं की भी स्थापना की गई थी—

(अ) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) ... (फरवरी, १९५५ मे स्थापित)

(आ) लघु उद्योगसेवा शालायें (Small Industries Service Institutes)

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने लघु उद्योगो के लिये एक विकास आयुक्त (Development Commissioner) की नियुक्ति की तथा राज्यो के उद्योग विभागो को और मजबूत किया गया।

ये मण्डल राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं, और अपने अपने क्षेत्र के उद्योगों के विकास के लिये, राज्य सरकारों व अन्य सगठनो के सहयोग से, प्राविधिक प्रशिक्षा विपणन की सुविधाओ, उत्पादो के प्रमापीकरण (Standardisation) और डिजाइनो

में सुधार, तथा कारीगरो को अन्य कई प्रकार की सहायता आदि प्रदान करते हैं। इनकी क्रियाओ से कुटीर व लघु उद्योगो व दस्तकारियो की दशा धीरे धीरे सुधर रही है और देश की अर्थ-व्यवस्था मे उनके महत्व तथा स्थान को माना जाने लगा है।

यहाँ प्रथम योजना की समाप्ति के पश्चात् इसी क्षेत्र में हुई निम्नलिखित दो और घटनाओ को बता देना अनुचित न होगा:—

(१) अप्रैल १९५७ मे अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग मण्डल के स्थान पर एक 'खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग' की नियुक्ति की गई है, जो इस मण्डल के सभी कार्यों को सम्पन्न करता है तथापि, इस आयोग को उसके कार्यों के सम्बन्ध मे सलाह देने के लिये एक खादी तथा ग्रामोद्योग मण्डल का भी संगठन किया गया है।

(२) अप्रैल, १९५८ मे 'भारतीय दस्तकारी विकास निगम' की स्थापना की गई है।

आगे हम 'राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम' तथा 'भारतीय दस्तकारी विकास निगम' के बारे मे संक्षेप मे पढते हैं। लघु उद्योग सेवाशालाओं के बारे में इसी अध्याय मे आगे यथास्थान पढा जायेगा।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)

स्थापना—इस निगम की स्थापना भारत सरकार ने फोर्ड संस्था के अन्त रॉष्ट्रीय नियोजन दल* की सिफारिश पर फरवरी, १९५५ में की थी।

यह निगम एक निजी सीमित कम्पनी (Private Limited Con pany' के रूप मे संगठित किया गया है। इसकी अधिकृत पूंजी १० लाख रु० जिसका पूर्ण रूप से भारत सरकार ने अभिदान (Subscribe) किया है। भार सरकार निगम को कार्यशील पूंजी प्रदान करने के लिये समय-समय पर ऋण त अनुदान देती है। इसके जन्म से लेकर ३१ मार्च, १९५८ तक केन्द्रीय सरकार निगम के लिए १·३० करोड रुपये के ऋण और २८ लाख रुपये के अनुदान स्वीक किये हैं। १९५८-५९ के बजट मे १·८० करोड रु० (१·२० करोड रु० के ऋण त ६० लाख रु० के अनुदान) की व्यवस्था की गई है।

उद्देश्य व कार्य—इस निगम का मुख्य उद्देश्य देश में लघु उद्योगो सहायता देना, वित्त प्रदान करना, उनका संरक्षण करना तथा उन्हे प्रोत्साहित क है। निगम के कार्य-क्षेत्र के दृष्टिकोण से लघु उद्योग उस उद्योग को माना जा जिसमे यदि बिजली का प्रयोग होता है तो एक पाली मे ५० अथवा इससे कम श्र कार्य करते हो, और यदि बिजली का प्रयोग नही होता है तो एक पाली मे १० अधिक व्यक्ति काम न करते हो, और जिसकी पूंजी सम्पत्ति ५ लाख रु० से अ की न हो। निगम के मुख्य कार्य निम्नलिखित होगें:—

(१) केन्द्रीय एव राज्य सरकारो से लघु उद्योगो के लिए पर्याप्त मा आदेश (Orders) प्राप्त करना;

* इस दल के बारे मे इसी अध्याय मे आगे यथास्थान देखिये।

(२) जिन लघु उपक्रमो ने इस प्रकार के आदेश प्राप्त किये हो, उन्हे वित्त तथा प्राविधिक सहायता, आदि प्रदान करना, जिससे वे आदेश की वस्तुओ को इच्छित प्रकार एवं प्रमाण की बना सकें.

(३) छोटे कारखानो को किराया-क्रय प्रणाली (Hire Purchase system) के आधार पर मशीनें देना.

(४) लघु उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ की बिक्री व्यवस्था मे सहायता देना—इसके लिये मुख्य उत्पादन-केन्द्रो मे थोक बिक्री के डिपो खोलना, और चलती फिरती गाडियो द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों मे लघु उद्योगो का माल बेचना.

(५) बडे उद्योगो एव लघु उद्योगो के बीच समन्वय लाने का प्रयत्न करना, जिससे कि लघु उद्योग बडे उद्योगो की आवश्यकता की गौण वस्तुओं तथा पुर्जों आदि को उत्पन्न कर सकें. और

(६) बैंकों तथा अन्य संस्थाओ से लघु उद्योगो को मिलने वाले ऋणो का अभिगोपन करना तथा गारण्टी देना।

कार्यकरण —निगम को स्थापित हुए तीन वर्ष से ऊपर हो गये हैं। इस छोटी सी अवधि में ही निगम ने सराहनीय कार्य किया है। इसने लघु उद्योगो को ३२ लाख रु० के सरकारी आर्डर प्राप्त कराये हैं। इसने राज्य व्यापार निगम की मार्फत रूस को एक बार २॥ लाख जोडे जूते और फिर ६५,००० जोडे जूते और पोलैंड को ५४,००० हजार जोड़े जूते भेजने के आर्डर प्राप्त किये है। इसने फरवरी १९५८ के अन्त तक किराया-क्रय प्रणाली के आधार पर दी जाने वाली कुल लगभग ३·२१ करोड रु० के मूल्य की लगभग ४ हजार मशीनो के लिये प्रार्थना पत्र स्वीकार किये, और इन मे से १·७४ करोड़ रु० के मूल्य की लगभग २६०० मशीनो के लिए बातचीत पूरी की। छोटे कारखानो मे बने माल को बेचने मे सहायता देने के लिये निगम ने निम्नलिखित स्थानो पर थोक बिक्री के डिपो खोले हैं:—आगरा (जूते), अलीगढ (ताले), खुरजा (मिट्टी के बर्तन), कलकत्ता सूती होजरी), लुधियाना (ऊनी होजरी, सिलाई मशीनें और साइकिलो के हिस्से), बम्बई (रग तथा वार्निश) और रेनीगुन्टा (काच के मनके)। छोटे कारखानो की लोहे तथा इस्पात सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये निगम ने लुधियाना मे कच्चे माल का एक डिपो भी खोला है। निगम ने लघु उद्योगो द्वारा बनाये गये माल को ग्रामीण क्षेत्रो मे बेचने के लिये तीन चलती फिरती गाडियां भी चलाई हैं।

सहायक निगम (Subsidiary Corporation):—निगम के कुछ कार्यो का विकेन्द्रीकरण करने के लिए फरवरी मार्च, १९५७ मे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली मे चार सहायक निगम स्थापित किये गए हैं। प्रत्येक सहायक निगम की अधिकृत पूंजी १० लाख रु० और परिदत्त पूंजी २॥ लाख रु० है।

भारतीय दस्तकारी विकास निगम (Indian Handicrafts Development Corporation) :—भारतीय दस्तकारियो के विकास और दस्तकारी की वस्तुओं को

देश-विदेश मे खपत बढाने के लिये भारत सरकार ने अप्रैल, १९५८ मे इस निगम की स्थापना की है। निगम की अधिकृत पूंजी १ करोड़ रु० है।

निगम का मुख्य उद्देश्य दस्तकारी की वस्तुओ के उत्पादन को वाणिज्यक आधार पर व्यवस्थित करना होगा, ताकि अधिक से अधिक चीजें तैयार करके विदेशो मे भेजी जा सकें और साथ ही घरेलू आवश्यकतायें भी पूरी हो सकें। इसके लिये निगम बिक्री-केन्द्र, एजेंसिया आदि खोलेगा और व्यापारिक कम्पनियो से सम्पर्क रखेगा। वह इस बात का भी सर्वेक्षण करेगा कि विदेशो मे भारतीय दस्तकारी की चीजें अधिक से अधिक कैसे खपाई जा सकती हैं। निगम सहकारी संस्थाओं और दस्तकारो की सहायता से तथा अपने उत्पादन-केन्द्र खोल कर अधिक माल तैयार करायेगा। इसके अतिरिक्त, निगम उत्पादन बढाने, उत्पादन के उन्नत तरीके अपनाने, अच्छी प्रबन्ध-व्यवस्था कायम करने और माल को खपत बढाने मे दस्तकारो की सहायता करेगा। तथापि, निगम अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल अथवा राज्य सरकारो के अन्य संगठनो की क्रियाओ को किसी प्रकार समाप्त नही करेगा।

सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम (Common Production Programme).—प्रथम पचवर्षीय योजना का एक और महत्वपूर्ण पहलू सम्बन्धित विशाल तथा लघु-उद्योगो के लिये सामान्य उत्पादन-कार्यक्रम के सिद्धान्त को अपनाना था। योजना मे यह सिफारिश की गई थी कि, सुधार के अन्य पक्षो के साथ, नीति का प्रथम उद्देश्य यह होना चाहिये कि प्रत्येक कुटीर उद्योग के लिये एक ऐसे क्षेत्र की व्यवस्था की जाय, जिसमे वह सगठित रूप से कार्य कर सके। जहां कहीं एक विशाल उद्योग व कुटीर उद्योग मे प्रतियोगिता हो, वहा (कार्यकुशलता, विकास के लिये क्षेत्र और रोज़गार की सम्भावना आदि बातो को ध्यान मे रखते हुए) सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इस कार्यक्रम को ऐसे चलाना चाहिये, जिससे कि दोनो प्रकार के उद्योग धीरे-धीरे घनिष्ट रूप से एक दूसरे के अंग हो जायें। ऐसे कार्यक्रम मे निम्नलिखित एक या अधिक बातें शामिल हो सकती हैं :—

(i) कुटीर उद्योग के लिये उत्पादन के क्षेत्रों को सुरक्षित रखना;

(ii) विशाल उद्योग की क्षमता के विस्तार पर रोक लगाना;

(iii) विशाल उद्योग के उत्पादन पर उपकर (Cess) लगाना—इससे प्राप्त धन से कुटीर उद्योग को विकासार्थ सहायता प्रदान करना;

(iv) कच्चे मालो की पूर्ति की व्यवस्था करना, और

(v) अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण आदि मे आदान-प्रदान एवं समन्वय स्थापित करना।

अभी तक किसी भी उद्योग के लिये पूर्ण रूप से तैयार सम्मिलित कार्यक्रम नहीं बनाया गया है। तथापि, कई एक लघु-उद्योगो के विकास एव सहायतार्थ ऊपर लिखी बातों में से एक या अधिक को अपनाया गया है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

कुछ प्रकार के सूती कपड़े (जैसे कुछ निश्चित चौड़ाई व किनारे की धोतियाँ, साड़ियाँ, लुंगियाँ आदि) का उत्पादन हाथ-करघा उद्योग के लिये सुरक्षित कर दिया गया है। बड़ी मिलों के उत्पादन पर १ पैसा प्रति गज की दर पर विशिष्ट उपकर (Special Cess) लगाया गया है और इस प्रकार प्राप्त धन-राशि (योजनाकाल में ३० करोड़ रु०) से हाथ-करघा और खादी उद्योग को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

चमड़े के जूतों और चमड़ा कमाने के उद्योग में पहले से स्थित बड़ी मिलों के पर्याप्त विस्तार अथवा नई बड़ी मिलों की स्थापना के सभी प्रार्थना-पत्रों की इस दृष्टि से परीक्षा की जाती है कि उनका कुटीर व लघु उद्योगों पर सम्भवतः क्या प्रभाव पड़ेगा। इस नीति के फलस्वरूप प्रथम योजना के आरम्भ से अब तक इस उद्योग में न तो कोई नई बड़ी मिल की स्थापना का और न ही पहले से स्थित बड़ी मिल के पर्याप्त विस्तार का कोई प्रार्थना-पत्र सरकार से अनुमति पा सका है। इसके अतिरिक्त, मार्च, १९५४ से चमड़े के जूतों के बड़े पैमाने के उद्योग पर उत्पादन-शुल्क लगा दिया गया है।

दियासलाई उद्योग में, दियासलाई की २५ ग्रुस डिब्बियाँ प्रतिदिन तक उत्पन्न करने वाले कारखानों का एक नया 'डी' (D) वर्ग शामिल किया गया है, और इन कारखानों को उत्पादन-शुल्क में मिलने वाली छूट (Rebate) को बढ़ा दिया गया है।

अन्य उद्योग :—बड़ी मिलों द्वारा कपड़े की छपाई को उनके १९४९–५४ की अवधि के अधिकतम उत्पादन तक सीमित कर दिया गया है। कपड़े-बनाने (Garment-making) के बड़े कारखानों की क्षमता के विस्तार पर रोक लगा दी गई है। नहाने के साबुन के उद्योग पर विभेदात्मक (Differential) उत्पादन-शुल्क लगाया गया है, और साबुन बनाने में प्रयोग होने वाले नीम के तेल व अखाद्य तेलों पर (१ आना प्रति सेर की) अर्थ-सहायता (Subsidy) दी जाती है। बहुत से अन्य उद्योगों, जिनमें कई प्रकार के कृषि-औजार, फर्नीचर, खेलों का सामान, स्लेटें व पेंसिलें, बाँही, लिखने की स्याही, चाक, मोमबत्तियाँ आदि के उद्योग शामिल हैं, यह निर्णय किया गया है कि उत्पादन का और विस्तार छोटे कारखानों के लिये सुरक्षित रखा जायेगा।

वित्त :—प्रथम योजना में ग्राम तथा लघु उद्योगों के विकास के लिये पर्याप्त वित्त की व्यवस्था पर भी बहुत जोर डाला गया था। इसके लिये दो मुख्य सुझाव रखे गये थे—एक तो ग्रामीण कारीगरों का 'औद्योगिक सहकारी समितियों' में सगठन, और दूसरा, राज्यों में वित्त निगमों (Finance Corporations) का सगठन। प्रथम योजनाकाल में 'औद्योगिक सहकारिता' ने तो बहुत कम प्रगति की है। केवल हाथ-करघा उद्योग में ही इसकी उन्नति उत्साहजनक रही है। तथापि, वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी अन्य दो दिशाओं में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं। एक तो लघु व मध्य

उद्योगो को वित्तीय सहायता देने के लिये १३ राज्यो मे 'राज्य वित्तीय निगम'* स्थापित किये गये हैं। १९५५-५६ मे इन निगमो ने ३ करोड़ रु० से अधिक के ऋण स्वीकार किये; इसमे से १·५ करोड़ रु० के ऋण वास्तव मे दिये गये। दूसरे, 'उद्योगो को राज्य-सहायता अधिनियम' (State Aid to Industries Acts) के अन्तर्गत कुटीर व लघु उद्योगो को दिये जाने वाले ऋणों के नियमों व शर्तों आदि को अधिक आसान कर दिया गया है, और अधिक मात्रा मे ऋण दिये जाने लगे है। योजना के अन्तिम दो वर्षों मे इन नियमो के अधीन लगभग ३ करोड रु० के ऋण स्वीकार किये गये थे।

शोध तथा प्रशिक्षण (Research and Training) :—प्रथम पचवर्षीय योजना मे यह सिफारिस की गई थी कि ग्राम उद्योगो, दस्तकारियो और लघु उद्योगो मे शोध तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था को अधिकतम महत्व प्रदान किया जाना चाहिये, और इसके लिये कई एक प्रकार की शोध व प्रशिक्षण संस्थाओ की स्थापना व कार्यक्रमो के अपनाने के प्रस्ताव रखे गये थे। तदनुसार, प्रथम योजना काल मे कईएक महत्वपूर्ण पद उठाये गये हैं।

लघु उद्योग सेवा शालायें (Small Industries Service Institutes) :—१९५३ मे भारत सरकार ने लघु उद्योगो की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये अमरीकन संस्था, फोर्ड फाउन्डेशन के द्वारा विशेषज्ञा का एक अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन दल बुलाया था। इस दल की सिफारिश पर बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली मे चार प्रादेशिक (Regional) 'लघु उद्योग सेवा शालायें' स्थापित की गई हैं। इनकी शाखायें त्रिवेन्द्रम्, हैदराबाद, पटना, लुधियाना, राजकोट और आगरा मे स्थापित की गई हैं। इलाहाबाद, कटक, शिलाग, इन्दौर, हुबली और बंगलौर मे भी ऐसी शाखा-शालाओ को खोलने का निर्णय लिया गया था। ये सेवा शालायें लघु उद्योगों को उन्नत प्रविधियो, उपकरणो, डिजाइनो और (Layouts) आदि के बारे में प्राविधिक सेवायें, सलाह और सहायता प्रदान करती हैं। इसके लिये इन शालाओ मे विभिन्न विषयो जैसे मेकेनिकल इंजीनियरिंग, वैद्युत इंजीनियरिंग, रासायनिक इंजीनियरिंग, चमड़ा कमाना, बढ़ईगीरी, लोहारी, आर्थिक गवेषणा, व्यापारिक प्रबन्ध, इत्यादि के विशेषज्ञ रहते हैं। कुछ विशिष्ट लघु उद्योगो, जैसे फाउन्ड्री (Foundry), सर्जिकल औज़ार आदि के लिये विदेशी विशेषज्ञों की सेवाओं को भी प्राप्त किया गया है।

अखिल भारतीय खादी तथा ग्राम उद्योग मण्डल ने ग्राम उद्योगों मे अनुसंधान के लिये वार्धा मे एक केन्द्रीय प्रौद्योगिक-शाला (Central Technological Institute) की तथा कारीगरों के प्रशिक्षण के लिये नासिक में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण-शाला और देश के अन्य भागों में क्षेत्रीय प्रशिक्षण-शालायें स्थापित की हैं।

* इनके विस्तृत अध्ययन के लिये कृपया अगले अध्याय मे यथास्थान देखिये।

लघु उद्योग मण्डल के कार्यक्रम मे कई उद्योगो, (जैसे बढई का काम, लोहारी, चमडे का काम और मिट्टी के बर्तनो का काम) के लिये आदर्श कार्य-केन्द्र (Model workshops), और कुछ अन्य के लिये केन्द्रीय कार्य-केन्द्रो और सेवा-केन्द्रो सहित सहकारी समितियो की स्थापना शामिल है।

अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल ने नये रूपाकनो व ढंगो (Designs & Patterns) और उन्नत विधियो मे शोध को सहायता दी है, दस्तकारी की वस्तुओ का विपणन सम्बन्धी सर्वेक्षण संगठित किया है और देश मे तथा बाहर दस्तकारी की वस्तुओ की प्रदर्शनियो का प्रबन्ध किया है।

इसके अतिरिक्त राज्य सरकारो की योजनाओ मे प्रशिक्षण सुविधाओ के लिये धन की व्यवस्था की गई है। १९५४–५५ तक इसके लिये ४ करोड रु० रखे गये थे।

प्रशिक्षण सुविधाये मुख्यत दो स्तर पर प्रदान की जाती हैं—एक तो औद्योगिक विद्यालयो (Industrial Schools) मे, और दूसरे, काम करने वाले कारीगरो को प्रशिक्षण व प्रदर्शन दलो तथा ट्यूशनल कक्षाओ (Tustional Classes) आदि के द्वारा।

विपणन (Marketing) :—दस्तकारी की वस्तुओ के विपणन के संगठन के सम्बन्ध मे प्रथम योजना मे यह सिफारिश की गई थी कि 'उपभोक्ता सहकारी समितियो' (Consumers' Co-operatives) को 'उत्पादक सहकारी समितियो' (Producers' Co-operatives) मे सम्बद्ध किया जाय, और भण्डार (Emporia) खोले जायें। तदनुसार, बडे नगरो मे खादी ग्रामोद्योग तथा दस्तकारियो के लिये बडे भण्डार खोले गये हैं। हाथ-करघा मण्डल ने प्रत्येक राज्य मे कई एक बिक्री-केन्द्र (Sales Depots) खोले हैं, और घूमती-फिरती बिक्री गाडिया (Mobile Sales Vans) भी चलाई हैं।

सरकार की सामान क्रय नीति (Governments' Store Purchase Policy) :—प्रथम योजना काल मे एक और महत्वपूर्ण बात यह हुई है कि सरकार ने सामान क्रय समिति (Stores Purchase Committee) की सिफारिश को सिद्धान्त: स्वीकार कर लिया है कि वह कुछ निश्चित प्रकार का सामान केवल ग्राम व लघु उद्योगो से ही खरीदे, और इन्हें बडे उद्योगो के माल के मूल्य से ऊंचा मूल्य दे। फलस्वरूप सरकार ने कुटीर व लघु उद्योगो से १९५२-५३ मे जहा ६६ लाख रु० का माल खरीदा था, वहा १९५४–५५ मे १०४ लाख रु० का माल खरीदा।

प्रगाढ़ क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Areas Programme) :—प्रथम योजना काल मे खादी और ग्रामोद्योग मण्डल ने ग्रामोद्योगो के विकास के लिए एक 'प्रगाढ़ क्षेत्र कार्यक्रम' आरम्भ किया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य २० से ३० हजार की जनसख्या के ३० से ४० गावो के सम्मिलित प्रदेश का सर्वांगीण आर्थिक विकास

करना और ग्राम उद्योगों का विकास इस विकास कार्यक्रम के एक अविभाज्य अङ्ग के रूप में करना है। प्रथम योजनाकाल में ऐसे ३५ 'प्रगाढ़ क्षेत्रों' में काम प्रारम्भ किया गया था।

औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates).—प्रथम योजना काल में लघु उद्योगों के विकास के लिये उठाया गया एक और महत्वपूर्ण पद औद्योगिक बस्तियों तथा उपनिवेशों (Colonies) की स्थापना है। १९५५-५६ में विभिन्न आकार की १५ औद्योगिक बस्तियों की स्थापना को स्वीकार किया गया था। ऐसी औद्योगिक बस्तियाँ बड़े कस्बों या नगरों के समीप उचित स्थानों पर स्थापित की जा रही हैं। इनके उदाहरण हैं नई दिल्ली के पास 'ओखला' और इलाहाबाद के पास नैनी में स्थापित की गई औद्योगिक बस्तियाँ। यहाँ या तो राज्य सरकार लघु उद्योगपतियों को स्थान (Sites) बेच देती है या किराया क्रय प्रणाली पर उठा देती हैं या इमारतें बनाकर उन्हें या तो किराये पर उठा देती है या सीधे अथवा किराया-क्रयप्रणाली पर बेच देती हैं। इन बस्तियों में सरकार कुछ सामान्य सेवायें प्रदान करती है। इन बस्तियों की स्थापना का एक मुख्य उद्देश्य यही है कि बहुत से लघु स्तरीय उद्योगों व कारखानों को एक ही स्थान पर स्थापित कर के सम्मिलित सेवाओं और अन्य सुविधाओं, जैसे कि अच्छा सुविधाजनक स्थान (site), बिजली, पानी, गैस, भाप, संचित हवा (Compressed Air), रेल से माल उतारने तथा चढ़ाने की सुविधा (Railway Sidings), सुरक्षा (Watch and Ward) आदि का लाभ प्राप्त कराया जाय। इससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ेगी, उत्पादन में एक समान प्रतिमान (standards) को बनाये रखा जा सकेगा और माल तथा उपकरणों का बचतपूर्ण प्रयोग होगा। साथ ही, पास पास स्थित होने के कारण, कुछ उद्योग अन्य उद्योगों की वस्तुओं और सेवाओं को अधिक अच्छी प्रकार प्रयोग कर पायेंगे जिससे वे परस्पर निर्भर व पूरक हो जायेंगे। साथ ही ये बस्तियाँ देश के उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में और प्रादेशिक औद्योगिक विकास में बहुत सहायक सिद्ध होंगी।

ये बस्तियाँ साधारणतः दो प्रकार की हैं: एक तो बड़े शहरों तथा शहरी क्षेत्रों के समीप बड़ी बस्तियाँ तथा दूसरी सामुदायिक विकास खण्डों में बनाई गई छोटी बस्तियाँ। बड़ी बस्ती बसाने पर लगभग २० से ३० लाख रुपये लागत आती है, सामुदायिक विकास खंडों की छोटी बस्ती की अनुमानित लागत लगभग २ से तीन लाख रु० है।*

सामुदायिक विकास क्षेत्रों में 'प्रयोग योजनायें' (Pilot Projects)—प्रथम पंचवर्षीय योजना में एक और महत्वपूर्ण सिफारिश यह की गई थी कि ग्राम उद्योग संगठित समूह के रूप में कार्य करने वाले ग्राम समुदाय के अंग होने चाहियें। अतः जब देश में सामुदायिक विकास योजनायें आरम्भ की गई, तब प्रत्येक योजना क्षेत्र में कुटीर व लघु उद्योगों के प्रोत्साहन के लिये निश्चित धन व्यवस्था की गई थी। परन्तु इस धन-राशि का वास्तविक प्रयोग उत्साहजनक नहीं रहा। योजना के

* उद्योग-व्यापार पत्रिका, जून, १९५८, अंक, पृष्ठ १०३८।

अन्तिम वर्ष में जाकर सामुदायिक विकास खण्डों में इन उद्योगों के उचित सगठन व प्रगाढ़ विकास के लिये २६ प्रयोग योजनायें (Pilot Projects) आरम्भ की गई थी।

परिणाम—केन्द्रीय व राज्य सरकारों तथा अखिल भारतीय मण्डलों के ऊपर बतलाये गये विकास प्रयत्नों द्वारा प्रथम योजनाकाल में विभिन्न उद्योगों में उत्पादन तथा रोजगार में कहाँ तक वृद्धि हुई है, इसे ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता। यह इसलिये क्योंकि एक तो देश में इस सम्बन्ध में आकड़े उपलब्ध नहीं हैं, और दूसरे, अधिकांश विकास-व्यय शोध, प्रशिक्षण विपणन, आदि सुविधाओं के सगठन पर किया गया है। इस प्रकार के व्यय से उद्योगों का प्राविधिक आधार मजबूत होता है, और भविष्य में उत्पादन तथा रोजगार बढ़ाने की शक्ति में वृद्धि होती है, तुरन्त ही उत्पादन तथा रोजगार नहीं बढ़ता। तथापि, कुछ उद्योगों में, जिन में अखिल भारतीय मण्डलों ने अपने प्रयत्न केन्द्रित किये थे, पर्याप्त उन्नति हुई है। उदाहरणार्थ, हाथ करघे के सूती कपड़े का उत्पादन १९५०-५१ में ७४ ? करोड़ गज था, १९५५-५६ में यह बढ़ कर १४५ करोड़ गज हो गया था। इसी प्रकार खादी का उत्पादन भी बढ़ा—१९५०-५१ में केवल १·३ करोड़ रु० की खादी तैयार की गई थी, १९५५-५६ में ५·३५ करोड़ रु० के मूल्य की खादी तैयार की गई थी। योजना में शामिल किये गये अन्य ९ ग्राम उद्योगों के विकास का कार्य भी आरम्भ हो चुका है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर व लघु उद्योग—प्रथम योजना की तुलना में द्वितीय योजना में कुटीर व लघु उद्योगों को कहीं अधिक महत्व प्रदान किया गया है, और तदनुसार इन के कहीं बड़े विकास-कार्यक्रम रखे गये हैं। इन कार्यक्रमों के सम्बन्ध में मुख्य नीति जून १९५४ में नियुक्त 'ग्राम तथा लघु उद्योग समिति' (जिसे उसके अध्यक्ष प्रो० कर्वे के पीछे 'कर्वे समिति' भी कहा जाता है) ने निर्धारित की है। अपनी सिफारिशें करते समय इस समिति ने मुख्यत. निम्नलिखित तीन ध्येय अपने सामने रखे थे—

(१) द्वितीय योजना काल में, जहाँ तक हो सके, और अधिक प्रौद्योगिक बेकारी (Technological unemployment), जो कि विशेषत परम्परागत ग्राम उद्योगों में होती है, न होने दिया जाय। (तथापि, समिति ने यह भी माना कि इन उद्योगों में भी, जहाँ तक तुरन्त सभव है, प्राविधिक उन्नति होनी चाहिये, और भविष्य में उन्नत प्रविधियों को धीरे-धीरे अपनाने का एक निश्चित कार्यक्रम होना चाहिये। साथ ही, जहां नई पूंजी का विनियोग किया जाना है, वहां यह यथासभव उन्नत उपकरणों में ही होना चाहिये।)

(२) योजनाकाल में ग्राम तथा लघु उद्योगों के द्वारा अधिक से अधिक लोगों को काम देने का यथासंभव प्रबन्ध किया जाय, और

(३) वास्तविक रूप में विकेन्द्रित (Decentralised) समाज के ढांचे का

आधार स्थापित किया जाय, तथा, साथ ही, तेजी से होने वाले प्रगतिशील आर्थिक विकास का सूत्रपात किया जाय।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की धारणा का अर्थ यह है कि देश में प्राविधिक सुधार इस प्रकार किये जाने चाहियें जिनसे यह नहीं कि केवल बड़े उद्योगों का ही विकास हो, जो कि कुछ एक बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में ही केन्द्रित हों, वरन् जिस से सम्पूर्ण देश के सभी भागों में विस्तृत रूप से बिखरे हुए छोटे उद्योगों की स्थापना संभव हो। गाँव वाले जिन उद्योगों को गाँवों में ही उन्नत विधि से चला सकें, उन का संगठन गाँवों में ही होना चाहिये। अन्य उद्योगों का आधुनिक ढंग से विस्तार सम्पूर्ण देश के सभी भागों में बड़े गाँवों और छोटे कस्बों में होना चाहिये, न कि नगरों व बड़े कस्बों की सीमाओं पर। इनमें सहकारी संगठन स्थापित कर इन्हें बड़े पैमाने की बचतें भी उपलब्ध करानी चाहियें, और गाँवों में बिजली, यातायात, उन्नत यंत्र व अच्छे कच्चे माल की सुविधायें भी प्राप्त होनी चाहियें। इस प्रकार "प्रगतिशील ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विस्तृत आधार पर उद्योगों का एक पिरामिड बनाया जाना चाहिये।" इस प्रकार की व्यवस्था आर्थिक जीवन में भी प्रजातन्त्रवाद लाने के लिये आवश्यक है। कर्वे समिति के शब्दों में "आत्म-नियोजन (Self-employment) का सिद्धान्त सफल प्रजातन्त्रवाद के लिये कम से कम उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि स्वराज्य (Self-government) का सिद्धान्त।"*

ग्राम तथा लघु उद्योगों के लिये धन की व्यवस्था तथा उसका वितरण

कुल व्यय—पहली योजना में ग्राम व लघु उद्योगों पर कुल लगभग ४८ करोड़ रु० की रकम खर्च की गई थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इन उद्योगों के लिये, २०० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इस में से २५ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार तथा १७५ करोड़ रु० राज्य सरकारें व्यय करेंगी।

इस २०० करोड़ रु० की धनराशि में अम्बर चर्खे के कार्यक्रम का खर्च शामिल नहीं है। उसके सम्बन्ध में जो परीक्षण किये जा रहे हैं, उनके पूरा हो जाने के बाद उसके लिये कार्यक्रम बनाया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त, योजना के प्रारम्भिक वर्षों में सरकार ग्राम तथा लघु उद्योगों के लिये तब तक चालू पूंजी (Working Capital) की व्यवस्था करेगी जब तक कि बैंकों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा उसकी समुचित व्यवस्था नहीं की जाती। चालू पूंजी की यह व्यवस्था भी २०० करोड़ रु० की इस रकम से अतिरिक्त होगी। इसके अतिरिक्त, विस्थापितों के पुनर्स्थापन के कार्यक्रम में ११ करोड़ रु० की व्यवस्था कुटीर तथा लघु उद्योगों व औद्योगिक क्षेत्रों के लिये और ७ करोड़ रु० की व्यवस्था व्यवसायिक (Vocational) तथा प्राविधिक (Technical) प्रशिक्षा के लिये की गई है। पिछड़े वर्गों के कल्याण के कार्यक्रम में भी व्यावसायिक तथा प्राविधिक प्रशिक्षा और कुछ चुने हुए ग्राम व लघु उद्योगों के लिये व्यवस्था है। सामुदायिक विकास खण्डों के बजट में भी इन उद्योगों के लिये लगभग १.५ लाख रु० प्रति खण्ड व्यवस्था है। इस प्रकार द्वितीय

---

*कर्वे समिति रिपोर्ट, पृष्ठ २२।

योजनाकाल मे ग्राम तथा लघु उद्योगो के विकास के लिये सरकार द्वारा काफी बड़ी रकम व्यय की जायगी।

वितरण.—विभिन्न उद्योगो पर ऊपर बतलाई गई २०० करोड रु० की रकम का वितरण फिलहाल इस प्रकार किया गया है:—

उद्योग	व्यय (करोड रु० मे)
१ हाथ करघा	५६.५
२. खादी	१६.७
३ ग्राम-उद्योग	३८.८
४ दस्तकारिया	६.०
५ लघु उद्योग	५५.०
६ अन्य उद्योग	६.०
७ सामान्य कार्यक्रम (प्रशासन, शोध, प्रशिक्षण, इम्पोरियम तथा बिक्री डिपो की व्यवस्था, आदि)	१५.०
योग	=२००

विकास कार्यक्रम—ऊपर की तालिका मे विभिन्न उद्योगो पर व्यय का वितरण दिया गया है। नीचे हम इन उद्योगो के विकास-कार्यक्रमो के बारे मे बहुत सक्षेप मे चर्चा करते है।

हाथ करघा—दूसरी योजना के प्रकाशन के समय तक सरकार 'अम्बर चर्खे' के कार्यक्रम के बारे मे कोई निर्णय नही ले पाई थी। अत मूल योजना मे कपडे के अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य का मिलो, शक्ति चालित करघो, हाथ करघो और खादी मे बटवारा नही किया गया था। तथापि, जून १९५६ मे ही घोषित भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति मे यह कहा गया है कि योजना के अन्त तक हाथ करघो से पहले की अपेक्षा १०० करोड गज अधिक कपडा उत्पन्न करना होगा। इसके लिये बुनकरो को सहकारी समितियो मे सगठित होने के लिए प्रोत्साहित किया जायेगा, और इन समितियो को कई प्रकार की सहायता दी जायेगी। हाथ करघो की प्रावैधिक कार्य-कुशलता को बढाकर प्रत्येक करघे के उत्पादन को बढाया जायेगा।

(२) खादी (सूती तथा ऊनी)—सूती खादी जो अब तक परम्परा से प्रचलित चर्खे के सूत से बुनी जाती है, वह भविष्य मे अधिकाश मे अम्बर चर्खे के सूत से बुनी जायेगी। खादी के उत्पादन को ३.४ करोड गज से बढाकर योजना के अन्त तक ६ करोड गज किया जायेगा। हाथ की कती ऊन से बनाई जाने वाली ऊनी खादी के विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत कम्बलो, प्रतिमानित (Sub-standard) कपड़ो तथा अन्य प्रकार के कपडो का उत्पादन बढाया जायेगा।

अम्बर चर्खो के व्यापक प्रयोग के द्वारा सून की कताई का विकेन्द्रीयकरण किया जायेगा और साथ ही, सूत का उत्पादन बढाया जायेगा। यह सूत हाथ करघा और खादी दोनो उद्योगो मे काम आयेगा।

ग्राम उद्योग—दूसरी योजना मे इन पाच मुख्य ग्राम उद्योगो का विकास किया जायेगा । (i) चावल की हाथ से कुटाई, (ii) वनस्पति तेल (घानी), (iii) चमड़े के जूते व चमड़ा कमाना (गावों मे), (iv) गुड़ तथा खाडसारी और (v) दियासलाई का कुटीर उद्योग । इनके अतिरिक्त, हाथ से बने कागज, ताड़ गुड़, साबुन, मधुमक्खी-पालन और मिट्टी के बर्तनों के उद्योग का भी विस्तृत रूप से विकास किया जायेगा । साथ ही अन्य परम्परागत उद्योगो जैसे रस्सियां बटना व टोकरियां बनाना, आदि को भी सहायता दी जायेगी । जैसा कि ऊपर की तालिका से स्पष्ट है, दूसरी योजना मे इन ग्राम उद्योगो के विकास पर कुल ३८·८ करोड रु० व्यय किया जायेगा । इसमे से २४·८ करोड रु० पहले पाच मुख्य ग्राम उद्योगो पर और शेष १४ करोड़ रु० अन्य ग्राम उद्योगो पर व्यय किया जायेगा ।

खादी और ग्राम उद्योग मण्डल की सामान्य योजनाओ मे से प्रगाढ क्षेत्र योजना (Intensive Areas Scheme) विशेष रूप से उल्लेखनीय है । १९५५-५६ मे इन 'प्रगाढ क्षेत्रो' की सख्या केवल ३५ थी; १९६०-६१ तक इसे २०० तक पहुचाने का प्रस्ताव रखा गया है । इसके अतिरिक्त, उपरोक्त मण्डल का एक व्यापक विपणन सगठन (Marketnig Organisation) बनाने का भी प्रस्ताव है, जिससे कारीगरो को कच्चा माल तथा औजार प्राप्त करने में और तैयार माल बेचने में सहायता मिल सके ।

दस्तकारियां (Handi-Crafts)—दस्तकारियो के विकास के लिए दूसरी योजना की अवधि मे रूपाकनों (Designs) मे सुधार के प्रयत्न किये जायेंगे, दस्तकारी की प्रविधियो मे शोध के लिए टेक्नीकल शोध सस्थाओ को सहायता दी जायेगी, कारीगरो को उन्नत औजार देने की व्यवस्था की जायेगी, विपणन-व्यवस्था को सुधारने के लिये कई उपाय अपनाये जायेंगे, और अनेक दस्तकारियो के लिए विविध राज्यो मे प्रशिक्षण तथा उत्पादन के संयुक्त केन्द्र स्थापित किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट हस्त-कलाओ के विकास के लिए भी योजनायें बनाई गई हैं ।

लघु उद्योग—जैसा कि ७५ पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है, दूसरी योजना मे लघु उद्योगों के विकास पर ५५ करोड़ रु० व्यय किये जायेंगे । इस मे से १० करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय किये जायेंगे, और शेष ४५ करोड रु० राज्य सरकारों द्वारा व्यय किये जायेंगे । केन्द्रीय सरकार के कार्यक्रम के अन्तर्गत 'लघु उद्योग सेवा शालाओं' द्वारा प्रदान की जाने वाली टेक्नीकल सेवाओ का और विस्तार किया जायेगा तथा औद्योगिक विस्तार सेवा (Industrial Extension Service) की स्थापना की जायेगी, मशीनों को किराये पर खरीदने की योजना (Hire-purchare Scheme) चलाई जायेगी, विपणन-सेवा की स्थापना की जायेगी, और कुछ चुने हुए उद्योगो और केन्द्रों मे प्रयोग योजनायें (Pilot Projects) चलाई जायेंगी ।

के लिये समुचित प्रबन्ध किया जायेगा। तदनुसार, अखिल भारतीय मण्डलों और राज्य सरकारों ने प्रशिक्षण तथा अनुसंधान की कई एक योजनायें बनाई है।

University Questions

1. Examine the importance of cottage industries in Indian economy. How can they hold their own against large scale industries? *(Agra 1958)*

2. Discuss the significance of cottage industries in solving the problem of unemployment in India. *(Agra 1957)*

3. Heavy, small and other industries—all need to be developed at the same time in the present economic conditions in India. Do you agree? Give reasons for your answer. *(Agra 1956)*

4. Do you think that there is a case for promoting cottage and small industries in India even if their products are somewhat more expensive? *(Delhi 1956)*

5. What role would you assign to cottage and small scale industries in devising a suitable industrial pattern for India? Give reasons in support of your answer. *(Delhi 1954)*

6. Analyse the problems of small scale and cottage industries in India. What suggestions would you make to ensure more rapid development of these industries? *(Delhi 1955)*

7. Examine the role that a policy of successful revival and encouragement of cottage and small scale industries is likely to play in bringing about economic progress in India. *(Patna 1956)*

8. "Large scale industries, however rapid their development and however great their expansion, cannot possibly absorb the growing numbers of the population and help further in reducing the already existing surplus population on the land."—(R. K. Mukherjee). Bring out, in the light of the statement, the limitations of large scale industries in India, and the importance of small & medium scale industry for creating employment for the large and growing population of India. *(Patna 1955)*

9. Describe briefly the place assigned to cottage industries in the five Year plan and indicate its importance for improving the standard of living of our rural population. *(Patna 1954)*

अध्याय २४

भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

प्राक्कथन

'वित्त आधुनिक उद्योग का जीवन-रक्त है'*। भूतकाल मे जब उद्योग बहुत छोटे स्तर पर चलाये जाते थे, और बहुधा स्थानीय बाजार की माग-पूर्ति के लिये छोटी मात्रा मे उत्पादन किया करते थे, तब प्रत्येक उद्योगपति को वित्त की भी छोटी मात्रा मे आवश्यकता होती थी और इसकी व्यवस्था करना भी अपेक्षाकृत सरल होता था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् से जब से उत्पादन बड़े स्तर पर होने लगा है तब से एक उद्योग को चलाने के लिए वित्त की भी बड़ी मात्रा में आवश्यकता पड़ने लगी है जिसे कोई एक व्यक्ति अकेला ही अपने पास से नहीं लगा सकता। अत किसी आधुनिक औद्योगिक उपक्रम (Industrial Enterprise) के स्थापित करने व सफलतापूर्वक कार्यकरण के लिये आवश्यक है कि उसे आवश्यक मात्रा में, आसानी के साथ और व्याज की उचित दर पर वित्त मिलता रहे। भारत मे छोटे व बड़े उद्योगो के धीमे विकास का एक मुख्य कारण वित्त की अपर्याप्ता रही है। अत देश के द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए तथा औद्योगिक उपक्रमो की असफलताओ को रोकने के लिये आवश्यक है कि उद्योगो को उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा मे वित्त प्रदान करने के लिये उचित सस्थाओ तथा स्रोतो को सगठित किया जाय तथा उनका विकास किया जाय। इस अध्याय मे हम मुख्यत बड़े स्तर के उद्योगो की वित्त-व्यवस्था के बारे मे पढ़ेगे। लघु व कुटीर-उद्योगो की वित्त-व्यवस्था के बारे मे सक्षेप मे हम पहले ही पिछले अध्याय मे यथास्थान पढ़ आये हैं।

वित्त की आवश्यकता व प्रकार—किसी भी उद्योग मे दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है —

(अ) स्थिर अथवा खण्ड पूंजी (Fixed or Blook Capital)—यह पूंजी भूमि खरीदने, कारखाने की इमारत बनवाने, मशीनरी खरीदने या चालू कारखाने की इमारत का विस्तार करने, नई मशीने लगाने आदि। स्थिर विनियोग के लिये चाहिये। यह पूंजी दीर्घकालीन होती है,

(ब) कार्यशील पूंजी (Working Capital)—यह पूंजी कच्चा माल खरीदने उनका तैयार माल बनाने, उनका सग्रह करने, मजदूरों को मजदूरी देने, तैयार माल की बिक्री की व्यवस्था करने तथा नित्य प्रति के अन्य छोटे-छोटे खर्चों को पूरा करने के लिये चाहिये। इस पूंजी का अधिकाश भाग अल्पकालीन होता है, यद्यपि इसका वह भाग जो कच्चे माल व अन्य वस्तुओ तथा तैयार माल के न्यूनतम

*"Finance is the life blood of modern industry"

संग्रहों (Stocks) को बनाये रखने में फंसा रहता है, स्थाई अथवा दीर्घकालीन होता है।

किसी उद्योग की अनुकूलतम इकाई (Optimum unit) अथवा प्रतिनिधि इकाई में कितनी मात्रा में स्थिर पूंजी व कितनी मात्रा में कार्यशील पूंजी लगती है, यहां हम इसका अध्ययन नहीं करेंगे। न ही हम यहां इस बात का अध्ययन करेंगे कि भारत के विभिन्न उद्योगों की स्थिर व कार्यशील पूंजी की वर्तमान आवश्यकतायें क्या हैं, क्योंकि कई एक कठिनाइयों के कारण इस प्रकार के विश्वसनीय तथा आधुनिक दशाओं में लागू होने वाले अनुमान उपलब्ध नहीं हैं यद्यपि किसी भी वास्तविक अध्ययन में इस प्रकार की आवश्यकताओं व वास्तविक उपलब्धियों के अनुमानों का जानना बड़ा आवश्यक है। यहां तो हम भारत में औद्योगिक वित्त के विभिन्न स्रोतों का संक्षेप में विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगे, और मोटे रूप से यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि वे कहां तक देश के उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त व उचित साधन हैं। इधर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश की सरकार ने उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए कई एक विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की है। उनका हम यहां विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

औद्योगिक वित्त के स्रोत (Sources of Industrial Finance)—भारत में बड़े स्तर के उद्योगों के लिये वित्त के निम्नलिखित स्रोत हैं:—

(१) अंश (Shares), (२) ऋण-पत्र (Debentures), (३) लाभों का पुनर्विनियोग (Ploughing Back of Profits) (४) सार्वजनिक जमा (Public Deposits), (५) निजी जमा (Private Deposits), प्रबन्ध अथवा 'निजी लेखे' पर प्राप्त पूंजी, अभिकर्ता (Managing Agents), (६) संस्था-विनियोजक (Institutional Investors), जैसे कि व्यापारिक बैंक, बीमा कम्पनियां, और विनियोग-प्रन्यास (Investment Trusts), आदि, (७) देशी बैंकर तथा महाजन (Indigenous Bankers and Moneylenders), (८) विशिष्ट वित्तीय संस्थायें (Special Financial Institutions), जैसे औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम, इत्यादि।

ऊपर लिखे कुछ स्रोतों, जैसे अंशों, ऋणपत्रों, आदि से दीर्घकालीन पूंजी, कुछ अन्य, जैसे व्यापारिक बैंकों, से अल्पकालीन पूंजी, और कुछ अन्य, जैसे प्रबन्ध अभिकर्ताओं, से दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार की पूंजी प्राप्त होती है। नीचे हम इन स्रोतों का बारी-बारी अध्ययन करते हैं।

अंश (Shares)—

उद्योग अपनी आवश्यकता की प्रारम्भिक पूंजी सामान्यतः अंश-पूंजी के रूप में प्राप्त करते हैं। बाद में जब और स्थिर पूंजी की आवश्यकता होती है, तब या तो और अंश अथवा ऋण-पत्र (Debentures) जारी किए जाते हैं, या कमाये हुये लाभों के ही एक भाग का पुनः विनियोग किया जाता है।

यद्यपि भारत में कम्पनियों की अधिकांश स्थाई पूंजी अंश पूंजी के रूप में प्राप्त की जाती है और धीरे-धीरे अंशों (Equities) के लिये देश में बाजार का विस्तार भी हुआ है, तथापि, अभी भी पश्चिम के औद्योगिक देशों की तुलना में यहाँ इस प्रकार की अंश पूंजी को एकत्र करना अधिक कठिन है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि यदि प्रतिवर्ष सरकार के द्वारा जितनी नई पूंजी एकत्र करने की अनुमति दी जाती है उसकी तुलना में जितनी पूंजी वास्तव में एकत्र की जाती है वह बहुत कम है। उदाहरणार्थ यदि १९४८—५४ के सात वर्षों की औसत ली जाय तो प्रतिवर्ष जहां अधिकृत पूंजी ६० करोड रु० थी, वहां वास्तव में एकत्र की गई पूंजी केवल १८.५ करोड रु० थी।

ऋण-पत्र (Debentures)

कोई कम्पनी ऋण-पत्र जारी करके भी एक निश्चित अवधि के लिये ब्याज की निश्चित दर पर विनियोगकर्ताओं से दीर्घकालीन पूंजी प्राप्त कर सकती है। 'ऋण-पत्रों में विनियोग करने वाले' (Bonds or Debenture holders) अंशधारियों की भांति कम्पनी के स्वामी नहीं होते, वरन् उसके केवल ऋणदाता होते हैं। पश्चिमी देशों में कारखानों के विस्तार व मशीनों के प्रतिस्थापन के लिये स्थाई पूंजी, और बहुत बार कार्यशील पूंजी का एक भाग भी सामान्यतया ऋणपत्र जारी करके प्राप्त किया जाता है। परन्तु भारत में ऐसा नहीं है। यहाँ ऋणपत्र-पूंजी (Debenture Capital) औद्योगिक उपक्रमों की कुल पूंजी का एक बहुत छोटा भाग बनाती है। उदाहरणार्थ, "इन्वेस्टर्स इण्डिया ईयर बुक, १९५५ (Investors' India Year Book, 1955) में दी गई ६० पटसन की मिलों में से केवल १८ ने ही ऋणपत्र जारी किये थे, और ऋणपत्रों का कुल पूंजी में प्रतिशत अनुपात केवल ६.५ था। उसमें दी गई ६३ सूती वस्त्र की मिलों में से केवल १० ने ऋणपत्र जारी किये थे जिनका कुल पूंजी में अनुपात केवल १.५% था। कोयला उद्योग में ऋणपत्र पूंजी का कुल पूंजी में अनुपात कुछ ऊंचा अर्थात् लगभग ११.० प्रतिशत था। दूसरी ओर, भारत की मुख्य लोहा व इस्पात कम्पनी, टाटा लोहा व इस्पात कम्पनी, ने अपने विस्तार व प्रतिस्थापनों (Replacements) की वित्त-व्यवस्था के लिये सामान्यतया ऋणपत्र जारी करने की विधि का ही सहारा लिया है"।[1]

भारत में ऋणपत्रों के लोकप्रिय न होने का एक कारण यह रहा है कि यहां एक औसतन विनियोजक अभी तक उद्योगों में रुचि नहीं रखता। जब कभी उसे अपनी पूंजी से एक निश्चित आय लेनी होती है। तो वह उसे औद्योगिक ऋणपत्रों की अपेक्षा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करना अधिक अच्छा समझता है, क्योंकि यह विनियोग अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित होता है। भारत में पश्चिमी देशों की भांति ऋणपत्रों के निर्गमन में सहायता देने के लिये और इन के बारे में विनियोजक जनता को शिक्षित करने के लिये विशिष्ट संस्थाओं, जैसे कि 'निर्गमन गृहों' (Issue

*N. Dass, Industrial Enterprise in India, 2nd, ed. p. 35.

[1]Ibid, p. 35-36,

Houses) का न होना इस दिशा मे एक और कारण है। फिर, भारत मे व्यापारिक बैंक उन कम्पनियो को अच्छी दृष्टि से नही देखते, और अतः उन्हे सामान्य शर्तों पर ऋण नही देते, जो कि ऋणपत्र जारी करके पूंजी एकत्र करती हैं। सम्भवतः कुछ बैंक यह सोचते है कि इन कम्पनियो पर पहले से ही ऋण का भारत काफी है अतः इन्हे और ऋण देने मे अधिक जोखिम है।

लाभो का पुनर्विनियोग (Ploughing Back of Profits)—कम्पनियां अपने लाभ का अशधारियो मे बटवारा नही करती। वे उसका एक भाग अपने उद्योग मे ही पुनः विनियोग करने के लिये बचा लेती हैं। ये बचाये हुए लाभ स्थिर और कार्यशील दोनो प्रकार की पूंजी के रूप मे काम मे लाये जा सकते हैं। आजकल वित्त के इस 'आन्तरिक स्रोत' का महत्व काफी बढता जा रहा है, और इस रूप मे स्वय कम्पनियां बचत करने की महत्वपूर्ण एजेंसियां बनती जा रही हैं। १९५०—५१ मे ६८ करोड रु० के औद्योगिक लाभ थे, इनमे से २४ करोड रु० अर्थात् कुल लाभ का ३४.७% भाग का पुनः विनियोग किया गया था।*

सार्वजनिक जमा (Public Deposits) भारत मे उद्योगपति अपने उद्योगो के लिए प्रत्यक्ष रूप से जनता से भी जमा स्वीकार करते है। इस प्रकार के 'सार्वजनिक जमा' सम्भवतः भारतीय औद्योगिक वित्त की ही अपनी एक निराली (Unique) विशेषता है, अन्य देशो मे इस स्रोत से औद्योगिक वित्त प्राप्त नही किया जाता। भारत मे भी वित्त-प्राप्ति की यह विधि अहमदाबाद व बम्बई के सूती वस्त्र उद्योग मे ही—विशेषतः अहमदाबाद के सूती वस्त्र उद्योग मे—प्रचलित रही है। तथापि, पिछले २०-२५ वर्षों मे, और विशेषतः द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के पश्चात् से, यहां भी (विशेषतः बम्बई मे) सार्वजनिक जमा की मात्रा तथा महत्व कम हो गये हैं।

निजी जमा (Private Deposits) अथवा निजी लेखे पर प्राप्त पूंजी—

जबकि अहमदाबाद व बम्बई के सूती वस्त्र उद्योग मे सार्वजनिक जमा के द्वारा औद्योगिक वित्त प्राप्त करने की विधि प्रचलित रही है और अब भी है, मध्यम आकार के तथा अपेक्षाकृत नये लगभग सभी औद्योगिक उपक्रमो मे निजी जमा द्वारा अथवा एक या अधिक साहसियो, उनके मित्रो या प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ (Managing Agents) द्वारा निजी लेखे (Private Account) पर कार्यशील पूंजी प्राप्त करने की विधि पाई जाती है। विभिन्न उद्योगो मे इस स्रोत से कितनी-कितनी पूंजी प्राप्त होती रही है, इसके सही आकडे तो उपलब्ध नही है, तथापि यह अनुमान है कि द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ तक दियासलाई, कागज, और चीनी उद्योगो मे भारतीयों के स्वामित्व मे अधिकांश उपक्रम अपनी अल्पकालीन तथा मध्यकालीन वित्तीय आवश्यकताओं का २० से ३०% के बीच भाग इस स्रोत से पूरा करते थे।[1]

*Corporation Finance by S. C. Kuchhal, p. 230.

[1] N. Dass, Industrial Enterprise in India, 2nd. ed., p. 43.

प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents)—भारत के औद्योगिक सगठन की एक अनन्य विशेषता यहा की प्रबन्ध अभिकरण की प्रणाली है। ऐसी प्रणाली विश्व के अन्य किसी भी देश मे नहीं पाई जाती है। इन प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने देश मे औद्योगिक वित्त प्रदान करने मे बहुत महत्वपूर्ण तथा प्रत्यक्ष योगदान दिया है। यहा के बडे स्तर के अधिकाश उद्योगो का प्रवर्तन उन्ही ने किया था, और अभी भी उनका प्रबन्ध किसी न किसी प्रबन्ध अभिकर्ता फर्म अथवा कम्पनी द्वारा किया जाता है।

भारत मे प्रबन्ध अभिकरण प्रणाली का जन्म १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ, धीरे धीरे औद्योगिक सगठन की यह प्रणाली देश के लगभग सभी औद्योगिक उपक्रमो मे फैल गई। इस प्रणाली के जन्म तथा विकास के मुख्य कारण ये रहे है—

(i) भारतीय पूंजी शर्मीली थी और हाल ही तक औद्योगिक ऋणपत्रो अथवा अशो मे बडी मात्रा मे विनियोग नही की जाती थी

(ii) भारत मे एक सुसगठित पूजी बाजार का अभाव था। यहा पश्चिम के देशो की प्रकार के ऐसे 'निगम-गृह' (Issue Houses) नही रहे है, जो नये औद्योगिक उपक्रमो को प्रारम्भ करते हो, और प्रारम्भिक दशाओ मे उनका सारा जोखिम उठाते हो।

(iii) भारत मे सयुक्त पूजी बैंको की नीति भी उद्योगों की विभिन्न आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये पर्याप्त रूप से लोचपूर्ण तथा सहृदय नही रही है, और उनका विकास भी काफी देर से हुआ है, और

(iv) देश मे उपक्रम तथा उच्च प्रबन्ध-कौशल की भी बहुत कमी रही है।

ऐसी परिस्थितियो मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने देश मे बड़े स्तर के नई एव उद्योगो का प्रवर्तन किया है, और उन्हे अत्यावश्यक वित्त तथा प्रबन्ध प्रदान किया है। नीचे हम इनके अर्थ तथा कार्यो के बारे मे सक्षेप मे पढते हैं।

अर्थ तथा कार्य—प्रबन्ध अभिकर्ता या तो साझेदारी की फर्मे या निजी सीमित कम्पनिया है, जो ऐसे व्यक्तियो के समूह द्वारा बनाई जाती है, जिनके पास पर्याप्त मात्रा मे पूजी और व्यवसायिक उपक्रम होता है। ये प्रबन्ध अभिकर्ता भारतीय उद्योगो मे निम्नलिखित कार्य करते रहे हैं—

(१) ये नये औद्योगिक उपक्रमो को आरम्भ करते है। भूतकाल मे ये बडे स्तर के लगभग सभी उद्योगो जैसे सूती वस्त्र, पटसन, लोहा और इस्पात चाय आदि मे नये उपक्रमो के प्रवर्तक रहे हैं।

(२) ये उद्योगो को स्थिर और कार्यशील दोनो प्रकार की पूजी प्रदान करते है। यह कार्य ये या तो अधिकाश अश व ऋणपत्र खरीदकर या उद्योगो को प्रत्यक्ष रूप से ऋण देकर या व्यापारिक बैंको द्वारा उद्योगो को दिये जाने वाले ऋणो की जमानत देकर करते हैं। इसके अतिरिक्त, इन प्रबन्ध अभिकर्ताओ की साख के आधार

पर ही औद्योगिक कम्पनियां निरन्तर रूप से सार्वजनिक तथा निजी जमा प्राप्त करती रही है, और उनके अंश व ऋणपत्र अधिक आसानी से बिकते हैं। इन्होंने जो ऋण औद्योगिक कम्पनियों को दिये हैं, उन पर ब्याज की दर बहुत ऊँची नहीं रही है। यह बहुधा बैंक-दर (Bank Rate) से ½ प्रतिशत अधिक और कभी-कभी तो बैंक-दर जितनी ही रही है। पिछले वर्षों में चाय, चीनी कोयला और अन्य उद्योगों में मन्दी अथवा अन्य संकट के समय में अल्प पूंजी वाले (Under Capitalised) उपक्रमों को प्रबन्ध अभिकर्ताओं के इन ऋणों ने ही पूर्ण नाश से बचाया है। बिना इन की वित्तीय सहायता के सम्भवतः बहुत से औद्योगिक उपक्रम समाप्त हो गये होते। १९५१—५२ में प्रबन्ध अभिकर्ताओं ने १,७२० कम्पनियों को २१·३ करोड़ रु० की अंश-पूंजी (इन कम्पनियों की कुल अंश पूंजी की १३.६%) प्रदान की थी और १८·३ करोड़ रु० के ऋण स्वयं दिये थे अथवा उनकी जमानत (१०.५ करोड़ रु० के प्रत्यक्ष ऋण और ७.८ करोड़ रु० के ऋणों की जमानत) दी थी—ये ऋण उन कम्पनियों द्वारा प्राप्त कुल ऋणों के २४% थे।*

(३) ये (प्रबन्ध अभिकर्ता) उद्योगों का दिन-प्रतिदिन का प्रबन्ध कार्य करते हैं। अन्य देशों में यह कार्य प्रबन्धक या प्रबन्ध-सचालक द्वारा किया जाता है। भारत में यह लगभग एक 'नियम' सा ही हो गया है कि कम्पनियां आरम्भ में ही अपना प्रबन्ध लिखित समझौतों के द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ताओं की पुरानी और सुस्थापित फर्मों अथवा बहुधा कम्पनी के प्रवर्तकों और उनके मित्रों द्वारा बनाई गई प्रबन्ध अभिकर्ताओं की नई फर्म को सौंप देती हैं। पिछले २०-२५ वर्षों में इस प्रकार की व्यवस्था की यद्यपि बहुत अधिक आलोचना हुई है, तथापि इसका और भी प्रसार हुआ है। अनुमान है कि १९३५ में जहां प्रबन्ध अभिकर्ताओं के द्वारा लगभग ७५% कम्पनियों का प्रबन्ध किया जाता था, वहां १९५५ में इन के प्रबन्ध में ९५% से भी अधिक कम्पनियां थीं।+

(४) ये प्रबन्ध अभिकर्ता अपनी कम्पनियों के उत्पादों के विपणन के लिये तथा कच्चे माल, संग्रहों और मशीनरी के खरीदने के लिए भी अभिकर्ता के रूप में कार्य करते हैं।

इन सब कार्यों के बदले में उन्हें बहुधा कम्पनी द्वारा एक निश्चित 'कार्यालय-भत्ता' ('Office Allowance') तथा कमीशन दिया जाता है। यह कमीशन लाभ की मात्रा के आधार पर दिया जाता है। इसकी एक निम्नतम मात्रा भी निश्चित होती है, जो कि हर दशा में, चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा नहीं, दी ही जाती है।

ऊपर के विवरण से प्रबन्ध अभिकरण प्रणाली का भारतीय औद्योगिक विकास में महत्व स्पष्ट हो जाता है। राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission, १९४९-५० के शब्दों में, प्रबन्ध अभिकरण प्रणाली ने 'पिछले ७५ वर्षों में भारतीय उद्योगों की अपूर्व सेवा की है। औद्योगीकरण के आरम्भिक दिनों में जब न तो उप-

*N. Dass, Industrial Interprise in India, 2nd ed. p. 74.
+ N. Dass, Industrial Interprise in India, 2nd ed. p. 77

में वित्तीय निगमों तथा हाल ही में स्थापित अन्य वित्तीय निगमों (जिनका इसी अध्याय में आगे चल कर अध्ययन किया जायेगा) के अंशों व ऋणपत्रों में विनियोग करके भी परोक्ष रूप से दीर्घकालीन वित्त प्रदान करते हैं। जून १९५३ के अन्त में सभी अनुसूचित तथा गैर-अनुसूचित बैंकों का संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों के अंशों व ऋणपत्रों में कुल विनियोग १२·२३ करोड़ रु० (बैंकों द्वारा दिये गये कुल ऋणों का ३%) था, इन (अंशों व ऋणपत्रों) की धरोहर के विरुद्ध ऋणों की मात्रा ४३·३४ करोड़ रु० थी और अनुसूचित बैंकों के ऊपर बतलाये गये वित्तीय निगमों के अंशों व बन्धों में विनियोग २·७१ करोड़ रु० के थे। इस प्रकार व्यापारिक बैंकों के जून, १९५३ के अन्त में उद्योगों को परोक्ष रूप से दिये गये दीर्घकालीन ऋण कुल ५८·२८ करोड़ रु० के थे।

इससे स्पष्ट है कि भारत में व्यापारिक बैंक उद्योगों को बहुत छोटी मात्रा में दीर्घकालीन वित्त प्रदान करते हैं। यह मुख्यत. इसलिये है, क्योंकि एक तो उनकी अधिकांश पूंजी अल्पकालीन निक्षेपों के रूप में होती है, जिसके कारण उन्हें भी अपने विनियोग अल्पकालीन ही रखने पड़ते हैं, ताकि उनकी तरलता बनी रहे; दूसरे उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देने में विशेष प्रकार का जोखिम उठाना पड़ता है, जिसके लिये ये व्यापारिक बैंक नहीं बने हैं। अत. कई बार यह सुझाव रखा जाता है कि भारत में भी मिश्रित बैंकिंग (Mixed Banking) की वैसी ही प्रणाली अपनाई जानी चाहिए, जैसी कि जर्मनी तथा योरुप के अन्य कई देशों में १९२९-३३ की महामन्दी से पूर्व प्रचलित थी, और कई एक देशों में अब भी प्रचलित है। इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापारिक बैंक उद्योगों को अल्पकालीन ऋणों के साथ-साथ मध्यकालीन व दीर्घकालीन पूंजी भी प्रदान करते हैं। परन्तु भारत में जब कभी ऐसे प्रयत्न किये गये हैं, तभी ये असफल रहे हैं। अत. अधिकांश बैंकिंग विशेषज्ञ इस प्रकार की प्रणाली को भारतीय दशाओं के उपयुक्त नहीं समझते हैं। अतः श्रोफ समिति (१९५३-५४) ने सिफारिश की है कि बैंकों को चाहिये कि वे उद्योगों को इस समय जिन परोक्ष विधियों के द्वारा दीर्घकालीन वित्त प्रदान करते हैं, उन्हीं के द्वारा पहले से अधिक मात्रा में वित्त प्रदान करें।

व्यापारिक बैंकों को चाहिये कि वे उद्योगों को पहले से अधिक मात्रा में अल्पकालीन वित्त भी प्रदान करें। ऐसा करने के लिए, और इसके लिये बैंकों के साधनों को बढ़ाने के लिये, श्रोफ समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित उपाय बताये हैं*—

(i) रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की बिल-बाजार (Bill Market) की योजना को अधिक उदार बनाया जाय,

(ii) बैंकों को इस समय उपलब्ध 'रुपया भेजने की सुविधाओं' (Remittance Facilities) को अधिक उदार बनाया जाय,

*Report of the Committee on Finance for the Private Sector, p. 61.

(iii) बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रो मे अपनी शाखायें खोलने के लिए *अर्थ-सहायता* (Subsidies) दी जाय.

(iv) मुफ्येतर (Mofussil) क्षेत्रो मे बैंको के लिए सुरक्षा सम्बन्धी उपयुक्त व्यवस्था की जाय;

(v) बैंको को चाहिये कि वे चलते-फिरते बैंको (Mobile Banks) की व्यवस्था करे, जो छोटे-छोटे गावो मे भी बैंकिंग सुविधायें प्रदान करे,

(vi) निक्षेपो के बीमे (Deposit Insurance) की व्यवस्था की जाय.

(vii) बैंक मे किसी व्यक्ति के पर्याप्त कोष हुये बिना ही चैक काटने को दण्ड-अपराध (Criminal Offence) अथवा व्यवहार-अपराध (Civil Offence) बना दिया जाय—इससे लोगो मे चैक प्रयोग करने की आदत का शीघ्रता से प्रसार होगा, और

(viii) भारत मे बैंकिंग परिषदो (Banking Associations) को चाहिये कि वे लोगो मे बैंकिंग की आदत को सर्वप्रिय बनाने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न करे, आपसी अनुचित प्रतिस्पर्धा मे बचे, और सामान्य हित की बातो के सम्बन्ध मे बैंको मे सहकारिता को प्रोत्साहित करे। इन ऊपर लिखे सुझावो मे से कुछ पर केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक कार्य कर रहे है। रिजर्व बैंक की विपत्र बाजार की योजना को तथा इसके द्वारा रुपया भेजने की सुविधाओं को अधिक उदार बनाया जा रहा है। १ जुलाई, १९५५ को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई है, और उस पर यह दायित्व लादा गया है कि वह आगामी ५ वर्षो मे ग्रामीण क्षेत्रो मे अपनी ४०० नई शाखायें खोले। तदनुसार दिसम्बर, १९५७ तक स्टेट बैंक ने अपनी १५७ नई शाखायें खोली थी।

बीमा कम्पनियाँ—भारत मे बीमा कम्पनिया भी सुस्थापित औद्योगिक कम्पनियो के अंशो व ऋणपत्रो मे विनियोग करके औद्योगिक वित्त प्रदान करती हैं। दिसम्बर, १९५२ के अन्त मे इन बीमा कम्पनियो की कुल सम्पत्ति २९२·९२ करोड रु० की थी। इसमे से अंशो व ऋणपत्रों मे इन के विनियोग ४१·७९ करोड रुपये के थे। इसमे से १३·१५ करोड रु० ऋणपत्रो मे, १०·९० करोड रु० पूर्वाधिकार अंशो मे तथा १७·७४ करोड रु० साधारण अंशो मे विनियोग किये हुए थे। पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की बीमा कम्पनियो की तुलना मे, भारत की बीमा कम्पनिया अपनी सम्पत्ति का आपेक्षाकृत छोटा भाग अंशो व ऋणपत्रो मे लगाती है। तथापि, पिछले कुछ वर्षो से इस प्रकार के विनियोगो की मात्रा तथा सापेक्षिक प्रतिशत दोनो में वृद्धि हुई है। उदाहरणार्थ, जून १९५७ के अन्त मे जीवन बीमा निगम के भारत में ३४५·६१ करोड रु० के कुल विनियोगो मे से ६३·४१ करोड रु० के (कुल के लगभग १८%) विनियोग अंशो व ऋणपत्रो मे थे। इसके अतिरिक्त, सामान्य बीमा कम्पनियो की ३१ दिसम्बर, १९५६ को कुल सम्पत्ति ४२·४४ करोड रुपये की थी, जिसमें मे लगभग २०·५% भारतीय कम्पनियों के अंशो व ऋणपत्रो मे लगी हुई थी। जैसा कि हमे *ज्ञात है*, जनवरी, १९५९ मे भारत में जीवन बीमा

व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया था और सरकार अब इस व्यवसाय को जीवन बीमा निगम के द्वारा चलती है। २५ अगस्त १९५८ को संसद में घोषित निगम की विनियोग-नीति के अन्तर्गत निगम अपने कोषों का ५०% भाग सरकारी प्रतिभूतियों में, ३५% स्वीकृत प्रतिभूतियों में अर्थात् उन संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों की प्रतिभूतियों में, जो कि लाभांश लाभ और विनियोगों के बारे में निर्दिष्ट शर्तों को पूरा करती है, और शेष १५% अन्य में विनियोग कर सकता है।

निर्गमन गृह (Issue Houses) तथा विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts) —

औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों, जैसे कि इंगलैंड और स० रा० अमरीका, आदि के पूंजी बाजारों की एक विशेषता वहां निर्गमन अथवा अभिगोपन* (Underwriting) गृहों का होना है। वहां अंशों अथवा ऋणपत्रों का बहुत सा निर्गमन इन संस्थाओं द्वारा होता है। जब किसी औद्योगिक कम्पनी के अंशों अथवा ऋणपत्रों का इन संस्थाओं के द्वारा अभिगोपन होता है, तो कम्पनी को दो मुख्य लाभ होते हैं—एक तो इससे उसकी प्रतिभूतियों की विपण्यता (Marketability) बढ़ जाती है, दूसरे, कम्पनी को तुरन्त आवश्यक मात्रा में कोष मिल जाते हैं क्योंकि न बिकी हुई शेष प्रतिभूतियां निर्गमन गृह खरीद लेता है, और बाद में उन्हें अच्छा अवसर पा कर बेच देता है। परन्तु भारत में इस प्रकार के गृहों का अभाव है। प्रबन्ध अभिकर्ता किसी सीमा तक यह कार्य करते हैं। परन्तु वह अपर्याप्त तथा दोषपूर्ण दोनों हैं। विनियोग प्रन्यासों का जैसा कि हम अभी आगे पढ़ेंगे बहुत कम विकास हुआ है। कुछ नई स्थापित विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं (इनका इसी अध्याय में आगे अध्ययन किया जायेगा) के जिम्मे भी अंशों अथवा ऋणपत्रों के अभिगोपन का कार्य सौंपा गया है। परन्तु अभी तक औद्योगिक साख एवं विनियोग (I. C. I. C.) को छोड़कर अन्य संस्थाओं ने इस कार्य को करना आरम्भ नहीं किया है। अतः यह आवश्यक है कि ये संस्थायें इस दिशा में अपने कार्य को बढ़ायें तथा यू० के० आदि देशों की भांति यहां निर्गमन गृह भी स्थापित किए जायं।

विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts)—एक विनियोग प्रन्यास अथवा कम्पनी अपने अंश अथवा ऋणपत्र बेचकर जनता से कोष एकत्र करती है, और फिर इन कोषों का प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोग करती है। इस प्रकार ऐसी संस्था विनियोजक जनता में विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों में विनि-

* अभिगोपन (Underwriting) अंशों अथवा ऋणपत्रों को जनता के सामने रखने से पूर्व किया जाने वाला वह अनुबन्ध है, जिसमें समझौते में निश्चित कमीशन के बदले अभिगोपक न बिकी हुई शेष प्रतिभूतियों को स्वयं क्रय करने का वचन देता है। कई बार अभिगोपक कुल निर्गमन को ही आरम्भ में ही क्रय कर लेता है। दोनों दशाओं में ही क्रय की हुई प्रतिभूतियों को बाद में सुअवसर देखकर, वह जनता को बेच देता है, और इस प्रकार कमीशन के अतिरिक्त लाभ भी कमाता है।

करने की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेती हैं। इसमे इन विनियोजकों का जोखिम कम हो जाता है क्योंकि एक तो ये सस्थायें पूंजी बाजार के अधिक गहरे सम्पर्क में होने के कारण उसके बारे मे अधिक ज्ञान रखती हैं, और दूसरे, उनकी पूंजी कई एक प्रतिभूतियो मे लगी हुई होती है, जिससे किसी एक के मूल्य मे कमी आने से होने वाली हानि सभी पर बंट जाती है। अत इस सबसे लोगों में बचत और विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है, और उद्योगो को बडी मात्रा मे पूंजी मिलती है। इसीलिए योरप और अमरीका मे ऐसे विनियोग प्रन्यासो का बडा विकास हुआ है। भारत मे भी पिछले कुछ (लगभग २५) वर्षों मे ऐसे विनियोग प्रन्यास, जैसे कि इण्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेन्ट ट्रस्ट, लिमिटेड, न्यूइण्डिया इन्वेस्टमेंन्ट कार्पोरेशन, लिमिटेड, बर्ड्स इन्वेस्टमेन्ट्स, लिमिटेड, टाटा का इन्वेस्टमेन्ट कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया, लिमिटेड, इत्यादि स्थापित हुए हैं। परन्तु इन मे से कुछ तो केवल उन्ही औद्योगिक उपक्रमो मे अपने कोषो का विनियोग करते रहे हैं, जिनमे उनके प्रबन्ध अभिकर्ताओ के हित हैं। कुछ केवल नाम के ही विनियोग प्रन्यास हैं, और उनके साधन बहुत सीमित हैं। अत भारत मे अभी तक विनियोग प्रन्यास औद्योगिक वित्त के महत्वपूर्ण साधन नही बने हैं। यहा सुदृढ और स्वस्थ आधारो पर इनका सगठन करना अभी भी एक अपूर्ण आवश्यकता है।

देशी बैंकर (Indigenous Bankers)—

भूतकाल मे जब देश मे सयुक्त पूंजी बैंको का बहुत कम विकास हुआ था, और जब नही तो सार्वजनिक जमा और न निजी जमा तथा निजी ऋण उद्योगो की सभी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त थे, तब बहुधा उद्योगपतियो को देशी बैंकरो से वित्तीय सहायता प्राप्त करनी पडती थी। भारत मे ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल मे तो इन देशी बैंकरो का सारे देश मे ही बहुत अच्छा काम था। परन्तु समय बीतने के साथ-साथ जैसे-जैसे भारत अधिकाधिक पश्चिम व उसकी नई औद्योगिक तथा वाणिज्यी (Commercial) अर्थ-व्यवस्था के सम्पर्क मे आया, और देश मे आधुनिक प्रकार के बैंक स्थापित हुए तथा देश की अर्थ-व्यवस्था मे अन्य परिवर्तन आये, इन देशी बैंकरो के कार्य तथा साधन दोनो कम हो गये हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ही देश के पुराने तथा सुस्थापित उद्योग (जैसे कि सूती वस्त्र, कपास और लोहा तथा इस्पात) इन देशी बैंकरो से लगभग स्वतन्त्र थे, क्योकि ये अपनी आवश्यकता की पूंजी सार्वजनिक जमा, निजी जमा, निजी ऋणो तथा सयुक्त पूंजी बैंको से आसानी से ही प्राप्त कर लेते थे। परन्तु कुछ नये उद्योगों (जैसे कि कागज, चीनी, दियासलाई, छोटे यन्त्र आदि) मे छोटे अथवा अल्प पूंजी वाले (Under Capitalised) उपक्रम अवश्य इन देशी बैंकरो से ऋण लेते थे, क्योकि इन्हे वित्त-प्राप्ति के अन्य स्रोत इतने सुलभ नही थे, जितने कि पुराने उद्योगो के बडे उपक्रमो को। इस निर्भरता का एक और कारण यह भी था कि देशी बैंकर की ऋण देने की विधि सरल, चिर-परिचित है तथा वह निजी जमानत पर ही ऋण दे देता है, जबकि संयुक्त पूंजी बैंकों की ऋण देने की विधि अपेक्षाकृत अधिक पेचीदा और शिष्टाचार पूर्ण होती है,

तथा बैंक बिना किसी अच्छी जमानत (जैसे कि व्यापार पत्र या मूल्यवान् प्रतिभूति, आदि) के ऋण नही देते है। तथापि, देशी बैंकर का ऋण बड़ा महगा ऋण रहा है, क्योकि वह अधिक जोखिम भी उठाता है। उदाहरणार्थ जैसा कि केन्द्रीय बैंकिग जाच समिति, १६२६–३१ ने बताया है, बहुत सी कोयला कम्पनियां देशी बैंकरों से १२% से १८% के बीच, और कुछ बार तो २४% पर ऋण लेती थी।

पिछले २५–३० वर्षो मे देशी बैंकरो का औद्योगिक वित्त के क्षेत्र मे महत्व बहुत कम हो गया है। अब ये केवल देश के लघु उद्योगो को या देश के उन भागों मे जहा बैंकिग सुविधाओ का पर्याप्त विकास नही हुआ है, औद्योगिक वित्त प्रदान करते हैं। अन्यथा या तो इन्होने अपना काम बन्द कर दिया है, या मिलकर संयुक्त पूंजी बैंको मे अपने को संगठित कर लिया है, या ये व्यापार को अल्पकालीन पूंजी प्रदान करते हैं, और साथ ही बैंकिग के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इनका रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया जाय, और इनके बैंकिग कार्य, अन्य कार्यों से अलग कर समुचित आधार पर सगठित किये जायें।

विशिष्ट वित्तीय सस्थायें (Special Financial Institutions)—

ऊपर हम कह आये हैं कि भारत मे उद्योगो के धीमे विकास का एक मुख्य कारण यहा औद्योगिक वित्त, विशेषत' दीर्घकालीन व मध्यकालीन वित्त की अत्यधिक अपर्याप्त रही है। अत. अब जब कि देश स्वतन्त्र हो चुका है, और इसका तेजी से औद्योगीकरण करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि देश मे जहां उद्योगो को कार्यशील पूंजी प्रदान करने के लिये वर्तमान सुविधाओ व स्रोतों का विकास किया जाय, वहा दीर्घकालीन व मध्यकालीन वित्त प्रदान करने के लिये भी समुचित प्रबन्ध किया जाय। देश की सरकार ने इस दूसरी आवश्यकता के महत्व को पहचानते हुए पिछले १० वर्षो मे कुछ विशिष्ट वित्तीय संस्थाओ की स्थापना की है। इंगलैंड और योरुप के अन्य देशों में, जहां 'मिश्रित बैंकिग' (Mixed Banking) की प्रथा रही है, वहां, और कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा लेटिन अमरीका के अर्ध-विकसित देशो तक मे भी पिछले १०—१५ वर्षों में इस प्रकार की वित्तीय सस्थायें स्थापित की गई हैं। भारत की विशिष्ट परिस्थितियों मे इस प्रकार की सस्थाओ की स्थापना और भी आवश्यक थी। श्री एन० दास के अनुसार, इन विशिष्ट सस्थाओ की स्थापना का "मुख्य कारण यह है कि, सामान्य संयुक्त स्कंध बैंक अपनी पूंजी व अन्य सम्पत्ति को दीर्घकालीन ऋणो मे फसा नही सकते, और दूसरी ओर, विभिन्न कारणो से, औसतन विनियोगकर्ता औद्योगिक कम्पनियो द्वारा चलाये (Float) गये अंशो व ऋणपत्रो मे आसानी से रुपया लगाने को तैयार नही है। जब कि देश की पूंजी को गतिमान करना (Mobilisation) तथा पूंजी बाजार का विकास जिससे कि उद्योगो मे ब्याज की उचित दर पर नया द्रव्य नियमित रूप से आने लगेगा, अनिवार्यतः एक दीर्घकालीन क्रम है, ऐसी सस्थायें जिनमे सरकार केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक, बीमा कम्पनिया तथा अन्य वित्तीय

संस्थायें सभी भाग ले सकें, देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करती है और इस बात को सुनिश्चित करती है कि देश का पूंजी अधिकतम उत्पादक कार्यो मे लगे" ।* भारत मे इस प्रकार की सभी विशिष्ट संस्थायें स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही स्थापित की गई है। ये संस्थाये निम्नलिखित है —

(१) भारत का औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India).

(२) राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporations).

(३) भारत का औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (Industrial Credit & Investment Corporation of India Ltd).

(४) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation)।

(५) पुनर्वित्त निगम (Re-finance Corporation)–

इसके अतिरिक्त १९५६ मे कई एक देशो की सरकारो ने मिलकर एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (Internation Finance Corporatiou) की स्थापना की है। भारत सरकार भी इसकी सदस्य है।

नीचे हम बारी-बारी इन संस्थाओ के बारे मे पढते है।

भारत का औद्योगिक वित्त निगम

(Industrial Finance Corporation of India)

भारत के औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना १ जुलाई, १९४८ को केन्द्रीय सरकार द्वारा फरवरी, १९४८ मे पास किये गए एक विशिष्ट अधिनियम 'औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८†' के अन्तर्गत हुई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उद्योगो को दीर्घकालीन व मध्यकालीन वित्त प्रदान करने के लिए (और निजी उद्योगो को सार्वजनिक अर्थ-सहायता पहुचाने के लिए) देश की सरकार द्वारा स्थापित की जाने वाली विभिन्न विशिष्ट वित्तीय संस्थाओ मे से यह पहली तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है।

उद्देश्य—औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ की प्रस्तावना (Preamble) के शब्दो मे, *निगम का उद्देश्य "भारत मे औद्योगिक संस्थाओ को* दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन साख अधिक आसानी से उपलब्ध कराना है, और विशेषतया तब जब कि उन्हे प्राप्त सामान्य बैंकिंग सुविधाये समुचित न हो या अंशो व ऋणपत्रो को जारी करके पूंजी प्राप्त करने की विधि को प्रयोग मे न लाया जा सके।" निगम का उद्देश्य अपर्याप्त निजी वित्तीय संगठनो की क्रियाओ को समाप्त करना नही, वरन् उनकी अनुपूर्ति करना (Supplement) है।

---

* N. Dass, Industrial Enterprise in India, 2nd ed. p 56–57.

† तत्पश्चात् इस अधिनियम मे, नये अनुभवो तथा आवश्यकताओ के अनुसार, तीन बार (१९५२ मे, १९५५ मे और नवम्बर, १९५७ मे) संशोधन किये जा चुके है। इससे निगम का कार्यक्षेत्र तथा उपयोगिता बढ़ गई है।

क्षेत्र—यह निगम केवल 'औद्योगिक सस्थाओं' को ही वित्त प्रदान कर सकता है। अधिनियम के अनुसार ऐसी संस्था केवल वह 'सीमित लोक कम्पनी' (Public Limited Company) अथवा सहकारी समिति है, जिसका भारत में पूंजीयन हुआ है, जो वस्तुओं के निर्माण अथवा विधायन (Processing) मे अथवा खनन-उद्योग (Mining) मे अथवा बिजली या अन्य किसी प्रकार की शक्ति के उत्पादन या वितरण मे लगी हुई है। १६५२ मे अधिनियम मे किए गये एक सशोधन के द्वारा निगम के क्षेत्र का विस्तार कर दिया गया है, और तब से निगम 'जहाज़ी कम्पनियों' (Shipping Companies) को भी वित्तीय सहायता दे सकती है।

राष्ट्रीयकृत (Nationalised) औद्योगिक सस्थायें निगम के कार्यक्षेत्र से बाहर हैं, निगम इन्हें कोई वित्तीय सहायता प्रदान नही कर सकता।

१६५५ से पूर्व निगम केवल पहले से ही कार्य कर रही औद्योगिक संस्थाओं को ऋण दे सकता था; यह उन औद्योगिक सस्थाओ को कई ऋण नही दे सकता था, जो शीघ्र ही कार्य प्रारम्भ करने जा रही हो। औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम मे १६५५ मे किये गये एक और सशोधन के द्वारा यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया है, और तब से निगम नई स्थापित औद्योगिक संस्थाओं को भी ऋण दे सकता है।*

पूंजी व कार्यशील कोष (Capital & Working Funds)—निगम की अधिकृत (Authorised) पूंजी १० करोड रु० है, जो पाच-पांच हजार रु० के २०,००० पूर्णतया परिदत्त (Fully Paid-up) अंशों मे विभाजित है। निगम की निर्गमित (Issued), प्रार्थित (Subscribed) तथा परिदत्त (Paid-up) पूंजी ५ करोड रु० है, जो १०,००० अंशों को बेचकर प्राप्त की गई है। इन अंशों का विभिन्न प्रार्थी (Subscribing) संस्थाओ मे इस प्रकार बंटवारा किया गया था:—

प्रार्थी सस्था	राशि	अंशों की संख्या
१. केन्द्रीय सरकार	१ करोड़ रु०	२,०००
२. रिजर्व बैंक आफ इण्डिया	१ ,, ,,	२,०००
३. अनुसूचित बैंक	१·२५ ,, ,,	२ ५००
४. विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts), बीमा कम्पनियां तथा इसी प्रकार की अन्य वित्तीय सस्थायें	१·२५ ,, ,,	२,५००
५. सहकारी बैंक	० ५० ,, ,,	१,०००
कुल	५·०० ,, ,,	१०,०००

* उदाहरणार्थ, इस सशोधन के पश्चात् निगम ने बम्बई वेस्ट कोस्ट पेपर मिल्स लिमिटेड को उसके बनते ही, अर्थात् उसके द्वारा अंश पूंजी एकत्र करने से पहले ही १ करोड़ रु० का ऋण दिया था।

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि निगम का पूंजी कलेवर (Capital Structure) न तो पूर्णतया राज्य के स्वामित्व तथा नियन्त्रण में है, न इससे पूर्णतया स्वतन्त्र है। यह मिश्रित प्रकार का है। तथापि, निजी व्यक्ति निगम के अंशधारी नहीं हो सकते।

अपनी कार्यशील पूंजी को बढाने के लिये निगम का निम्नलिखित उपाय अपनाने का अधिकार है :—

(i) वह बंध (Bonds) अथवा ऋणपत्र (Debentures) जारी करके अपनी परिदत्त पूंजी तथा सुरक्षित कोष (Reserve Fund) की अधिक से अधिक दस गुना* रकम प्राप्त कर सकता है।

यदि किसी उद्योग को विदेशी मुद्रा मे ऋण देने की आवश्यकता हो, तो निगम, केन्द्रीय सरकार की अनुमति से, विश्व बैंक (World Bank) से अथवा किसी अन्य विदेशी स्रोत से भी ऋण ले सकता है। केन्द्रीय सरकार इस ऋण की जमानती होगी। निगम रिजर्व बैंक से भी अधिक से अधिक १८ मास की अवधि के लिए किसी समय पर कुल मिलाकर अधिक से अधिक ३ करोड रुपये के ऋण ले सकता है। १९५५ के संशोधन के अधीन निगम को केन्द्रीय सरकार से भी ऋण लेने का अधिकार दे दिया गया है। तदनुसार द्वितीय पंच वर्षीय योजना मे केन्द्रीय सरकार द्वारा निगम को १२.५ करोड रुपये का ऋण देने की व्यवस्था की गई थी। इसे अब बढाकर २२.२५ करोड़ रुपये कर दिया गया है। केन्द्रीय सरकार ने निगम के अंशो के मूलधन व लाभांश (जिस की दर कम से कम २½% अवश्य होगी) के भुगतान की तथा निगम के बंधो व ऋणपत्रो के मूलधन व ब्याज के भुगतान की भी गारण्टी दी हुई है।

(ii) निगम जनता से कम से कम ५ वर्ष की अवधि वाले अधिक से अधिक १० करोड़ रु० के निश्चत कालीन निक्षेप (Deposits) स्वीकार कर सकता है; और

(iii) अधिनियम मे नवम्बर, १९५७ मे किये गए एक संशोधन के अधीन निगम अब राज्य सरकारो तथा स्थानीय प्राधिकारियो से भी निक्षेप स्वीकार कर सकता है।

१९५७-५८ के अन्त मे निगम की कुल कार्यशील पूंजी लगभग ३ करोड़ रुपये थी। इसमें से ५ करोड रुपये तो अंश पूंजी थी; १२.४ करोड रु० बन्धो व ऋणपत्रो के द्वारा एकत्र किये गये थे, १५ करोड रु० के ऋण केन्द्रीय सरकार से प्राप्त किए गए थे, और शेष सुरक्षित तथा अन्य कोष थे। १९५८-५९ के बजट मे केन्द्रीय सरकार ने निगम को ३ करोड़ रुपये का और ऋण देने की व्यवस्था की है।

---

* औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ के अधीन इस प्रकार से केवल पांच गुना ही रकम प्राप्त की जा सकती थी। परन्तु नवम्बर, १९५७ में अधिनियम मे किये गये एक संशोधन के द्वारा इसे बढ़ा कर १० गुना कर दिया गया।

स्थापित होने वाली सहकारी चीनी फैक्ट्रियों को काफी ऋण दिया है।

फरवरी, १९५२ तक निगम ५½% ब्याज की दर पर ऋण देता था, ब्याज और मूलधन की किश्त ठीक समय पर चुकाने पर ½% की छूट दी जाती थी। तत्पश्चात ब्याज की दर को पहले बढा कर ६½% और अप्रैल, १९५७ मे इसे और बढा कर ७% कर दिया गया है। तथापि, छूट की दर मे कोई परिवर्तन नही हुआ है।

आलोचनाः—निगम के अभी तक के १० वर्ष के जीवन काल में समय-समय पर इसके कार्यक्षेत्र, प्रबन्ध तथा कार्यकरण की कई बातों को लेकर कडी आलोचना हुई है। इन आलोचनाओं तथा निगम के कार्यकरण के व्यवहारिक अनुभव के आधार पर निगम के १९४८ के अधिनियम मे तीन बार (१९५२, १९५५ व १९५७ मे) संशोधन किये गये हैं। इससे निगम का कार्यक्षेत्र व पूंजी साधन दोनो बढ़े हैं, और निगम उद्योगो को पहले की तुलना मे अधिक वित्तीय सहायता प्रदान करने लगा है। निगम की कुछ मुख्य आलोचनाये निम्नलिखित हैं:—

(१) निगम की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों मे यह कहा जाता था कि निजी क्षेत्रों मे उद्योगो की दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकता को देखते हुए, निगम के पूंजी साधन बहुत कम हैं। और अतः निगम द्वारा वास्तव मे दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा बहुत अपर्याप्त है। समय बीतने के साथ यह शिकायत समाप्त हो रही है। यह एक तो इसलिये हुआ है कि मूल अधिनियम मे संशोधन करके निगम के ऋण प्राप्त करने के अधिकार को बढा दिया गया है, जिससे उसके पूंजी साधन बढ रहे हैं। दूसरे, पिछले कुछ वर्षो मे विभिन्न प्रकार के उद्योगो को मध्यकालीन व दीर्घ-कालीन ऋण प्रदान करने के लिये कुछ एक और वित्तीय निगम स्थापित किये गये हैं, जिनका आगे अध्ययन किया जायगा। तीसरे, हमे यह भी ध्यान रखना है कि निगम का उद्देश्य पूंजी बाजार द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओ की केवल अनुपूर्ति करना है, उन्हे समाप्त कर उनका स्थान लेना नही है। चौथे, निगम जितने ऋणो की स्वीकृति देता है, प्रार्थी उन सभी का वास्तव मे भुगतान नही लेते, क्योंकि बहुत बार वे अपनी योजना को बदल देते हैं अथवा छोड देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि देश मे ऋण-सुविधाओ का पूरा-पूरा लाभ उठाने वालों की भी कमी है।

(२) निगम ने देश के अर्ध-विकसित क्षेत्रों, जैसे कि राजस्थान और मध्य प्रदेश, आदि के औद्योगिक विकास मे बहुत कम योगदान दिया है। परन्तु हमे ध्यान रखना है कि निगम का कार्य अपनी ओर से औद्योगिक उपक्रम चलाना नही है, वरन जो उपक्रम वित्तीय सहायता के लिये उसके पास आयें, उन्हे ऐसी सहायता देना है।

(३) निगम के कार्यकरण की एक और अत्यन्त कडी आलोचना यह की जाती है कि अभी तक इसने उद्योगो को जोखिम पूंजी (Equity or Risk Capital) प्रदान नही की है—इसने अभी तक औद्योगिक अंशो अथवा ऋणपत्रों के

अभिगोपन का अथवा जमानत देने का कार्य नही किया है- यह उद्योगो के दीर्घकालीन ऋण ही प्रदान करता रहा है।

(४) *ऋणो की स्वीकृति देने मे अनावश्यक देर लगाई जाती है।* निगम की स्थापना के आरम्भ मे यह किसी सीमा तक ठीक था, परन्तु अब सारे क्रम को इस प्रकार से नियमित कर दिया गया है कि प्रार्थनापत्रों के निबटाने मे कम से कम समय लगे। कुछ प्रार्थनापत्रो के निबटाने मे अधिक समय इस लिये लग जाता है, क्योकि पेश की गई योजना पूर्ण विस्तार मे नही बनाई गई होती और पत्र-व्यवहार के द्वारा आवश्यक सूचना प्राप्त करने मे समय लगता है। फिर, कानूनी, औपचारिकताओ मे भी समय लग जाता है।

(५) *ऋण देते समय निगम बडी सख्त शर्तें लगाता है।* उदाहरणार्थ, बन्धक ऋणो का ५०% भाग 'उधार-प्रतिभूति अन्तर' (Margin) रखने के अतिरिक्त, निगम सामान्यत प्रबन्ध अभिकर्ता की जमानत की भी शर्त लगाता है। यह सभी दशाओं मे आवश्यक नही होना चाहिए।

(६) *निगम द्वारा वसूल किये जाने वाले ब्याज की दर (६%) बहुत ऊंची है।* नये औद्योगिक उपक्रमो के जन्म के मार्ग मे यह बहुत बडी बाधा है क्योंकि नये उद्योगो को लाभ कमाने की स्थिति मे पहुचने तक सामान्यत ४-५ वर्ष लग जाते हैं, और तब तक उनके लिये ७% की दर पर ब्याज का भार बहुत अधिक पडता है। परन्तु उधर निगम की भी मजबूरी है। उसे अपने ऋणपत्रो पर ब्याज की जो दर देनी पडती है उसके सम्पादन का खर्चा तथा अप्राप्य ऋणों के लिये व्यवस्था, आदि को ध्यान मे रखते हुए, निगम द्वारा वसूल किये जाने वाले ब्याज की दर को बहुत ऊंचा नही कहा जा सकता। अत श्रोफ समिति (१९५३) ने, यह सुझाव रखा था कि निगम को जहा कही सम्भव हो, वहा ऋण लेने वाली कम्पनी से कोई ऐसा समझौता कर लेना चाहिये, जिसके अन्तर्गत निगम कम्पनी से प्रारम्भिक वर्षों मे नीची दर पर ब्याज ले और बाद मे जब कम्पनी लाभ कमाने लगे, तो वह निगम को पिछले वर्षों का भी ब्याज का अन्तर दे दे।

(७) निगम के प्रबन्ध के विरुद्ध यह आरोप भी समय समय पर लगाया गया है कि यह निष्पक्ष भाव से ऋणों की स्वीकृति नही देता। १९५२ मे यह आलोचना इतनी अधिक हुई कि भारत सरकार ने दिसम्बर १९५२ मे श्रीमती कृपलानी की अध्यक्षता मे एक जाच समिति की नियुक्ति की। समिति ने मई, १९५३ मे पेश की गई अपनी रिपोर्ट मे निगम के प्रबन्ध पर पक्षपाती होने के आरोप को सत्य नही पाया। तथापि, समिति का मत था कि उसकी कुछ पेशगिया ठीक नहीं थी, और उनसे बचा जा सकता था।

(८) १९४८ के अधिनियम के अन्तर्गत निगम केवल पहले से स्थापित औद्योगिक कम्पनियों को ही ऋण दे सकता था, नये औद्योगिक उपक्रमो को नही। यह भी आलोचना का एक विषय था। अत १९५५ के संशोधन के द्वारा इस दोष को

दूर कर दिया गया है, और अब तब से निगम नये औद्योगिक उपक्रमो को भी ऋण देने लगा है।[1]

राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporations)

आवश्यकता—औद्योगिक वित्त निगम, जिसका हम अभी ऊपर अध्ययन कर आये हैं, लोक समिति कम्पनियो (Public Limited Companies) द्वारा चलाये जाने वाले बडे-बडे औद्योगिक उपक्रमों की ही दीर्घकालीन व मध्यकालीन वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करता है. लघु व मध्य आकार के उद्योग इसके कार्य-क्षेत्र मे नही आते। परन्तु भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में इस दूसरी प्रकार के उद्योगों का विकास भी, विशेषत रोजगार अवसरो के प्रसार के दृष्टिकोण से, बहुत महत्वपूर्ण है। भारत मे इन उद्योगो की भी अपनी वित्तीय समस्यायें हैं--और बड़े उद्योगों की तुलना मे ये समस्यायें कम विकट नही हैं—जिनके कारण देश मे इनका विकास भी रुका हुआ है। अतः इस बात की भी आवश्यकता थी कि इन उद्योगो को दीर्घकालीन व मध्यकालीन वित्त प्रदान करने के लिये अलग से वित्त संस्थाएं स्थापित की जाय। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये ही अक्तूबर,१९५१ मे भारत सरकार ने 'राज्य वित्तीय निगम अधिनियम' ('State Financial Corporations Act') पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत उन लघु व मध्य आकार के उद्योगो को, जो कि केन्द्रीय निगम के कार्य क्षेत्र में नही आते, दीर्घकालीन व मध्यकालीन वित्त प्रदान करने के लिये कोई भी राज्य सरकार यदि चाहे तो अपने राज्य मे वित्तीय निगम स्थापित कर सकती है। कुछ राज्यो मे 'उद्योगो को राज्य सहायता अधिनियम' ('State Aid to Industries Act') के अन्तर्गत, जो थोड़ी-बहुत सहायता इन उद्योगो को मिला करती थी, इसके स्थान पर ये राज्य वित्तीय निगम अब कही बडे स्तर पर वित्तीय सहायता प्रदान करने लगे हैं।

राज्य वित्तीय निगम अधिनियम अधिकांश बातों मे औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ के बिल्कुल अनुरुप बनाया गया है। अत. इसकी कार्यशील पूंजी प्रबन्ध, कार्यों, आदि से सम्बन्धित मुख्य प्रावधान लगभग वे ही हैं, जो कि केन्द्रीय निगम के हैं। इन प्रावधानों का अध्ययन हम अभी ऊपर कर आये हैं। अतः उन्हे यहा विस्तार सहित दोहराना आवश्यक नही है। तथापि, ये दोनो अधिनियम एक दूसरे से जिन मुख्य बातों मे भिन्न हैं, उनको यहा बतलाना अवश्य आवश्यक है।

क्षेत्र—यह तो स्पष्ट ही है कि केन्द्रीय निगम का कार्यक्षेत्र जहा सम्पूर्ण भारत है, वहा राज्य निगम का कार्यक्षेत्र केवल अपना-अपना राज्य है। अतः केन्द्रीय निगम का सम्बन्ध जहा केन्द्रीय सरकार से है, वहा राज्य निगम का सम्बन्ध अपने राज्य की सरकार से है। यहाँ एक महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि राज्य वित्तीय निगम अधिनियम मे 'औद्योगिक संस्था' की परिभाषा को अधिक विस्तृत कर दिया है, जिससे इसमे न केवल लोक सीमित कम्पनियां ही आती हैं, वरन् निजी सीमित कम्पनियां (Private Limited Companies), साझेदारियां तथा स्वामिक फर्मे (Proprietary Concerns) भी आती हैं। यह बडा आवश्यक था, क्योंकि राज्य

निगम मुख्यत. लघु औद्योगिक उपक्रमों के लिए स्थापित किये जा रहे हैं और ये उपक्रम बहुधा निजी सीमित कम्पनियां, साझेदारियां या स्वामित्व वर्ग होती हैं।

पूंजी—किसी राज्य निगम की अधिकृत (Authorised) अंश पूंजी ५० लाख रु० से ५ करोड़ रु० तक की हो सकती है जबकि केन्द्रीय निगम की यह पूंजी १० करोड़ रु० है। अपनी कार्यशील पूंजी को बढ़ाने के लिए केंद्रीय निगम की भांति, राज्य निगमों को भी (i) बंध अथवा ऋणपत्र जारी करके अपनी परिदत्त पूंजी तथा सुरक्षित कोष से अधिक से अधिक ५ गुना तक रकम प्राप्त करने, तथा (ii) जनता से कम से कम ५ वर्ष की अवधि के निक्षेप (Deposits) प्राप्त करने का अधिकार है। केन्द्रीय निगम जहां अधिक से अधिक कुल १० करोड़ रु० तक के निक्षेप स्वीकार कर सकता है, वहां कोई राज्य निगम अधिक से अधिक अपनी परिदत्त पूंजी के बराबर तक निक्षेप स्वीकार कर सकता है। राज्य निगम के अंशों, बंधों व ऋणपत्रों के मूलधन की वापसी तथा लाभांश व ब्याज के भुगतान की जमानत उस राज्य की सरकार को देनी होती है, जबकि केन्द्रिय निगम के सम्बन्ध में यह जमानत केन्द्रीय सरकार ने दी है।

केन्द्रीय निगम व राज्य निगमों में यहां एक महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि राज्य निगमों के अंशों को निजी व्यक्ति व गैर-अनुसूचित बैंक (Non-scheduled Banks) भी खरीद सकते हैं, जबकि केन्द्रीय निगम के अंश इनके द्वारा नहीं खरीदे जा सकते। तथापि, राज्य निगम भी अपनी अंश पूंजी का केवल २५% भाग ही इन्हें बेच सकती हैं, और वह भी केन्द्रीय सरकार की अनुमति से शेष ७५% अंश राज्य सरकार, रिज़र्व बैंक, अनुसूचित बैंक बीमा कम्पनियां, विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts), तथा इसी प्रकार की अन्य वित्तीय संस्थायें व सहकारी बैंक ही खरीद सकते हैं, और इन अंशों का हस्तान्तरण केवल इन्हीं संस्थाओं में हो सकता है। निजी व्यक्तियों को राज्य निगम के अंश खरीदने का अधिकार दे दिये जाने के कारण इन निगमों पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वे अपने ही अंशों की जमानत पर किसी को ऋण नहीं दे सकते।

कार्य—राज्य वित्तीय निगमों के भी वे ही कार्य हैं, जो कि केन्द्रीय निगम के, जैसे कि (i) ऊपर बतलाई गई औद्योगिक संस्थाओं के ऋणों की जमानत देना, (ii) उनके स्कंधों (Stocks), अंशों, बंधों व ऋणपत्रों का अभिगोपन (Underwrite) करना, और (iii) इन्हें ऋण अथवा पेशगियां देना। केन्द्रीय निगम व राज्य निगमों के कार्यों में यहां महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि राज्य निगम किसी औद्योगिक संस्था को अधिक से अधिक २० वर्षों की अवधि के लिये ऋणों की जमानत, ऋण अथवा पेशगियां दे सकते हैं, जबकि केन्द्रीय निगम के लिये यह अधिकतम अवधि २५ वर्ष है। साथ ही एक और भिन्नता यह है कि राज्य निगम किसी एक औद्योगिक संस्था को १० लाख रु० से अधिक का ऋण नहीं दे सकता, जबकि केन्द्रीय निगम १ करोड़ रु० तक का (और केन्द्रीय सरकार द्वारा ऋण की जमानत दिये जाने पर तो १ करोड़ रु० से भी अधिक का) ऋण दे सकता है। यह इसलिये

क्योंकि एक तो केन्द्रीय निगम की तुलना मे राज्य निगमों की कार्यशील पूंजी कम होगी, और दूसरे उन्हे छोटे-छोटे अधिक औद्योगिक उपक्रमो की वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करना होगा। तथापि, (केन्द्रीय निगम के सामान्य ऋणो व जमानत की भांति), राज्य निगमो के ऋण व जमानत भी किसी ठोस सम्पति के बंधक, रहन अथवा उपप्राधीयन (Hypothecation) द्वारा पूर्णतया सुरक्षित होगे।

प्रबन्ध—केन्द्रीय निगम की भांति, राज्य निगम का प्रबन्ध भी संचालको के एक मण्डल, उसकी एक कार्यकारिणी समिति और एक प्रबन्ध-सचालक द्वारा किया जाता है।

राज्य वित्तीय निगमों की स्थापना व उनका कार्यकरण—३१ मार्च, १९५८ तक मैसूर तथा जम्मू व काश्मीर राज्य को छोडकर अन्य सभी (१२) राज्यो में राज्य वित्तीय निगम स्थापित किये जा चुके थे। अब मैसूर राज्य ने भी ऐसे निगम की स्थापना का निर्णय ले लिया है। अधिकाश निगमों की अधिकृत पूंजी २ करोड रु० और परिदत्त पूजी १ करोड रु० है। रिजर्व बैंक ने सामान्यतया इन निगमो को १० से १५ प्रतिशत के बीच अश-पूंजी प्रदान की है। मार्च, १९५८ के अन्त मे इन १२ निगमों की कुल पूजी १३ ३ करोड रु० था।

पिछले पाच वर्षों मे इन निगमो के द्वारा स्वीकृत, वास्तव मे दिये गये तथा देय (Outstanding) ऋणो के आकडे नीचे दिये गये हैं—

राज्य वित्तीय निगमो के ऋण कार्य*

(लाख रु० मे)

वर्ष	स्वीकृत-ऋण	वास्तव मे दिये गये ऋण	वर्ष के अन्त मे देय (Outstanding) ऋण
१९५३-५४	७०	३३	१,०३
१९५४-५५	२,११	१,३२	२,२६
१९५५-५६	४,०५	१,८७	४,०३
१९५६-५७	४,४१	२,८६	६,४५
१९५७-५८	४,७७	३,७१	९,५१

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि १९५३-५४ मे निगमो द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा बहुत छोटी थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उस वर्ष मे केवल दो ही राज्य वित्तीय निगम थे। अधिकाश राज्य वित्तीय निगम १९५४-५५ व १९५५-५६ के दो वर्षों मे अर्थात् तीन-चार वर्ष पहले ही स्थापित किये गये है। अतः ऊपर की तालिका से यह भी स्पष्ट है कि पिछले तीन वर्षों मे इन निगमो द्वारा मे ही वृद्धि हुई है। फलस्वरूप देय ऋणो की मात्रा मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। स्वीकृत ऋणो तथा वास्तव मे दिए गए ऋणो की मात्रा, दोनों पिछले वर्ष (१९५७-५८) मे एक और अच्छी बात यह हुई है कि उस वर्ष मे जितने ऋण स्वीकृत हुए थे, उनके अपेक्षाकृत, काफी बडे भाग का वास्तव मे भुगतान किया गया। तथापि, अभी तक भी ये निगम छोटे व मध्य स्तर के उद्योगो को पर्याप्त

*Source Reserve Bank of India Report on Currency and Finance for the year 1957—58, Statement 50.

वित्तीय सहायता प्रदान नही कर पाये है। इसका एक कारण तो यही है कि इन निगमो के वित्तीय साधन काफी सीमित है। इन साधनो को बढाने के लिये पिछले वर्ष (१९५७-५८) मे ही कुछ पुराने निगमो (पजाब, बम्बई, केरल और पश्चिमी बगाल) ने दस वर्षीय बध (Bonds) जारी करके लगभग ३ करोड रु० एकत्र किया है।

निगमो द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता के सीमित होने का एक कारण यह भी है कि जितने ऋणो के लिये इनके पास प्रार्थना-पत्र आते है, बहुधा उनका बहुत छोटा प्रतिशत स्वीकार हो पाता है। इसके आगे निम्नलिखित मुख्य कारण है—

(१) राज्य निगम भूमि, इमारत, मशीनरी आदि स्थिर पूंजी की ठोस ज़मानत पर ऋण दे सकते है। परन्तु बहुधा लघु उपक्रमो के पास ऐसी सम्पत्ति का अभाव होता है। बहुत बार भूमि व इमारत किराये की होती है, और केवल मशीनरी का मूल्य बहुत कम होता है, जिस की ज़मानत पर पूरा ऋण नही दिया जा सकता। यह कठिनाई इसलिये और भी बढ जाती है, क्योकि निगम स्थिर पूजी के मूल्य का ५०% उधार-प्रतिभूति अन्तर (Margin) रखकर शेष के बराबर ही ऋण देते हैं। ऐसी दशा मे बहुत से ऋण लेने वाले पण्य सामग्री (Stock in trade) की जमानत पर ऋण मागते है। परन्तु राज्य निगम ऐसा नही कर सकत. क्योकि पण्य सामग्री की जमानत पर अल्पकालीन ऋण प्रदान करना व्यापारिक बैंको का सामान्य कार्य है, न कि इन निगमो का।

(२) बहुत बार जो सम्पत्ति जमानत के रूप मे पेश की जाती है, उसके स्वामित्व सम्बन्धी पत्र (Documents of Title) उपलब्ध नही होते, और उनके स्वामित्व के बारे मे कुछ कठिनाइया (Complications) होती है। ऐसी सम्पत्ति, को कोई निगम जमानत के रूप मे स्वीकार नही कर सकता। यह इसलिये होता है क्योकि राज्य निगम केवल सीमित कम्पनियो को ही वित्त प्रदान नही करते, वरन् इनके क्षेत्र मे साझेदारिया, सयुक्त परिवार उपक्रम (Joint Family Businesses) तथा स्वामिक फर्में (Proprietory Concerns) भी आती है। ये साझेदारियाँ व स्वामिक फर्मे ठीक प्रकार से अपना हिसाब-किताब नहीं रखती और न उसका लेखा-परीक्षण कराती है, क्योकि उनके ऊपर इस प्रकार का कोई वैधानिक दायित्व नही है। ऐसी दशा मे निगम उनकी आर्थिक दशा का ठीक-ठीक अनुमान नही लगा सकते। अत ऋण देने से पहले निगम इस बात पर जोर देते हैं कि आवेदक ठीक-ठीक लेखा रखे, जिसके लिये ये छोटे उपक्रम आसानी से तैयार नही होते।

(३) व्यवहार मे यह भी देखा गया है कि छोटे उपक्रमो के अधिकांश आवेदन-पत्र अधूरे होते है। उनमें उनके कारखानो मे लगी मशीनो की उत्पादन-क्षमता वार्षिक-उत्पादन, लाभ-हानि प्रस्तावित प्रसार के फलस्वरूप उत्पादन मे होने वाली वृद्धि, अतिरिक्त लागत के बारे में पूरी-पूरी सूचना नहीं होती। अत: ऐसे आवेदन-पत्र पूर्णरूप से अस्वीकृत हो जाते है।

(३) निगमो की एक और कठिनाई यह भी है कि विभिन्न लघु उद्योगो के बारे मे आवश्यक आकडे देश मे उपलब्ध नही हैं। ऐसी दशा मे उस उद्योग की भावी सम्भावनाओ के बारे मे निगम ठीक-ठीक अनुमान लगाकर अपनी नीति का निर्धारण नही कर सकता।

(४) बहुत से लघु उपक्रमो को राज्य निगमो से इसीलिये वित्तीय सहायता नही मिल पाती, क्योंकि इन उपक्रमो की वित्तीय आवश्यकतायें बहुत छोटी होती हैं, और राज्य निगम एक सीमा से छोटी मात्रा के ऋण नही देते है।

(६) राज्य निगमो द्वारा दिये जाने वाले ऋण काफी महगे पडते हैं। इन पर ब्याज की दर सामान्यतः ६ से ७ प्रतिशत के बीच होती है। इसके अतिरिक्त, ऋण लेने वाले को रजिस्ट्रेशन फीस, स्टाम्प-कर, वकीलों की फीस, मूल्यांकन शुल्क (Valuation Charges), आदि खर्चे भी बर्दाश्त करने पडते है।

राज्य वित्तीय निगमो के कार्यकरण के अनुभव के आधार पर जाने गये इसके कुछ दोषो व बाधाओ को दूर करने के लिये, सितम्बर, १९५६ में राज्य वित्तीय निगम अधिनियम, १९५१ मे कुछ निम्नलिखित संशोधन किये गये हैं—

(१) दो या अधिक राज्य, यदि चाहे तो, आपसी समझौते के द्वारा मिलकर एक संयुक्त निगम स्थापित कर सकते है। यह भी हो सकता है कि समझौते के द्वारा पहले से स्थित किसी राज्य निगम का अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction) किसी अन्य राज्य तक भी बढा दिया जाय।[1]

(२) राज्य वित्तीय निगम केन्द्रीय सरकार अथवा औद्योगिक वित्त निगम के अभिकर्त्ता के रूप मे भी कार्य कर सकता है।[2]

(३) राज्य निगम रिजर्व बैंक से १८ महीने की अवधि तक के लिये अल्पकालीन ऋण ले सकता है।

(४) राज्य निगम राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक, अथवा सहकारी बैंक की जमानत पर लघु व कुटीर उद्योगों को, पर्याप्त ठोस सम्पत्ति न रहने पर भी, वित्तीय सहायता प्रदान कर सकते हैं।

(५) निगम जिन औद्योगिक उपक्रमो को अपने हाथों मे ले, उनके कार्यक्षम प्रबन्ध के लिए निगमो को कुछ अधिकार दिये गए हैं।

(६) रिज़र्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार के कहने पर वह राज्य वित्तीय निगमो के कार्यकरण का निरीक्षण कर सकता है।

---

[1]अक्तूबर, १९५७ मे ऐसे ही एक समझौते के द्वारा पंजाब निगम का अधिकार-क्षेत्र दिल्ली तक बढा दिया गया है।

[2]इस समय उत्तर प्रदेश, आध्र प्रदेश और बम्बई मे वहा के राज्य वित्तीय निगम अपनी-अपनी राज्य सरकार द्वारा उद्योगो को दिये जाने वाले वित्त के वितरण के लिये अभिकर्ता का कार्य करते हैं।

अपनी पूंजी को किसी औद्योगिक उपक्रम में प्रत्यक्ष रूप से लगा सकता है। औद्योगिक वित्त निगम व राज्य वित्तीय निगम यह दूसरा कार्य नहीं कर सकते, केवल पहला कार्य ही कर सकते हैं।

इस निगम को इस से सम्बन्धित औद्योगिक उपक्रमों पर नियन्त्रण करने के लिए कुछ अधिकार भी प्रदान किये गये हैं। तदनुसार, यह ऐसे किसी उपक्रम के संचालक मण्डल में संचालकों को या परामर्शदाताओं (Advisors) को मनोनीत (Nominate) कर सकता है, या उसके साथ साझेदारी स्थापित कर सकता है या उसके साझे कार्यकरण के लिए ऐसी ही कोई व्यवस्था कर सकता है।

इसके अतिरिक्त, इस निगम का कार्य औद्योगिक योजनाओं का अध्ययन व जांच (Investigation) करना भी होगा, और इन योजनाओं को कार्यरूप देते हुए यह, जहां तक भी सम्भव होगा, निजी क्षेत्र में उपलब्ध औद्योगिक उपकरण अनुभव और कौशल का अधिकतम प्रयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।

यह निगम केवल औद्योगिक उपक्रमों को सहायता ही नहीं देगा, वरन् यदि किसी दिशा में आवश्यकता हुई, तो यह स्वयं भी नई औद्योगिक इकाइयां स्थापित करेगा। जब ये इकाइयां अच्छी प्रकार स्थापित हो जायं और लाभ देने लगें तथा यदि आवश्यक व वाञ्छनीय समझा जाय, तो इन्हें निजी उपक्रमियों को भी सौंपा जा सकता है। इस प्रकार यह निगम सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में उद्योगों के अनुरूप (Harmonious) विकास के लिये प्रयत्न करेगा।

कार्यकरण—निगम ने अपना कार्य १९५५ में प्रारम्भ किया, और कई एक उद्योगों को प्रारम्भ करने का निर्णय लिया। इनके बारे में इसने प्रारम्भिक खोजबीन भी प्रारम्भ की। इनमें से कुछ औद्योगिक योजनायें ये हैं:—इस्पात फाउन्ड्रीज, फोर्जशाप्स (Forgeshops), स्ट्रक्चरल फेब्रिकेशन (Structural Fabrication), रिफ्रेक्टरीज (Refractories), रंग बनाने के समान, लुग्दी, कार्बन ब्लैक, पाइराइट्स से गन्धक, छपाई की मशीनों आदि के निर्माण की योजनायें, आदि। इन अन्वेषणों में, आवश्यकतानुसार, विदेशी विशेषज्ञों की सहायता भी ली गई है। इस के अतिरिक्त पटसन तथा सूती वस्त्र के उद्योगों के पुनरस्थापन तथा आधुनिकीकरण के लिये निगम के द्वारा दीर्घकालीन ऋण देने का भी निर्णय लिया गया, और इस कार्य के लिये निगम ने कलकत्ता और बम्बई में दो मण्डल भी नियुक्त किये।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में निगम के कार्यों के लिये ५५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इसमें से लगभग २०-२५ करोड़ रु० तो पटसन और सूती वस्त्र उद्योगों के आधुनिकीकरण के लिये ऋणों में दिया जायगा, और शेष लगभग ३५ करोड़ रुपया नये बुनियादी तथा भारी उद्योगों की स्थापना व विकास में खर्च होगा। अभी ऊपर हम बतला चुके हैं कि निगम ने १९५५ में ही कुछ औद्योगिक योजनाओं के बारे में खोज-बीन आरम्भ कर दी थी। इसके अतिरिक्त, द्वितीय योजनाकाल में निगम द्वारा एक अल्युमिनियम का कारखाना, भूमि खोदने व खान खोदने, आदि के

लिये भारी मशीनें बनाने, और फैरस व नान-फैरस (Ferrous & Non-ferrous) उद्योगों में काम आने वाले बेलन तथा बेलन के कारखानों के औजारों के निर्माण का एक कारखाना स्थापित करने के लिये पद उठाये जायेंगे।

योजना में यह माना गया है कि निगम के उपर्युक्त कार्य-क्रम को पूरा करने के लिये आवश्यकता से कम धन की व्यवस्था की गई है। अत योजना मे कहा गया है कि यदि वित्त के अभाव में, निगम के कार्यक्रमों में प्राथमिकता क्रम बनाने की आवश्यकता हुई, तो पहली प्राथमिकता भारी मशीने बनाने वाले उद्योगो तथा उनसे प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित उद्योगो को दी जायेगी, क्योंकि तृतीय पचवर्षीय योजना मे जिन भारी मशीनों की आवश्यकता होगी, उन्हे भारत मे ही बनाने के उपर्युक्त साधन बनाने आवश्यक हैं।

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम

(Industrial credit & Investment Corporation)

स्थापना—यह एक निजी स्वामित्व एव प्रबन्ध वाला निगम है जिसकी स्थापना जनवरी १९५५ में निजी क्षेत्र मे उद्योगों के विकास को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहित करने के लिये हुई थी। १९५३ मे भारत सरकार एवं विश्व बैंक (I B R D) की ओर से पुरस्कृत (Sponsored) तीन व्यक्तियों के एक शिष्टमण्डल (Mission) ने यह निर्णय किया कि भारत को, यू० के० (U. K.) के 'औद्योगिक एव वाणिज्य वित्त निगम' (Industrial and Commercial Finance Corporation) की भांति ही एक विशिष्ट संस्था की आवश्यकता है, क्योंकि औद्योगिक वित्त निगम, उद्योगों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूरी तरह से पूरा नहीं कर पा रहा है।

अत भारत, यू० के० व स० रा० अमरीका (U S A.) के पूंजीपतियों ने भारत सरकार व विश्व बैंक की सहायता से १९५५ मे इस निगम की स्थापना की।

पूंजी-कलेवर (Capital Structure)—इस निगम की अधिकृत पूंजी २५ करोड़ रु० है तथा अभी तक इसकी प्रार्थित एव पूर्णतया परिदत्त अंश पूंजी ५ करोड़ रु० है। इस ५ करोड़ रु० की परिदत्त अंश पूंजी में से ७०% पूंजी भारतीयहितों (बैंकों, बीमा कम्पनियों, आदि निजी संस्थाओं तथा जनता) द्वारा, २०% ब्रिटिश हितों द्वारा और शेष १०% अमरीकन हितों द्वारा दी गई है। इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने 'प्राविधिक सहयोग प्रशासन' (Technical Co-operation Administration) के रुपया-कोष से निगम को ७.५ करोड़ रु० की बिना ब्याज की पेशगी (Advance) दी है। यह पेशगी १५ वर्ष के पश्चात् १५ समान वार्षिक किस्तों मे वापिस करनी होगी। विश्व बैंक (I. B R. D) ने इस निगम को भारत सरकार की जमानत पर विभिन्न विदेशी मुद्राओं मे ५ करोड़ रु० का ऋण दिया है। इस ऋण की अवधि १५ वर्ष है, और इस पर ब्याज की दर ४½% है। इस प्रकार इस निगम का प्रारम्भ १७.५ करोड़ रु० की कार्यशील पूंजी से हुआ है। इस कार्यशील पूंजी को और बढ़ाने के लिये निगम को अपनी परिदत्त पूंजी,

सुरक्षित कोष (Reserves) तथा भारत सरकार की ओर से मिली पेशगी की बाकी (Outstanding) की कुल रकम के अधिक से अधिक तीन गुना तक ऋण लेने का अधिकार है।

उद्देश्य तथा कार्य—इस निगम का मुख्य उद्देश्य निजी क्षेत्र मे उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित करना है। इसके लिये यह निगम सामान्य रूप से (i) निजी उपक्रमो की स्थापना, प्रसार एव आधुनिकीकरण मे सहायता देगा, (ii) ऐसे उपक्रमो मे देशी और विदेशी दोनो प्रकार की निजी पूंजी की हिस्सेदारी (Participation) को प्रोत्साहित करेगा, और (iii) औद्योगिक विनियोगो के निजी स्वामित्व को तथा विनियोग बाजार के प्रसार को प्रोत्साहित करेगा। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह निगम निम्नलिखित विशिष्ट कार्य करेगा—

(i) यह दीर्घकालीन अथवा मध्यकालीन ऋणों के रूप में अथवा (Equity Participations) के रूप मे वित्त प्रदान करेगा।

(ii) अंशो व प्रतिभूतियो के नये निर्गमन को पुरस्कृत (Sponsor) करेगा तथा उनका अभिगोपन (Under-write) करेगा,

(iii) निजी विनियोग के अन्य स्रोतो से प्राप्त ऋणो की जमानत देगा,

(iv) विनियोगों का जितनी जल्दी भी उचित हो उतनी जल्दी ही पुनः मूल्याकन करके कोषो को पुन. विनियोग के लिये उपलब्ध करायेगा, और

(v) भारतीय उद्योगो को प्रबन्धकीय (Managerial), प्राविधिक (Technical) तथा प्रशासनिक (Administrative) परामर्श प्रदान करेगा तथा उन्हे प्रबन्धकीय, प्राविधिक तथा प्रशासनिक सेवायें प्राप्त करने मे सहायता देगा। निगम का यह कार्य इसके कार्य क्षेत्र को काफी विस्तृत बना देता है। औद्योगिक वित्त निगम निजी क्षेत्र में उद्योगो को ठोस एवं पर्याप्त जमानत पर केवल वित्त प्रदान करता है, इस प्रकार की सेवा प्रदान नही करता।

आशा है कि यह सस्था निजी क्षेत्र मे उद्योगो के प्रसार एव आधुनिकीकरण को प्रोत्साहित कर उनके उचित विकास मे सहायक होगा। कुछ लोगों का अनुमान है कि, कुछ समय बीतने पर, यह निगम एक विनियोग प्रन्यास (Investment Trust) मे विकसित हो पायेगा, जिसका विशिष्ट कार्य निजी उपक्रमो की जोखिम पूंजी (Risk Capital) का एक भाग तथा आधुनिक औद्योगिक ज्ञान प्रदान करना होगा।[1]

कार्यकरण[2]—१९५७ के अन्त तक निगम ने कुल ११·६५ करोड रु० की वित्तीय सहायता की स्वीकृति दी थी। इसमे से ५·४४ करोड़ रु० की सहायता ऋणो के रूप मे थी, और ६·२१ करोड रु० की सहायता अंशो व ऋणपत्रो के

[1] N Dass, Industrial Enterprise in India, 2nd. revised ed, p 64.

[2] Source: Reserve Bank of India. Report Currency & Finance for the year 1957 58, p. 46.

अभिगोपन तथा अंशों के प्रत्यक्ष अभिदान के रूप में थी। इसमें से २·२१ करोड़ रु० के पाँच ऋण विदेशी मुद्राओं के थे। तथापि इस स्वीकृत सहायता का वास्तविक भुगतान काफी कम था। १९५७ के अन्त तक ऋणों का वास्तविक भुगतान केवल १·६५ करोड़ रु० (स्वीकृत ऋणों का लगभग ३६%) और अंशों के ऋणपत्रों का वास्तविक अभिगोपन तथा अंशों में वास्तविक प्रत्यक्ष अभिदान कुल २·१ करोड़ रु० का (स्वीकृत रकम का लगभग एक तिहाई) था। निगम ने यह सहायता कई एक उद्योगों के नये व पुराने उपक्रमों को दी है।

पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation)—

जून १९५८ में उद्योगों के लिये पुनर्वित्त निगम प्राइवेट लिमिटेड' (Refinance Corporation for Industry Private. Ltd.) के नाम से देश में एक और वित्तीय निगम की स्थापना की गई है। इस निगम का उद्देश्य निजी क्षेत्र में मध्यम आकार की औद्योगिक इकाइयों के लिये उपलब्ध वित्तीय साधनों को बढ़ाना है। इसके लिये यह निगम उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से स्वयं ऋण नहीं देता, वरन्, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह बैंकों को ऐसा करने के लिये वित्त प्रदान करेगा। बैंक उद्योगों को जो ऋण देते हैं, उसके बदले में अथवा उस सुविधा को और बढ़ाने के लिये, निगम बैंकों को पुनः वित्त प्राप्ति (Refinance) की सुविधा देगा। इस सुविधा के आधार पर बैंक आगे उद्योगों को अधिक मात्रा में ऋण दे पायेंगे।

यह निश्चित किया गया है कि निगम बैंकों के द्वारा दिये जाने वाले केवल उन्हीं ऋणों को पुन भुनाने (पुन वित्त प्राप्त करने) की सुविधा देगा, जो मध्यम आकार के हैं, अर्थात् कोई एक ऋण ५० लाख रु० से अधिक का नहीं है, जो मध्यम अवधि के अर्थात् ३ से ७ वर्ष के बीच की अवधि के है, और जो मध्यम आकार की ऐसी औद्योगिक इकाइयों को दिये गये है, जिनकी परिदत्त अंश पूंजी और सुरक्षित कोष मिलकर २·५ करोड़ रु० से अधिक नहीं हैं। साथ ही ये ऋण प्रधानत. उन उद्योगों में लगी हुई उत्पादन इकाइयों को दिये जाने चाहिये, जिन्हें दूसरी अथवा आगे आने वाली पंच वर्षीय योजनाओं में शामिल किया गया है अथवा किया जायेगा।

पूंजी-निगम की अधिकृत पूंजी २५ करोड़ रु० है। इसकी प्रारम्भिक निर्गमित पूंजी (Issued Capital) १२·५ करोड़ रु० है, जिसका अभिदान रिजर्व बैंक, जीवन बीमा निगम, तथा १५ बड़े अनुसूचित बैंकों ने किया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार निगम को २६ करोड़ रु० का ऋण देगी*। २६ करोड़ रु० की यह रकम अमरीकन कृषि वस्तुओं को बेचने से प्राप्त धन-राशि का एक भाग होगी। अगस्त, १९५६ में भारत सरकार और स० रा० अमरीका की सरकार के बीच एक 'कृषि-वस्तु समझौता' हुआ था। उस समझौते में यह तय पाया था कि अमरीकन सरकार भारत सरकार को जो कृषि-वस्तुओं के रूप में ऋण प्रदान कर रही है,

*इस सम्बन्ध में अगस्त, १९५८ में भारत सरकार व० स० रा० अमरीका की सरकार के बीच एक नया समझौता हुआ है।

उनके बिक्रीग्रागम मे से भारत सरकार ५.५ करोड़ डालर के बराबर का लगभग २६ करोड रुपया निजी क्षेत्र मे उद्योगों को ऋण देने के लिये उपलब्ध करायेगी और ये ऋण निर्दिष्ट स्थापित बैंको के जरिये दिये जायेंगे। उसी के लिये एक पुनर्वित्त निगम की स्थापना का तभी निश्चय लिया गया था, जिसकी वास्तव में स्थापना, काफी देर के पश्चात् जून, १९५८ मे हुई है। इस प्रकार निगम के पास ऋण देने के लिये आरम्भ मे ३८.५ करोड़ रु० (१२.५ करोड़ रु० की प्रार्थित पूंजी तथा २६ करोड रु० का भारत सरकार से प्राप्त ऋण) की पूंजी होगी। इसमे से निगम की अंश-पूंजी में भाग लेने वाले प्रत्येक अनुसूचित बैंक का अभ्यश (Quota) निश्चित कर दिया जायेगा, जिसके अन्तर्गत वह निगम से पुनः वित्त की सुविधा प्राप्त कर सकेगा।

आशा है इस निगम की स्थापना से मध्यम आकार के औद्योगिक उपक्रमो को बडा लाभ होगा, और वे दूसरी (तथा आगे आने वाली अन्य) पंचवर्षीय योजना के ढांचे के अन्तर्गत उत्पादन को पर्याप्त रूप से बढा पायेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)—

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना जुलाई, १९५६ मे हुई थी यह विश्व बैंक (I. B. R. D.) से ही सम्बद्ध एक संस्था है, यद्यपि इसकी वैध सत्ता और इसके कोष बैंक से बिल्कुल अलग है तथापि, बैंक के सदस्य देशों की सरकारें ही इस निगम की सदस्य हो सकती हैं। निगम का उद्देश्य सदस्य देशो मे, और विशेषतः कम विकसित क्षेत्रों मे, उत्पादक निजी साहस को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास को बढाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यह निगम निम्नलिखित कार्य करेगा।

(i) जहां उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा मे निजी पूंजी उपलब्ध नही है, वहा निजी विनियोजक के साथ मिलकर और पूंजी की वापसी के सम्बन्ध में सरकार की जमानत के बिना ही उत्पादक निजी उपक्रमो मे विनियोग करना,

(ii) विनियोग अवसर, निजी पूंजी (विदेशी और देश की दोनो) और अनुभवी प्रबन्ध को एक साथ लाने के लिये निकासी गृह (Clearing House) के रूप मे कार्य करना, और

(iii) सदस्य देशों मे ऐसे वातावरण को जन्म देने मे सहायक होना जिससे कि देशी और विदेशी निजी पूंजी को उत्पादक विनियोगो मे लगाने का प्रोत्साहन मिले।

निगम की अधिकृत पूंजी १० करोड अमरीकन डालर है। इसमे ७.८४ करोड डालर का ३२ देशो की सरकारो ने अभिदान किया है। भारत सरकार भी इसकी एक सदस्य है, और इसने निगम के अंशो मे ४४.३ लाख डालर का अभिदान किया है।

उपसंहार—

ऊपर के अध्ययन से स्पष्ट है कि हाल ही तक भारत मे औद्योगिक वित्त

प्राप्त करने की सुविधायें कई प्रकार से अपर्याप्त तथा दोषपूर्ण थी। कुछ एक सुस्थापित तथा बडी औद्योगिक कम्पनियो को छोडकर, अन्य सभी को पूंजी प्राप्त करने मे बडी कठिनाई रहती थी। यह कठिनाई कार्यशील पूंजी की तुलना मे दीर्घकालीन और जोखिम (Equity) पूजी के सम्बन्ध मे अधिक थी, और बडे स्तर के उद्योगों की तुलना मे लघु व कुटीर उद्योगो के लिये कार्यशील पूंजी के सम्बन्ध मे भी कही अधिक थी। परन्तु पिछले आठ-दस वर्षों से दशा सुधर रही है। इन वर्षों मे राज्य की प्रत्यक्ष साझेदारी से अथवा उसके प्रोत्साहन से उद्योगो की विभिन्न प्रकार की वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये देश मे कई एक विनियोग अथवा विकास निगम स्थापित किये गये है। प्रवन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोषो को दूर करने के लिये आवश्यक कदम उठाये गये है। जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करके, इसके द्वारा प्राप्त कोषो का नियोजित रूप से विनियोग करने का अधिकार सरकार ने प्राप्त कर लिया है। उद्योगो को बढती हुई मात्रा मे कार्यशील पूंजी प्रदान करने के लिये व्यापारिक बैंकों के साधनो को तथा बैंकिंग सुविधाओं को बढाने के प्रयत्न किये जा रहे है। अत श्री एन० दास का कहना है कि, "जब भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की थी, तब से देश काफी आगे बढ चुका है। यदि निजी साहस आज भी कठिनाई मे है, तो इसके कारण वित्त की बजाय अन्य क्षेत्रो मे ढूंढने चाहिये।*" परन्तु यह वास्तविकता का कुछ अतिरंजित चित्र है। औद्योगिक वित्त के क्षेत्र मे दशा मे काफी सुधार हुआ है, यह सत्य है। परन्तु अभी भी सुधार तथा विकास के लिये क्षेत्र बाकी है, और इस सुधार तथा विकास की आवश्यकता भी है। भारतीय पूजी बाजार मे अभी भी प्रवर्तन, निर्गमन और अभिगोपन की संस्थाओ तथा विनियोग प्रन्यासो का सापेक्षिक अभाव है, जिसे दूर करना आवश्यक है। साथ ही हाल ही के वर्षों मे जो नई विशिष्ट वित्तीय संस्थाये स्थापित की गई है, उनकी उपयोगिता को बढाना भी आवश्यक है? जनता मे बचत तथा विनियोग करने की आदत को प्रोत्साहित करने मे स्कन्ध विनिमयो (Stock Exchanges) का बडा महत्व है, क्योंकि वे प्रतिभूतियो को तरलता प्रदान करती है। पिछले कुछ वर्षो मे इन विनिमयो मे बहुत अधिक सट्टेबाजी होती रही है, जिससे स्कन्धो व अशो के मूल्यो मे भारी उतार-चढ़ाव आते रहे है। इससे विनियोग हतोत्साहित होता है। अत. स्कन्ध विनिमयों का कार्यकरण अच्छी प्रकार से नियमित होना चाहिये और स्वस्थ व्यापार-रीतियों का विकास किया जाना चाहिये। हर्ष की बात है कि २५ अगस्त, १६५८ को संसद में घोषित जीवन बीमा निगम की विनियोग-नीति का एक प्रधान उद्देश्य स्कन्ध बाजार की उथल-पुथल को कम करके उसमे स्थायित्व लाना रखा गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये निगम तेजी के युग मे अंशो को बेचेगा और मन्दी के युग मे उन्हे खरीदेगा। यह व्यर्थ की सट्टेबाजी मे न पड़कर राष्ट्रीय हितो की रक्षा

*N. Dass Industrial Enterprise in India, 2nd ed., p. 67.

करेगा। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक बैंकों के द्वारा उद्योगों को पहले से अधिक मात्रा में अल्पकालीन वित्त दिलवाने के लिये प्रयत्नों को बढ़ाना भी आवश्यक है।

University Questions

1. Is the supply of capital for new industrial concerns in India inadequate at the present time? Give the factors responsible for such inadequacy. *(Agra, 1957)*

2. What are the sources of finance for industries in India? What has been done by the government in recent times to increase facilities for industrial finance? *(Patna, 1954)*

निजी उपक्रम राज्य की सक्रिय सहायता तथा सहयोग के बिना, क्या कुछ कर सकता है, इसका अनुमान हम देश का पिछले १०० वर्षों मे होने वाले औद्योगीकरण से ही लगा सकते है । अतः यदि हम देश का तेजी से औद्योगिक विकास कर लोगो को अच्छा जीवन बिताने के लिये पर्याप्त आय देने वाले रोज़गार-अवसर प्रदान कर देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति एवं व्यापक समृद्धि लाना चाहते हैं, तो राज्य का इस औद्योगिक विकास मे सक्रिय सहयोग अनिवार्य है।

राज्य के इस सक्रिय सहयोग की मात्रा तथा स्वरूप क्या हो, यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसका उत्तर समय तथा परिस्थितियो के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा, । आज की परिस्थितियो मे यह आवश्यक है कि राज्य न केवल निजी औद्योगिक उपक्रम की विभिन्न कठिनाइयों को दूर करे, वरन् वह स्वय औद्योगिक क्षेत्र मे आकर अपनी इकाइयां स्थापित कर निजी उपक्रम के प्रयत्नो की कमी को पूरा करे। इस दृष्टि से भारत जैसे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश मे राज्य को, मोटे रूप से, निम्नलिखित कार्य करने होंगे—

(१) औद्योगीकरण के आवश्यक उपादानों, जैसे परिवहन व सचार के साधनो तथा शक्ति के साधनो का समुचित विकास—

सड़को का निर्माण तथा विकास तो सभी देशो में राज्य का पुराना कर्तव्य रहा है। भारत मे रेले तथा वायु परिवहन राष्ट्रीय उद्योग हैं। जल-परिवहन के विकास तथा शक्ति, विशेषत. बिजली, के विकास के लिये बड़ी मात्रा मे साधनो की आवश्यकता है, अत राज्य की सहायता अपेक्षणीय है। किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिये इन दोनो प्रकार के साधनो का विकास पहली आवश्यकता है।

(२) औद्योगिक वित्त—

औद्योगिक वित्त को आधुनिक उद्योगो का जीवन-रक्त कहा जाता है। अतः आवश्यक है कि देश मे सभी प्रकार का औद्योगिक वित्त पर्याप्त मात्रा मे प्रदान करने के लिये उपयुक्त सस्थायें हो। भारत जैसे देश मे इन सस्थाओ की स्थापना एवं विकास के लिये राज्य की सहायता एवं सहयोग अनिवार्य है।

(३) औद्योगिक अनुसधान सर्वेक्षण एवं प्रशिक्षण—

आजकल विदेशो मे औद्योगिक क्षेत्र मे नित नये आविष्कार हो रहे हैं। अतः देश के उद्योगो को पिछड़ेपन से बचाने के लिये व औद्योगिक प्रगति के लिये औद्योगिक अनुसंधान के महत्व को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर नही कहा जा सकता। बड़े स्तर पर औद्योगिक अनुसधान भारत के निजी उपक्रम के बसकी बात नही है। अतः यहा औद्योगिक अनुसधान तथा औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक विभिन्न खनिज पदार्थों आदि का सर्वेक्षण भी राज्य का दायित्व होना आवश्यक है। साथ ही, उद्योगो को प्रशिक्षित श्रम प्रदान करने के लिये औद्योगिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था करना भी राज्य का कर्तव्य है।

(४) उपयुक्त राज्यकोषीय (Fiscal) तथा कर-नीति—

किसी भी देश मे विभिन्न उद्योगो के विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न भिन्न

परिस्थितियों में भिन्न भिन्न कारणों से विदेशी प्रतियोगियों में संरक्षण की आवश्यकता हो सकती है। अतः यह आवश्यक है कि सरकार आवश्यकता पड़ने पर उद्योगों को उचित अवधि के लिये उपयुक्त मात्रा में संरक्षण प्रदान करे। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि सरकार जहां करारोपण के अन्य उद्देश्यों को ध्यान में रखे, वहां यह भी देखे कि उसकी कर नीति ऐसी न हो जिसमें उद्योगों में विनियोग अनुचित रूप से हतोत्साहित होता हो।

(५) राज्य-उद्योग—अभी तक हमने ऊपर राज्य के उन कार्यों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा मुख्यतः निजी औद्योगिक उपक्रम की वे कठिनाइयां दूर होंगी, जो उनके मार्ग में बाधायें हैं। परन्तु केवल इतने से काम नहीं चलेगा। देश के द्रुत औद्योगिक विकास के लिये राज्य को स्वयं औद्योगिक क्षेत्र में आ अपनी उद्योग इकाइयां भी स्थापित करनी होंगी। यह हो सकता है कि बहुत से उद्योग ऐसे हों, जिनमें बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी का विनियोग आवश्यक हो और अथवा जिनमें जोखिम की मात्रा बहुत अधिक हो, जिसके कारण निजी उपक्रम उन उद्योगों में आने से घबराता हो, परन्तु जिनका समुचित विकास देश के औद्योगीकरण के लिये अथवा जन हित में आवश्यक हो। तब राज्य को इन उद्योगों में अपने कारखाने लगाने पड़ेंगे। इसी प्रकार ऐसा भी हो सकता है कि कुछ उद्योगों में निजी उपक्रम का विनियोग आवश्यकता से कम हो (जैसे भारत में लोहा व इस्पात उद्योग) अथवा इस का कार्यकरण जन-हित में न हो, तब राज्य को या तो निजी कारखानों के साथ-साथ अपने नये कारखाने लगाने पड़ेंगे अथवा और पुराने कारखानों को भी अपने हाथों में लेना पड़ेगा।

ऊपर के अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत जैसे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश में राज्य का देश के औद्योगिक विकास में महत्व बड़ा व्यापक है। इस अध्याय में हम संक्षेप में भारत सरकार की औद्योगिक नीति का अध्ययन करेंगे।

भारत में राज्य की उद्योगों के प्रति नीति—

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत की विदेशी सरकार की उद्योगों के प्रति नीति आरम्भ में केवल यथेच्छाकारिता (Laissez-faire); वरन् उदासीनता व उपेक्षा (Apathy and Indifference) की और प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से सीमित सहायता (Limited Asssistance) की नीति थी। उसकी नीति का मुख्य उद्देश्य भारत में उद्योगों का विकास न होकर ब्रिटिश उद्योगों के तैयार माल को बेचने के लिये भारतीय बाजार को सुरक्षित रखना था। भारत के औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा रहने का यह प्रमुख कारण रहा है। परन्तु १५ अगस्त, १९४७ को देश के स्वतन्त्र होने से दशा बदल गई। उस दिन से अपने भाग्य के हम स्वयं निर्माता हुए। अतः यह स्वाभाविक था कि शताब्दियों की दासता से शोषित जनता देश में एक नये आर्थिक युग के अवतरण का स्वप्न देखने लगी जिसमें कि भारत भी औद्योगिक उन्नति कर समृद्धि सम्पन्न होगा। इसके लिये राज्य को अपनी निष्क्रियता छोड़, देश के औद्योगीकरण में सक्रिय सहयोग देना आवश्यक था। तदनुसार, ६ अप्रैल, १९४८

को भारत सरकार ने पहली बार एक निश्चित औद्योगिक नीति की घोषणा की, जिसके द्वारा देश मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) की नींव पड़ी। इस घोषणा के पश्चात् से देश में राज्य और उद्योगो के सम्बन्ध में एक नया युग आरम्भ होता है जिसमे राज्य उद्योगो के प्रति एक उदासीन दर्शक (Indifferent Spectator) न रह कर एक सक्रिय साझीदार हो गया है। पिछले दस वर्षों की अल्प अवधि मे ही इस क्षेत्र मे इतनी अधिक महत्वपूर्ण घटनायें हुई हैं कि १९५६ में ही इस नीति का नई परिस्थितियों के अनुकूल पुनः प्रतिपादन करना पड़ा। नीचे हम इन पुरानी तथा नई दोनो नीतियों तथा अन्य सम्बन्धित घटनाओं, आदि का संक्षेप मे अध्ययन करते हैं।

भारत सरकार की १९४८ की औद्योगिक नीति—इस नीति की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—

उद्योगो को मोटे रूप से निम्नलिखित चार वर्गों में बांटा गया था:—

(अ) वे उद्योग जिन पर पूर्ण रूप से राज्य का एकाधिकार (Exclusive State Monopoly) होगा:—इस वर्ग मे ये तीन उद्योग शामिल किये गये थे—अस्त्र शस्त्रों का निर्माण, अणु शक्ति का उत्पादन एवं नियन्त्रण, और रेल-यातायात। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि संकट (Emergency) के समय मे सरकार राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक किसी भी उद्योग को अपने हाथो मे ले सकती है।

(आ) छ आधारभूत (Key) उद्योग:—कोयला, लोहा व इस्पात, वायुयान निर्माण, जलयान-निर्माण, टेलीफोन, तार और बेतार के तार (रेडियो सैट्स को छोड़कर) का निर्माण, और खनिज तेल का दूसरा वर्ग बनाया था। इन उद्योगों मे भविष्य मे सभी उत्पादन-इकाइयां राज्य द्वारा स्थापित की जानी थी, यद्यपि, आवश्यकता पडने पर, राज्य निजी उपक्रम से भी सहयोग प्राप्त कर सकता था। इन उद्योगो मे पहले से ही लगी हुई निजी उत्पादन इकाइयो को आगामी १० वर्षों तक और कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी, जिसके पश्चात् राज्य, यदि आवश्यक समझे तो, उनका राष्ट्रीयकरण कर सकता था।

(इ) तीसरा वर्ग ऐसे १८ महत्वपूर्ण उद्योगो का बनाया गया था, जिन्हें निजी उपक्रम ने ही चलाना था, परंतु जिनका राज्य द्वारा विशेष रूप से 'नियमन तथा नियंत्रण' आवश्यक समझा गया था। इस वर्ग मे ये उद्योग शामिल किये गये थे:—नमक, मोटरकार तथा ट्रैक्टर, प्राईम मूवर्स (Prime Movers), बिजली-इंजीनियरी (Electric Engineering), मशीनी औजार, भारी रसायन, खाद और दवायें, बिजली-रासायनिक उद्योग, नान-फैरस (Non-ferrous) धातुएं, रबड़ का उद्योग, बिजली तथा औद्योगिक मद्यसार, सूती व ऊनी वस्त्र, सीमेंट, चीनी, कागज़ अखबारी कागज़, वायु तथा समुद्री परिवहन, खनिज तथा रक्षा सम्बन्धी उद्योग।

(ई) शेष सभी उद्योग चौथे वर्ग मे रखे गये थे। इनमें निजी उपक्रम को, राज्य के सामान्य नियन्त्रण मे, काम करने की स्वतन्त्रता दी गई थी।

साथ ही, नीति मे यह भी कहा गया था कि सरकार भी धीरे-धीरे इन उद्योगो मे अपने कारखाने स्थापित कर सकती है, और यदि किसी उद्योग मे निजी उपक्रम काम को सुचारु रूप से नही चला रहा है, तो राज्य उसमे हस्तक्षेप कर सकता है।

उद्योगो के ऊपर दिए वर्गीकरण से स्पष्ट है कि सरकार ने पूर्ण यथेच्छाकारिता (Laissez-faire) अथवा पूर्ण समूहवाद (Collectivism) की दोनो सीमाओ से बच कर 'मध्य-मार्ग' अपनाया और देश मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) की नीव डाली।

(२) सरकार ने अपनी इस नीति मे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे कुटीर तथा लघु उद्योगो के महत्व को भी स्वीकार किया और, कहा कि विस्थापितो के पुनर-स्थापन, स्थानीय साधनो के अधिक अच्छे उपयोग तथा कुछ प्रकार की आवश्यक उपभोग वस्तुओ मे स्थानीय आत्म निर्भरता (Self-sufficiency) के लिए ये उद्योग विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इन उद्योगो का विकास वैसे तो राज्य सरकारो के अधीन है। तथापि, नीति मे यह कहा गया था कि भारत सरकार इन उद्योगो का बड़े उद्योगो से समन्वय तथा गठ-बन्धन (Integration) करने का प्रयत्न करेगी।

(३) **औद्योगिक श्रम.**—*नीति मे श्रम तथा प्रबन्ध के बीच सन्तोषजनक तथा* शान्तिपूर्ण सम्बन्धो के महत्व पर भी जोर दिया गया था। इसके लिये नीति मे उचित मजदूरी, विनियोग की गई पूंजी पर उचित प्रतिफल और श्रमिको की अधिक अच्छी दशाओ पर परामर्श देने के लिये उपयुक्त मशीनरी स्थापित करने की बात कही गई थी। साथ ही यह कहा गया था कि श्रमिको को उत्पादन मे वृद्धि के अनुपातानुसार (Sliding scale) लाभो मे भाग मिलना चाहिये, और उन्हे प्रबन्ध मे भी भाग देना चाहिये। औद्योगिक मजदूरों की वास व्यवस्था मे सुधार करने के लिए नीति मे आगामी १० वर्षों मे १० लाख मकान बनाने की योजना रखी गई थी।

(४) **प्रशुल्क नीति (Tariff Policy):**—नीति मे इस बात का आश्वासन दिया गया था कि सरकार एक ऐसी प्रशुल्क नीति अपनायेगी, जिससे अनुचित विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो, और उपभोक्ताओ पर अनुचित भार डाले बिना देश के साधनो का प्रयोग प्रोत्साहित हो।

(५) **कर प्रणाली**—कर-प्रणाली के सम्बन्ध मे नीति मे यह कहा गया था कि सरकार इस पर पुनः विचार करेगी और आवश्यकतानुसार इसमे ऐसे समायोजन करेगी, जिससे देश मे बचत और उत्पादक प्रयोग प्रोत्साहित हो, और कुछ एक लोगों के हाथों में धन का अनुचित सकेन्द्रण न हो पाय।

(६) **विदेशी पूंजी**—विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे नीति मे यह कहा गया था कि कुछ एक अपवादो को छोड़ कर, सामान्य रूप से अधिकाश स्वामित्व तथा नियन्त्रण भारतीयो के हाथो मे होगा। परन्तु अन्तत. विदेशी विशेषज्ञों के स्थान पर भारतीयो को रखने के लिए सभी दशाओ में उपयुक्त भारतीय कर्मचारियों की प्रशिक्षा पर ज़ोर दिया जायेगा।

१९४८ की औद्योगिक नीति का कार्यकरण अप्रैल, १९४८ में अपनाई गई यह औद्योगिक नीति पूरे ८ वर्ष तक देश में कार्यशील रही। ३० अप्रैल, १९५६ को भारत सरकार ने इसमें आवश्यकतानुसार संशोधन कर नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इन ८ वर्षों की अल्पावधि में सरकार ने अपनी नीति के अनुसरण में कई एक ठोस कार्य किये, जिनका अत्यन्त संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

अपनी नीति के अनुसार, सरकार ने कई एक सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना की है, जैसे कि सिंदरी (बिहार) में रासायनिक उर्वरक (Chemical Fertilisers) बनाने का कारखाना, चितरंजन (पश्चिमी बंगाल) में रेल के इन्जिन बनाने का कारखाना, पिराम्बूर (मद्रास) में रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना; बंगलौर के पास जलाहाली में मशीनी औजार बनाने का कारखाना, रूपनारायणपुर (पश्चिमी बंगाल) में टेलीफोन-समुद्रतार (Cables) बनाने का कारखाना; दिल्ली में डी. डी. टी. (D. D. T.) बनाने का कारखाना, पूना के पास पिम्परी में पैंसलीन बनाने का कारखाना, नेपानगर (मध्य प्रदेश) में मध्य प्रदेश की सरकार का अखबारी कागज बनाने का कारखाना, चर्क (Churk) में उत्तर प्रदेश की सरकार का सीमेंट बनाने का कारखाना, इत्यादि। इनके अतिरिक्त, देश की सरकार कई एक और बड़े बड़े नये कारखाने देश में बना रही है, जिनकी स्थापना का निर्णय १९५६ की नई औद्योगिक नीति की घोषणा से पहले ही ले लिया गया था। इनमें सब से महत्वपूर्ण उपक्रम लोहे और इस्पात के तीन बड़े-बड़े कारखाने हैं, जो कि रऊरकेला (उड़ीसा) भिलाई (मध्य प्रदेश) और दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल) में स्थापित किये जा रहे हैं। केन्द्रीय सरकार ने कुछ निजी उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण भी किया है, जैसे १ अगस्त १९५३ को वायु यातायात का, १ जुलाई, १९५५ को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का, और १९ जनवरी, १९५६ को जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण किया। विशाखापत्तनम (आंध्र प्रदेश) में स्थित पानी के जहाज बनाने का कारखाना जनवरी, १९५२ से पहले एक निजी उपक्रम था। जनवरी, १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने इसकी दो-तिहाई अंश पूंजी को स्वयं खरीद कर, इसका प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार १९४८ की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत देश में सार्वजनिक क्षेत्र का पर्याप्त प्रसार हुआ है।

निजी क्षेत्र में उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने के लिये भी सरकार ने निम्नलिखित कई एक पग उठाये हैं। अक्तूबर, १९४८ में ही सरकार ने उद्योगों को कर सम्बन्धी कई रियायतें दीं जैसे कि औद्योगिक कच्चे मालों पर से आयात शुल्क हटा दिये, मशीनों व यन्त्रों पर लगे आयात-शुल्क की दर को कम कर दिया, ५ वर्षों के लिये नये उद्योगों के लाभों को (३% की दर तक) आय-कर से मुक्त कर दिया, और अवमूल्यन भत्तों (Depreciation Allowances) में अधिक उदारता की गई।

उद्योगों के संरक्षण सम्बन्धी उचित नीति के निर्माण के लिये १९४९ में एक राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की गई, जिसकी

सिफारिशों के आधार पर एक व्यापक राजकोषीय नीति को अपनाया गया और जनवरी, १९५२ में एक परिनियत प्रशुल्क आयोग (Statutory Tariff Commission) की नियुक्ति की गई, जो कि सरक्षित उद्योगों की उन्नति पर विचार करता है और नये सरक्षण की योजनाओं का परीक्षण करता है। इस से पूर्व अलग-अलग उद्योगों के सरक्षण की माग पर विचार करने के लिये अलग-अलग प्रशुल्क मण्डलों की नियुक्ति की जाती थी, और इन्हें इनके काम की समाप्ति पर तोड़ दिया जाता था।

उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने के लिये सरकार के प्रत्यक्ष सहयोग से अथवा उसके आशीर्वाद से कई एक वित्त निगम देश में स्थापित किये गये हैं, जैसे कि औद्योगिक वित्त निगम (I F C), राज्य वित्तीय निगम राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N. I D C) और औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (I. C I C)। इनके बारे में विस्तार सहित हम पहले ही पिछले अध्याय में यथास्थान पढ़ आये हैं। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों से पूंजी उपकरणों और प्रौद्योगिक कर्मचारियों की सेवाओं तथा ऋणों व अनुदानों, आदि के रूप में विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिये भी प्रयत्न किये गये है। साथ ही, विदेशी पूंजी को देश में आकर्षित करने के भी विशेष प्रयत्न किये गये हैं। इसके लिये कई दशाओं में तो सरकार ने जो कारखाने लगाये है (अथवा लगा रही है) उनमें विदेशी सहयोग को प्राप्त किया गया है; कई दशाओं में विदेशियों ने निजी उपक्रमों की स्थापना की है, जैसे कि तीन विदेशी तेल कम्पनियों ने लगभग ६० करोड़ रुपये के विनियोग से देश में तेल साफ करने के तीन बड़े-बड़े कारखाने (दो ट्राम्बे में और एक विशाखापत्तनम के पास) स्थापित किये हैं।

देश के औद्योगिक विकास के लिये अत्यावश्यक अनुसंधान के लिये केन्द्रीय सरकार ने १२ राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना की है।

देश में कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास के लिये भी सरकार ने कई एक महत्वपूर्ण पद उठाये है, जैसे कि कई एक अखिल भारतीय मण्डलों, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, लघु उद्योग सेवाशालाओं, औद्योगिक बस्तियों आदि की स्थापना की है, कुटीर व लघु उद्योगों और बड़े स्तर के उद्योगों के सम्मिलित उत्पादन कार्य-क्रम बनाये गये हैं और इनके अन्तर्गत उत्पादन के कुछ क्षेत्र कुटीर उद्योगों के लिये सुरक्षित कर दिये गये है, कुछ दशाओं में कुटीर उद्योगों के विकास पर व्यय करने के लिये बड़े स्तर के उद्योगों के उत्पादन पर विशिष्ट कर लगाये गये हैं, कुछ दशाओं में कुटीर उद्योगों के उत्पादन को कर-मुक्त रखा गया है, इनके अतिरिक्त कुटीर व लघु उद्योगों की कच्चे माल, वित्त, विपणन, प्रशिक्षा, आदि में सम्बन्धित विभिन्न कठिनाइयों को दूर करने के लिये सरकार ने कई एक पद उठाये है, और उठा रही है, जिससे कि इन उद्योगों की बड़े स्तर के उद्योगों की तुलना में प्रतियोगी शक्ति बढ़े और ये उद्योग अपने अपने पावों पर खड़े हो सकें। प्रथम पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत सरकार ने इन सब कार्यक्रमों पर एक बड़ी धन-राशि व्यय की है।

सरी योजना में इससे भी कई गुना बड़ी राशि व्यय के लिये रखी गई है। इन सब बातों का हम पहले ही विस्तार सहित अध्याय २३ में अध्ययन कर आये है।

औद्योगिक श्रम की दशा को सुधारने के लिये भी सरकार ने कई एक महत्वपूर्ण श्रम अधिनियम पास किये हैं, और श्रम-कल्याण सम्बन्धी कार्यों के क्षेत्र को बढाया है। उनके रहने के लिये अच्छे मकानो की संख्या को बढाया जा रहा है, और सामाजिक बीमे की योजना को देश मे चालू किया है। इन सब बातों का अगले अध्याय मे विस्तार सहित अध्ययन किया जायेगा।

उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम, १९५१ (Industries (Development and Regulation Act, 1951) :—राज्य की उद्योगो के प्रति नीति के विकास मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम, १९५१ का पास तथा लागू किया जाना है। यह अधिनियम अक्तूबर, १९५१ मे पास किया गया था और मई १९५२ मे लागू किया गया था। तत्पश्चात १९५३ व १९५६ मे इस में आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन भी किये गये है। यह अधिनियम सरकार की औद्योगिक नीति के अनुकूल निजी क्षेत्र के उद्योगो का नियमन तथा नियन्त्रण करने का मुख्य साधन है और उद्योगों के सम्बन्ध मे सरकार को बहुत विस्तृत अधिकार देता है। यह अधिनियम जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़कर, शेष सारे भारत में, अधिनियम की पहली सारणी मे दिये गये उद्योगो पर, लागू होता है। प्रारम्भ में इन उद्योगो की संख्या ३७ थी। १९५३ में किये गये एक संशोधन के द्वारा इनकी संख्या बढ़ा कर ४५ कर दी गई। १९५६ के एक और संशोधन के द्वारा ३४ और नये उद्योग केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में आ गये हैं।

इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) अधिनियम की धाराओं के अन्तर्गत आने वाले सभी पहले से स्थित औद्योगिक उपक्रमो को सरकार से रजिस्टर करवाना आवश्यक है। साथ ही, ऐसे जो नए उपक्रम स्थापित किये जाने हो, उनके लिए पहले लाइसेंस लेना आवश्यक है। इन नए उपक्रमों को लाईसंस देते समय सरकार, यदि आवश्यक समझे तो, उनके स्थापन (Location), उनके निम्नतम आकार, आदि के बारे में शर्तें लगा सकती है।

(२) अधिनियम सरकार को इस बात का अधिकार देता है कि यदि कोई उपक्रम ठीक प्रकार से कार्य न कर रहा हो, तो सरकार उसके आन्तरिक मामलो में जाच पड़ताल कर सकती है, और उसे आवश्यक हिदायतें दे सकती है। यदि वह उपक्रम उन हिदायतो को न माने या पूरी न कर सके, तो सरकार उसका प्रबन्ध अपने हाथों मे भी ले सकती है। १९५३ के संशोधन के अनुसार, अब सरकार बिना जांच के भी उद्योगो का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले सकती है।

(३) अधिनियम मे उद्योगो के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद (Central Advisory Council) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है; जिसके सदस्य मिल मालिकों, मजदूरों, उपभोक्ताओं, प्रारम्भिक उत्पादको ■ राज्य के प्रतिनिधि

बतलाया गया था कि उद्योगो के विकास मे राज्य को प्रगतिशील तथा सक्रिय योगदान देना आवश्यक है। तदनुसार, इस नीति-सकल्प मे औद्योगिक क्षेत्र मे सार्वजनिक एव निजी क्षेत्रो की सीमाओ को निर्धारित किया गया था।

१९५६ तक इस नीति को चलते हुए ८ वर्ष हो गये थे। इन ८ वर्षों मे भारत मे कई एक महत्त्वपूर्ण घटनाये तथा परिवर्तन हुए। उदाहरणार्थ, इन ८ वर्षों की अवधि मे भारत का सविधान पास किया गया, जिसमे "राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तो" (Directive Principles of State Policy) का प्रतिपादन किया गया। आर्थिक नियोजन सगठित आधार पर चला है।

पहली पचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी है, और दूसरी प्रारम्भ होने जा रही है। ससद ने (दिसम्बर १९५५ मे) 'समाज के समाजवादी ढग' (Socialist Pattern of Society) को सामाजिक एव आर्थिक नीति का उद्देश्य मान लिया है। इन सब महत्त्वपूर्ण घटनाओ, और विशेषत. दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ, के कारण यह आवश्यक हो गया था कि औद्योगिक नीति का पुन. प्रतिपादन किया जाय। अत. ३० अप्रैल, १९५६ को देश के प्रधान मन्त्री ने भारतीय ससद मे नई औद्योगिक नीति की घोषणा की।

नई औद्योगिक नीति के आधार का प्रतिपादनः—देश की जनता को लाभदायक रोजगार के बढते हुए अवसर प्रदान करने तथा उनको रहने सहने एवं काम करने की दशाओ को सुधारने के लिये आवश्यक है कि आर्थिक विकास की दर और औद्योगीकरण की गति को बढाया जाय, और विशेषतः भारी एव मशीन बनाने वाले उद्योगो का विकास किया जाय, और एक विस्तृत तथा बढता हुआ सहकारी क्षेत्र बनाया जाय। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि इस समय आय एव धन के वितरण मे जो असमानता है उसे कम किया जाय, एकाधिकारों (Monopolies) को तथा विभिन्न क्षेत्रो मे कुछ एक व्यक्तियो के हाथो में आर्थिक शक्ति के सकेन्द्रण को रोका जाय। नई औद्योगिक नीति के सकल्प मे कहा गया है कि "तदनुसार; राज्य नये औद्योगिक उपक्रमो को स्थापित करने तथा परिवहन सुविधाओ का विकास करने मे प्रधान तथा प्रत्यक्ष दायित्व को अधिकाधिक संभालेगा। यह बढते हुए स्तर पर राज्य व्यापार (State Trading) भी करेगा।"

इसी सकल्प मे आगे कहा गया है कि "समाजवादी ढंग के समाज को राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप मे अपनाना तथा योजनाबद्ध एवं द्रुत विकास की आवश्यकता इस बात की माग करते हैं कि आधारभूत एव सामरिक (Strategic) महत्व के अथवा सर्वजनिक उपयोग की सेवाओं (Public utility services) के सभी उद्योगो को सार्वजनिक क्षेत्र मे होना चाहिये। अन्य आवश्यक उद्योग जिनमे इतनी बडी मात्रा मे विनियोग की आवश्यकता है कि वर्तमान परिस्थितियो मे, केवल राज्य ही पूरा कर सकता है, भी सार्वजनिक क्षेत्र मे होने आवश्यक हैं। इस लिये राज्य को अधिक विस्तृत क्षेत्र मे उद्योगों के भावी विकास का प्रत्यक्ष दायित्व सम्भालना है।" इससे स्पष्ट है कि भारत मे भविष्य मे औद्योगिक क्षेत्र

में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार प्रगतिशील रूप से बढ़ता जायेगा। तथापि, संकल्प (Resolution) में यह भी माना गया है कि पूंजी एवं कर्मचारियों की कुछ एक ऐसी सीमायें भी हैं, जिनके कारण इस समय राज्य सम्भवतः सभी आवश्यक उद्योगों का विकास अपने हाथों में नहीं ले सकता। अतः राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उस क्षेत्र को निश्चित करे जिसमें कि भावी विकास पूर्णतया राज्य का दायित्व होगा, और साथ ही, उन उद्योगों को चुने जिनके विकास में राज्य का योग प्रधान होगा।

इसी बात को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति में उद्योगों को उनके भावी विकास में राज्य का क्या हाथ होगा इस बात के आधार पर, निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा है।

(१. पहला वर्ग उन उद्योगों का है जिनका भावी विकास राज्य का एकाकी (Exclusive) दायित्व होगा। इसमें १७ उद्योग* (अस्त्र-शस्त्र, अणु शक्ति, लोहा व इस्पात कोयला खनिज तेल, वायु यातायात, रेल यातायात, जलयान-निर्माण, आदि) शामिल है। इन उद्योगों में उन नई इकाइयों को छोड़कर जिनकी कि निजी

---

* ये उद्योग निम्नलिखित है —

Schedule A.

1. Arms and Ammunition and allied items of defence equipment
2. Atomic Energy,
3. Iron & Steel
4. Heavy castings and forgings of steel
5. Heavy plant and machinery required for iron and steel production for mining for machine tool manufacture and for such other basic industries as may be specified by the Central Government,
6. Heavy electrical plant, including large hydraulic and steam turbines,
7. Coal and lignite;
8. Mineral oils,
9. Mining of iron ore manganese ore chrome ore gypsum, sulphur, gold & diamond,
10. Mining & processing of copper, lead zinc, tin, molybdenum and wolfram,
11. Minerals specified in the schedule to Atomic energy (Control of Production & Use) Order, 1953
12. Aircraft,
13. Air Transport,
14. Railway Transport
15. Ship building,
16. Telephones & Telephone cables, Telegraph and wireless apparatus (excluding radio receiving sets),
17. Generation & distribution of electricity.

क्षेत्र मे स्थापना पहले से ही स्वीकृत हो चुकी है, अन्य सभी नई इकाइया राज्य द्वारा स्थापित की जायेगी तथापि, इसका अर्थ यह नही है कि इन उद्योगो मे पहले से ही स्थित निजी स्वामित्व की इकाइयों का भविष्य मे प्रसार नही हो पायेगा, अथवा, राष्ट्र के हित मे,आवश्यकता पड़ने पर राज्य नई इकाइयों की स्थापना मे निजी उपक्रम का सहयोग नही ले सकेगी । हा नीति-सकल्प मे यह अवश्य कहा गया है कि रेल तथा वायुपरिवहन, अस्त्रशस्त्र तथा अणुशक्ति केन्द्रीय सरकार के एकाधिकार के रूप मे ही चलाये जायेंगे । अन्य मे जब कभी निजी उपक्रम से सहकारिता आवश्यक होगी तब राज्य नई औद्योगिक इकाई की अंश पूंजी का आधे से अधिक भाग अपने हाथो में रखकर (By M jority Participation) अथवा अन्य किसी विधि से इस बात का प्रबन्ध करेगा कि उस इकाई की नीति का मार्गदर्शन करने तथा उसके कार्यों का नियन्त्रण करने के लिए उसके पास पर्याप्त अधिकार रहे ।

(२) दूसरे वर्ग, मे वे उद्योग शामिल किये गये हैं, जो कि उत्तरोत्तर राज्याधीन (State-owned) होगे, और इसलिये जिनमें नई इकाइयां स्थापित करने मे राज्य सदा आगे रहेगा, परन्तु जिनमे निजी उपक्रम से भी यह आशा की जायेगी कि वह राज्य के प्रयत्नों की अनुपूर्ति (supplement) करे । इस प्रकार इन उद्योगो मे भविष्य मे राज्य एव निजी उपक्रम दोनो ही साथ साथ कार्य करेंगे और अपने अपने कारखाने लगा सकेंगे । यहा भी निजी उपक्रम या तो अकेले ही या राज्य की साझेदारी मे कारखाने स्थापित कर सकेगा। इस वर्ग मे १२ उद्योग* (मशीनी औजार, उर्वरक, सिन्थेटिक रबड़, सड़क परिवहन, समुद्री परिवहन आदि) शामिल हैं ।

* ये उद्योग निम्नलिखित हैं :—

Schedule B.

1. All other minerals except minor minerals as defined in *Section 3 of the Mineral Concession Rules, 1949.*
2. Alluminium & other non-ferrous metals not included in Schedule A.
3. Machine Tools.
4. Ferro alloys and tool steels.
5. Basic and Intermediate products, required by chemical industries such as the manufacture of drugs, dyestaffs and plastics.
6. Anti biotics and other essential drugs.
7. Fertilizers
8. Synthetic Rubber.
9. Carbonisation of Coal.
10. Chemical Pulp
11. Road Transport.
12. Sea Transport.

(३) तीसरे वर्ग में शेष सभी उद्योग आते हैं। इन उद्योगों का भावी विकास सामान्यत, निजी क्षेत्र तथा उपक्रम के लिये छोड़ दिया जायेगा, यद्यपि राज्य को भी यह अधिकार होगा कि वह इस वर्ग के भी किसी भी उद्योग मे अपना कारखाना खोल ले।

राज्य की यह नीति होगी कि वह परिवहन, बिजली तथा अन्य सेवाओं के विकास को सुनिश्चित कर, और उपयुक्त राजकोषीय तथा अन्य पद उठा कर, पच-वर्षीय योजनाओं मे बनाये गये कार्यक्रमों के अनुसार, निजी क्षेत्र मे इन उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करे तथा सुविधाजनक बनाये। इन उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये राज्य उपयुक्त संस्थाओं की स्थापना तथा विकास करता रहेगा। औद्योगिक तथा कृषि-कार्यों के लिये सहकारिता के आधार पर सगठित उपक्रमो को विशिष्ट सहायता दी जायेगी। उपयुक्त दशाओं मे राज्य निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता भी प्रदान कर सकता है। इस प्रकार की सहायता, विशेषत तब जब कि यह बड़ी मात्रा मे दी जाती हो, यथा सभव जोखिम पूंजी (Equity Capital) मे हिस्सेदारी के रूप मे होगी, यद्यपि यह अशत ऋण-पत्र पूंजी (Debenture Capital)के रूप के भी हो सकती है।

इसके साथ ही नीति मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि निजी क्षेत्र मे औद्योगिक उपक्रमों को आवश्यक रूप से राज्य की सामाजिक एव आर्थिक नीति के ढाचे मे ढलना पड़ेगा, और कि वे 'उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम' तथा इसी प्रकार के अन्य विधान के नियन्त्रण तथा नियमन के अन्तर्गत कार्य करेंगे। तथापि, नीति मे यह भी माना गया है कि सामान्यत., इन उपक्रमों को राष्ट्रीय योजना के लक्ष्यों एव उद्देश्यो से सगत जितनी भी स्वतन्त्रता सभव है, उतनी स्वतन्त्रता से विकास करने की अनुमति होना अच्छा है। साथ ही नीति मे यह भी आश्वासन दिया गया है कि जब एक ही उद्योग मे निजी एवं सार्वजनिक स्वामित्व के कारखाने होंगे, तो दोनो को उचित तथा भेदभाव रहित व्यवहार देने की राज्य की नीति चलती रहेगी।

यहां यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि उद्योगो के ऊपर दिये वर्गों मे विभाजन का यह अर्थ नही है कि उन्हे सर्वथा अलग अलग वर्गों (Water tight Compartments) मे रखा जा रहा है, वरन् यह निश्चित है कि इन वर्गों के क्षेत्र एक दूसरे को व्याप्त करेंगे। इसी प्रकार निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों मे उद्योगों के बीच पर्याप्त परस्पर अनुबन्धन भी अनिवार्य है। नीति मे इस बात को फिर से स्पष्ट कर दिया गया है कि जब कभी नियोजन की आवश्यकतायें इस बात की माग करें अथवा अन्य कोई महत्वपूर्ण कारण हो, तो सरकार को इस बात का अधिकार होगा कि पहले दो वर्गों में शामिल न किये गये उद्योगों मे भी वह अपने कारखाने स्थापित करले। उधर उपयुक्त दशाओं में, निजी स्वामित्व की इकाइयो को अपनी आवश्यकतायें पूरा करने के लिये अथवा उपोत्पाद (Byproducts) के रूप मे प्रथम वर्ग मे शामिल की गई वस्तुओं को उत्पन्न करने की अनुमति भी दी जा

सकती है। इसके अतिरिक्त, निजी स्वामित्व की छोटी इकाइयो को इन उद्योगो मे उत्पादन करने, जैसे कि हल्का सामान (Light Craft) बनाने, स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बिजली का उत्पादन, और छोटे स्तर पर खान खोदना, आदि पर कोई मनाही नही होगी। फिर, यह भी हो सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे भारी उद्योग हल्के पुर्जो (Components) की अपनी कुछ आवश्यकताओं की वस्तुएं निजी क्षेत्र से प्राप्त करें, जब कि निजी क्षेत्र अपनी बहुत सी आवश्यकताओं के लिये सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भर हो।

कुटीर, ग्राम तथा लघु उद्योग :—औद्योगिक नीति मे देश की अर्थ-व्यवस्था मे कुटीर, ग्राम तथा लघु उद्योगो के महत्व को भुलाया नही गया है, अपितु इनके विकास की आवश्यकता पर बल देते हुए यह माना गया है कि कुछ एक महत्वपूर्ण समस्याओं के हल करने मे ये उद्योग विशेष रूप से गुणकारी है। उदाहरणार्थ, इनमे यह गुण है कि ये तुरन्त ही बडी मात्रा मे रोजगार प्रदान करते हैं, देश मे राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समतापूर्ण करने की ये एक अच्छी विधि है, देश की अन्यथा बेकार रहने वाली पूंजी एव कौशल के प्रभावपूर्ण प्रयोग को ये सभव एवं आसान बनाते है, और बडे उद्योगो के केन्द्रीयकरण से औद्योगिक केन्द्रो व अनियोजित नगरीकरण (urbanisation) के जो दोष है, उन्हे उत्पन्न नही होने देते।

इन उद्योगो के इस महत्व को ध्यान मे रख कर राज्य पहले से ही बडे उद्योगो के उत्पादन की मात्रा पर रोक लगा कर, विभेदात्मक कर लगा कर, अथवा प्रत्यक्ष अर्थ-सहायता (Subsidy) दे कर, इन कुटीर, ग्राम तथा लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करने की नीति का अनुसरण करती रही है। नई औद्योगिक नीति मे यह कहा गया है कि यद्यपि आवश्यकतानुसार इस प्रकार के पदो का भी सहारा लिया जाता रहेगा, "राज्य-नीति का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होगा कि विकेन्द्रित क्षेत्र आत्म-निर्भर होने के लिये पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर ले और कि इसका विकास बडे स्तर के उद्योगो के विकास से जोडा जा सके। इसलिये राज्य छोटे उत्पादको की प्रतियोगी शक्ति को बढाने वाले पदो पर सब से अधिक ध्यान देगा।" नीति सकल्प के अनुसार, इसके लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन-विधि को निरन्तर सुधारा जाय और उसे आधुनिक बनाया जाय, परन्तु इस परिवर्तन की गति को इस प्रकार नियमित किया जाय जिससे कि, यथा सभव कम से कम औद्योगिक (Technological) बेरोज़गारी हो। प्राविधिक तथा वित्तीय सहायता, एव उपयुक्त कार्य-स्थान का अभाव, और मरम्मत आदि की सुविधाओं की अपर्याप्तता छोटे स्तर के उत्पादको की गम्भीर कठिनाइयो मे से हैं। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिये औद्योगिक बस्तियो (Industrial Estates) तथा ग्रामीण सामुदायिक कार्यशालाओं की स्थापना के रूप में प्रयत्नो का आरम्भ हो चुका है। इन प्रयत्नो को और आगे बढाया जायेगा। गावो मे बिजली के पहुचने और वहा कारीगरो को सस्ते मूल्य पर बिजली के मिलने से भी इन उद्योगो को काफी लाभ होगा। इसके अतिरिक्त, छोटे उत्पादको में औद्योगिक सहकारी समितियो (Industrial Co-operatives) के सगठन से उन्हे

कई प्रकार की सहायता मिलेगी। अतः राज्य को ऐसी सहकारी समितिया हर प्रकार से प्रोत्साहित करनी चाहिये।

सन्तुलित क्षेत्रीय विकास (Balanced Regional Development) :— नई औद्योगिक नीति मे देश के विभिन्न भागो के सन्तुलित आर्थिक विकास पर भी बल डाला गया है। नीति का कहना है कि सम्पूर्ण देश को औद्योगीकरण के लाभ पहुचाने के लिये आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रो के विकास के स्तर मे जो अन्तर हैं, उन्हे उत्तरोत्तर कम किया जाय। इस अन्तर के कई कारण हो सकते है, जैसे कि कुछ स्थानो पर कच्चे माल व अन्य प्राकृतिक साधनो की उपलब्धि तथा वहां बिजली, पानी व परिवहन आदि की सुविधाओ का विकास, तथा अन्य स्थनों पर इनका अभाव अथवा पिछड़ापन। अत इस अन्तर को कम करने के लिये आवश्यक है कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए तथा उन क्षेत्रो मे जहा रोजगार अवसर बढाने की अधिक आवश्यकता है, बिजली, पानी व परिवहन, आदि की इन सुविधाओ का धीरे-धीरे विकास किया जाय, जिससे कि उन क्षेत्रो मे यदि अन्य आवश्यक बाते उपलब्ध है, तो वहा भी उद्योगो का विकास हो सके।

औद्योगिक श्रम —नीति मे इस बात को आवश्यक माना गया है कि उद्योगों में लगे हुए सभी को उचित सुविधाए तथा प्रोत्साहन प्रदान किये जाने चाहियें। श्रमिको की रहने व काम करने की दशाओं मे सुधार होना चाहिये और उनकी कार्य क्षमता के स्तर को ऊचा उठाना चाहिये। औद्योगिक शान्ति को बनाये रखना औद्योगिक उन्नति की प्राथमिक आवश्यकताओं मे से एक है। एक समाजवादी प्रजातन्त्र मे श्रम विकास के सामान्य कार्यक्रम मे एक हिस्सेदार है और इस कार्य-क्रम मे उसे पूर्ण उत्साह व जोश के साथ भाग लेना चाहिये। अत. प्रबन्ध व श्रम मे आपसी परामर्श होना चाहिये, और, जहा कहीं भी सभव हो वहा, श्रमिको को प्रबन्ध मे उत्तरोत्तर भाग देना चाहिये। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को इस दिशा मे एक आदर्श स्थापित करना है।

सार्वजनिक उपक्रम (Public Enterprises) :— सार्वजनिक उपक्रमों की सफलता के लिये नीति मे अधिकार के विकेन्द्रीकरण, उनके कार्यकरण मे अधिकतम सभव स्वतन्त्रता तथा उनके प्रबन्ध को व्यापारिक आधार पर चलाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

अन्य बातें :—औद्योगिक विकास के बढने के साथ साथ औद्योगिक तथा प्रबन्धकीय सेवि वर्ग (Technical & Managerial Personnel) तथा अन्य प्रशिक्षित श्रम के लिये माग काफी बढेगी। अत इस बढती हुई माग को पूरा करने के लिये विभिन्न प्रकार की प्रशिक्षा सुविधाओ को बढाते जाना आवश्यक है। विदेशी पूंजी के प्रति प्रचलित नीति और उद्योगो के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो के बीच उत्तरदायित्व का जो वर्तमान विभाजन है, उनके सबन्ध मे नई औद्योगिक नीति मे कोई परिवर्तन आवश्यक नही समझा गया है।

इस प्रकार १९४८ की औद्योगिक नीति की तुलना मे, सरकार की इस नई औद्योगिक नीति मे उद्योगो मे सार्वजनिक उपक्रम के क्षेत्र को अधिक विस्तृत कर

दिया गया है, और अधिकांश आधारभूत उद्योगों का भावी विकास राज्य का उत्तरदायित्व बना दिया गया है। यह सब कुछ 'समाजवादी ढंग के समाज' की स्थापना के उद्देश्य के अनुकूल ही है।

प्रथम योजना के अन्तर्गत राज्य ने उद्योगों के विकास के लिये क्या कुछ किया है और द्वितीय योजना के अन्तर्गत वह क्या कुछ कर रही है, इसका अध्ययन आगे पुस्तक के अन्तिम अध्याय (भारत में आर्थिक नियोजन) के अन्तर्गत यथास्थान किया जायेगा।

University Questions

1. Discuss India's industrial policy under the Second Five Year Plan and *describe the steps that are going to be taken to implement* it. *(Agra, 1958)*

2. What do you understand by the public and private sectors of Indian industries ? What measures have been suggested to secure the *co-existence of both the sectors ?* *(Agra, 1957)*

3. How does the government promote and regulate the large scale industries *in India ? What further measures do you advocate* in this regard ? *(Agra, 1950)*

अध्याय २६

भारत में औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour in India)

प्राक्कथन—किसी भी देश के आर्थिक विकास में वहा के श्रम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। देश के तेजी से आर्थिक विकास के लिये, अन्य बातों के साथ-साथ, यह भी आवश्यक है कि वहा का श्रम कार्यक्षम, सुसगठित एव सन्तुष्ट हो और वह धन के उत्पादन में अपना सक्रिय तथा स्वेच्छापूर्ण सहयोग दे। यह बात सभी प्रकार के श्रम के बारे में सत्य है। तथापि, हम यहां मुख्यत औद्योगिक श्रम का अध्ययन करेंगे।

भारतीय श्रम के बारे में यह बहु प्रचलित मत है कि इगलैण्ड, जापान, जर्मनी, आदि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो के श्रम की तुलना में यह (भारतीय श्रम) बहुत कम कार्यक्षम है। यह मत तथ्य के कथन के रूप में पूर्णतया सत्य है। परन्तु साथ ही, यह भी जान लेना आवश्यक है कि भारतीय श्रम का अपेक्षाकृत कम कार्यक्षम होना मुख्यत उन बाहरी दशाओं के कारण है, जिनके अन्तर्गत कि उसे काम करना पड़ता है, और न कि उसकी किन्हीं आधार भूत व स्थाई आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण। अत यह एक सन्तोष का विषय है, क्योंकि इससे सुधार का मार्ग अधिक सहल हो जाता है। भारत में श्रम की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव डालने वाली ये बाहरी दशायें अनेको हैं, जैसे कि अत्यधिक नीची मजदूरी जिससे कि श्रमिक के परिवार का जीवन निर्वाह भी बड़ी कठिनाई से होता है, और फलस्वरूप उसका सामान्य स्वास्थ्य बड़ा नीचा रहता है, काम के लम्बे घटे, दोषपूर्ण एवं अस्वास्थ्यकर कार्य-दशायें, जैसे कि कारखानों का प्रकाशहीन और घुटे हुए होना, पीने के पानी, नहाने, खाना खाने, मध्यान्तर में आराम करने, आदि की सुविधाओं का अभाव या दोषपूर्ण व्यवस्था, आवास-स्थानों की अत्यधिक बुरी दशा—रहने के मकानों का गन्दे, छोटे, घुटे हुए, प्रकाश हीन, वायुहीन, और मनुष्यों के निवास के पूर्णतया अयोग्य होना सामाजिक सुरक्षा तथा चिकित्सा एव मनोरंजन की सुविधाओं का अभाव अथवा अत्यधिक पिछड़े होना, सामान्य शिक्षा तथा प्राविधिक प्रशिक्षा की सुविधाओं का अविकसित होना, मजदूर सघ आन्दोलन का अविकसित होना, मिल मालिकों का दोषपूर्ण बर्ताव, सगठनकर्त्ताओं की स्वय की अकार्यक्षमता, आदि आदि। आज जब कि भारत औद्योगिक विकास के पथ पर आरूढ है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि श्रम की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव डालने वाली ऊपर बतलाई गई विभिन्न दशाओं में सुधार कर श्रम की कार्यक्षमता को बढ़ाया जाय, और देश में एक प्रसन्न, सन्तुष्ट सुसगठित और कार्यक्षम श्रम-शक्ति संगठित की जाय। इसके लिये सरकार, मिल मालिकों, मजदूरो और मजदूर संघ आन्दोलन सभी को मिल कर प्रयत्न करने होंगे। इस अध्याय में हम मुख्यतः इन्हीं प्रयत्नों का अध्ययन करेंगे।

भारत में श्रम-विधान
(Labour Legislation in India)

औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् जहाँ कहीं भी बड़े स्तर के उद्योगों का विकास हुआ है, वहीं प्रारम्भिक दशाओं में मिल मालिकों ने श्रमिकों का विभिन्न प्रकार से मनमाना शोषण किया है। अतः शीघ्र अथवा देर में, सरकारों ने बाध्य होकर, श्रम और पूंजी के सम्बन्धों को नियमित करने तथा श्रमिकों की शोषण से रक्षा करने और उनकी दशा को सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार का विधान पास किया है। भारत में भी ऐसा ही हुआ। भारत में बड़े स्तर के आधुनिक उद्योगों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। इनका जन्म १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था, और इनका विकास वर्तमान शताब्दी में समय बीतने के साथ-साथ बहुत धीमी गति से हुआ है। अतः भारत में श्रम-विधान का इतिहास भी बहुत पुराना नहीं है। यहाँ पहला फैक्ट्री अधिनियम सन् १८८१ में पास किया गया था। तत्पश्चात्, और विशेषतः प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से देश में कई प्रकार का श्रम-विधान पास किया गया है। श्री वी० वी० गिरि ने अपनी पुस्तक Labour Problems in Indian Industry में (पृष्ठ १०९ पर) इस समय लागू श्रम-विधान को निम्नलिखित वर्गों में बांटा है :—

(१) अधः प्रमाप (Sub-standard) व्यक्तियों से सम्बन्धित विधान :

(i) बच्चे; (ii) स्त्रियां

(२) विशिष्ट उद्योगों से सम्बन्धित विधान :

(i) कारखाने तथा कार्यशालायें, (ii) खानें तथा खनिज पदार्थ, (iii) उद्यान (Plantations), (iv) यातायात, नामतः (अ) रेलें, (आ) बन्दरगाह तथा गोदियां (Docks), (इ) समुद्र तथा आन्तरिक जल, (ई) सड़कें और (उ) वायु; (v) दुकानें तथा वाणिज्य संस्थान (Commercial Establishments); (vi) निर्माण कार्य (Construction work); (vii) कृषि।

(३) विशिष्ट विषयों से सम्बन्धित विधान,

(i) मजदूरी, (ii) ऋणग्रस्तता, (iii) सामाजिक सुरक्षा, नामतः (अ) काम करने वालों की क्षतिपूर्ति, (आ) मातृत्व-लाभ (Maternity Benefits), (इ) बीमा, (ई) निवृत्ति-लाभ, (Retirement Benefits), (उ) बोनस योजनायें, (iv) कल्याण (v) आवास-व्यवस्था (vi) बलात् श्रम (Forced Labour)।

(४) (i) मजदूर संघों तथा (ii) औद्योगिक सम्बन्धों से सम्बन्धित विधान, और

(५) समकों से सम्बन्धित विधान।

ऊपर की सूची से देश में श्रम-विधान के विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे हम इनमें से मुख्य का संक्षेप में अध्ययन करते हैं।

फैक्ट्री विधान (Factory Legislation)—भारत में पहला फैक्ट्री अधिनियम १८८१ में पास किया गया था। इससे पूर्व मिल मालिकों को इस बात

को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वे श्रमिको से मर्जी जिस प्रकार कार्य ले। उन पर कानून की ओर से कोई प्रतिबन्ध नही था। अतः कारखानो में काम के घण्टे बहुत लम्बे (१२ से १४ तक) थे। बीच में नियमित रूप से आराम व साप्ताहिक छुट्टी आदि की कोई निश्चित व्यवस्था नही थी। कारखानो में काम की दशायें अत्यन्त असानुपिक थी। स्त्रियो व बच्चो के श्रम का विशेष रूप से अत्यधिक शोषण होता था। श्रमिको की ऐसी दुर्दशा होते हुए भी पहला फैक्ट्री अधिनियम श्रमिको के अपने प्रयत्नो या तत्कालीन सरकार की जागरूकता के फलस्वरूप पास नहीं हुआ। इसका कारण तो यह था कि १८७० के आस पास बम्बई मे सूती वस्त्र मिल उद्योग की स्थापना से इंगलैण्ड के सूती वस्त्र उद्योग व व्यापार को कुछ हानि होने लगी, क्यो कि भारत मे मजदूरी नीची और काम के घन्टे लम्बे होने से भारतीय सूती कपडा अपेक्षाकृत सस्ता तैयार किया जाता था। अत लकाशायर और मान्चेस्टर के सूती उद्योगपतियो व व्यापारियो ने भारत के राज्य मन्त्री से यह मांग की कि भारतीय फैक्ट्रियो मे भी वैसे ही अधिनियम लागू किये जायं, जैसे कि इंगलैंड मे फैक्ट्रियो पर लागू किये जाते हैं। अत सन् १८७५ मे ऐसे विधान की आवश्यकता पर विचार करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की गई, और अन्तत १८८१ मे पहला फैक्ट्री अधिनियम पास किया गया। इसके पश्चात् १८९१, १९११, १९२२, १९३४ और १९४८ मे फैक्ट्री अधिनियम पास किए गए और समय समय पर आवश्यकतानुसार इन मे संशोधन किए गए। इस समय फैक्ट्रियो पर १९४८ का फैक्ट्री अधिनियम (इसमे किए गए संशोधनो सहित) लागू है।

१९४८ से पूर्व के फैक्ट्री अधिनियमों की मुख्य बातें—१९४८ से पूर्व के फैक्ट्री अधिनियमों मे निम्नलिखित मुख्य बातो की व्यवस्था की गई थी—

(१) एक निश्चित आयु से छोटे बच्चों को काम पर लगाने की मनाही—१८८१ के फैक्ट्री अधिनियम के अन्तर्गत ७ वर्ष से कम आयु के बच्चो को कारखानों में काम पर नही लगाया जा सकता था। १८९१ में इस आयु को बढ़ाकर ९ वर्ष और १९२२ में १२ वर्ष कर दिया गया था। (१९४८ के अधिनियम मे यह आयु १४ वर्ष रखी गई है)।

(२) काम के घंटों का नियमनः—बच्चो, स्त्रियो और पुरुषो के काम के घंटो का अलग-अलग नियमन किया गया।

(अ) बच्चे - १८८१ के अधिनियम मे केवल ७ से १२ वर्ष के बीच की आयु के बच्चो के काम के घंटे निश्चित किये गये। इनसे एक दिन मे ९ घंटो से अधिक काम नही लिया जा सकता था। बाद के अधिनियमो मे बच्चो की आयु-अवधि को क्रमशः बढ़ाया गया और उनके काम के घण्टो को क्रमश कम किया गया। उदाहरणार्थ, १८९१ के अधिनियम के अनुसार ९ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चो से ७ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम नही लिया जा सकता था। १९११ के अधिनियम के द्वारा वस्त्र उद्योग मे काम करने वाले बच्चो के काम के घंटे अधिक से अधिक ६ कर दिए गए। १९२२ के अधिनियम के द्वारा १२ से १५ वर्ष की आयु के सभी

बालकों के सभी फैक्ट्रियों में अधिक से अधिक काम के घंटे ६ कर दिये गये, और १६३४ के अधिनियम के द्वारा इन्हे ५ कर दिया गया।

(ख) स्त्रियाँ:—स्त्रियों के काम के घंटों को सर्वप्रथम १८६१ के अधिनियम के द्वारा नियमित किया गया। इसके अनुसार स्त्रियों से एक दिन में ११ घंटों से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। यह व्यवस्था १६३४ तक रही। १६३४ के अधिनियम में इन्हें कम करके १० कर दिया गया।

(ग) पुरुष —पुरुषों के काम के घंटों को सर्वप्रथम १६११ के अधिनियम के द्वारा नियमित किया गया। इस अधिनियम में प्रतिदिन काम के घंटों की उच्चतम सीमा १२ रखी गई। १६२२ के अधिनियम में इसे कम करके ११ प्रतिदिन और ६० प्रति सप्ताह कर दिया गया १६३४ के अधिनियम में मौसमी (जो वर्ष में १८० से कम दिन कार्य करती थी) और बारहमासी (जो वर्ष में १८० से अधिक दिन कार्य करती थी) फैक्टरियों में अन्तर किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गई कि बारहमासी फैक्ट्रियों में वयस्क पुरुष श्रमिकों से अधिक से अधिक १० घंटे प्रति दिन और ५४ घंटे प्रति सप्ताह काम लिया जा सकता था, जबकि मौसमी फैक्ट्रियों में अधिक से अधिक ११ घंटे प्रति दिन और ६० घंटे प्रति सप्ताह काम लिया जा सकता था। अधिनियम में १६४६ में किये गये एक संशोधन के द्वारा काम के घंटों की उच्चतम सीमा बारहमासी फैक्ट्रियों में ६ घंटे प्रति दिन और ४८ घंटे प्रति सप्ताह और मौसमी फैक्ट्रियों में १० घंटे प्रति दिन और ५४ घंटे प्रति सप्ताह कर दी गई।

(३) स्त्रियों व बच्चों द्वारा रात में काम करने की मनाही :—सर्वप्रथम १८६१ के फैक्ट्री अधिनियम में स्त्रियों और बच्चों द्वारा रात में ८ बजे के बाद और प्रात. ५ बजे से पहले काम की मनाही की गई। १६२२ के अधिनियम में इस समय को थोड़ा सा और बढ़ा कर सायं ७ बजे के बाद व प्रात. ५½ बजे से पहले, और १६३४ के अधिनियम में सायं ७ बजे के बाद व प्रातः ६ बजे से पहले कर दिया गया।

(४) विश्राम तथा छुट्टी की व्यवस्था :–१८६१ के फैक्ट्री अधिनियम में केवल बच्चों के लिये यह व्यवस्था की गई थी कि उन्हें एक दिन में एक घन्टे का विश्राम और महीने में चार दिन की छुट्टी दी जाय। बाद के अधिनियमों में सभी प्रकार के श्रमिकों के लिये विश्राम तथा छुट्टी की व्यवस्था की गई और बच्चों के विश्राम को बढ़ाया गया। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी की व्यवस्था १८६१ के अधिनियम के द्वारा ही कर दी गई थी। १६३४ के अधिनियम में सर्वप्रथम एक दिन में काम के घन्टों के 'विस्तार' ('Spread-over') पर भी ध्यान दिया गया, और यह नियत किया गया कि लगातार काम करने की अवधि वयस्क श्रमिकों के लिये १३ घन्टे और बच्चों के लिये ६½ घन्टे से अधिक नहीं होगी। १६४६ के एक संशोधन के द्वारा वयस्क श्रमिकों द्वारा लगातार काम करने की अधिकतम अवधि को १३ घन्टों से घटा कर बारहमासी कारखानों में १० घन्टे और मौसमी कारखानों में ११½ घंटे प्रति दिन कर दिया गया।

(५) अधिसमय (Overtime) — सर्वप्रथम १६२२ के फैक्ट्री अधिनियम मे यह व्यवस्था की गई कि अधिसमय के लिये साधारण वेतन का १¼ गुना दिया जाय। १६३४ के अधिनियम मे इस दर को बढाकर साधारण वेतन का १½ गुना कर दिया गया। १६४६ के सशोधन द्वारा इसे आगे बढाकर साधारण वेतन का दुगुना कर दिया गया।

(६) कारखानो की दशाओ मे सुधार तथा निरीक्षण की व्यवस्था —१८८१ के फैक्ट्री अधिनियम मे घातक मशीनो के चारो ओर जगला बनवाने, दुर्घटनाओ की सरकार को सूचना देने और कारखाना निरीक्षको की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। बाद के अधिनियमो मे सफाई, रोशनी, श्रमिको के विश्राम, स्वास्थ्य व शारीरिक सुरक्षा की क्रमश अधिक व्यापक व्यवस्था की गई, और कारखानो के निरीक्षण को अधिक कठोर और प्रभावपूर्ण बनाया गया।

(७) फैक्ट्री अधिनियमो के अन्तर्गत आने वाले कारखाने —१८८१ का फैक्ट्री अधिनियम केवल उन्ही कारखानो पर लागू होता था, जिनमे १०० या अधिक श्रमिक काम करते थे, और जो वर्ष मे चार महीने से अधिक चलते थे। बाद के अधिनियमो के क्षेत्र को क्रमश बढाया गया। उदाहरणार्थ १८६१ के अधिनियम मे बिजली का प्रयोग करने वाले और ५० अथवा अधिक श्रमिको से काम लेने वाले सभी कारखानो को शामिल कर लिया गया। साथ ही, स्थानीय सरकारो को यह अधिकार दे दिया गया कि वे इस अधिनियम को कम से कम २० श्रमिको वाले कारखानो पर भी लागू कर सकती थी। १६११ के अधिनियम को वर्ष में ४ मास से कम काम करने वाले मौसमी कारखानो पर भी लागू किया गया। १६२२ के अधिनियम का क्षेत्र बढा कर, इसे बिजली का प्रयोग करने वाले और २० अथवा अधिक श्रमिको वाले सभी कारखानो पर लागू किया गया। स्थानीय सरकारे इसे कम से कम १० श्रमिको वाले कारखानो पर भी लागू कर सकती थी।

फैक्ट्री अधिनियम १६४८—इस समय देश मे १६४८ का फैक्ट्री अधिनियम (समय-समय पर इस मे किए गए छोटे सशोधनो के सहित) प्रचलित है। इसे १ अप्रैल १६४६ को लागू किया गया था। इसके लागू होने से पहले के सब फैक्ट्री अधिनियम रद्द हो गये थे। इस अधिनियम मे फैक्ट्री-श्रम के लिए काफी विस्तृत व्यवस्थायें की गई हैं, जिससे पुराने अधिनियमो के बहुत से दोषो को दूर किया जा सका है। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित है.—

(१) क्षेत्र —यह अधिनियम उन सब कारखानो पर लागू होता है, (i) जिनमें बिजली का प्रयोग होता है, तथा १० अथवा अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, और (ii) जिनमे बिजली का प्रयोग तो नही होता, परन्तु २० अथवा अधिक श्रमिक कार्य करते हैं। साथ ही राज्य सरकारो को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि किसी औद्योगिक सस्थान में केवल एक ही परिवार के श्रम द्वारा काम नही किया जाता, तो वे श्रमिको की सख्या अथवा बिजली के प्रयोग की ऊपर बतलाई गई शर्तो को ध्यान मे रखे बिना ही इस अधिनियम को उस औद्योगिक

सस्थान पर लागू कर सकती है। अधिनियम मे मौसमी और बारहमासी कारखानो के पुराने भेद को समाप्त कर दिया गया है।

(२) मजदूरों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण के विषय मे अधिनियम मे विस्तृत व्यवस्थाये की गई है। मजदूरो के स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए सफाई गदगी को बाहर फेकने, साफ हवा अन्दर आने, तापमान, धूल और गैस कमरे से बाहर निकालने के लिए पंखो, अधिक भीड से बचाव, प्रकाश, पीने के पानी, पीकदान, शौचालय, मूत्रालय, प्राथमिक चिकित्सा, आदि के बारे मे विस्तृत व्यवस्थाये की गई है। ५०० से अधिक मजदूरो वाले कारखानो मे एम्बुलेन्स रखना आवश्यक कर दिया गया है।

मजदूरो की रक्षा के लिये कई एक प्रावधान रखे गये हैं, जैसे कि मशीनरी के चारो ओर बाड़ लगाई जाय, चलती मशीनो की देख-भाल और चालू रखने मे सावधानी बरती जाय, आखो का बचाव और जहरीली गैसो से बचाव किया जाय, आदि।

कल्याण सम्बन्धी प्रावधान इस प्रकार है:—उपयुक्त तथा पर्याप्त धुलाई-सुविधाये, २५० या अधिक मजदूरो वाले कारखानो मे कैन्टीन, ५० या अधिक स्त्री-मजदूरो वाले कारखानो मे बालगृह (Creches), १५० या अधिक मजदूरो वाले कारखानो मे विश्राम गृह और जलपानगृह की व्यवस्था और ५०० या अधिक मजदूरो वाले कारखानो मे 'कल्याण अधिकारियो' की नियुक्ति, आदि।

(३) बच्चे: – १४ वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानो में काम पर नही लगाया जा सकता। किशोरावस्था (१५ से १८ वर्ष) के बालको को शारीरिक समर्थता का डाक्टरी प्रमाण-पत्र देने पर वयस्क माना जा सकता है। तथापि, यह प्रमाण-पत्र १ वर्ष तक ही मान्य हो सकता है। ७ बजे सायं से लेकर प्रातः ६ बजे के बीच बच्चो और स्त्रियो को काम पर नही लगाया जा सकता। जिस मशीन पर चोट लगने का डर हो, उस पर भी उन्हे नही लगाया जा सकता।

(४) काम के घटे—वयस्को के लिये काम के घटे ४८ प्रति सप्ताह या ६ प्रतिदिन नियत किये गये है। बीच की छुट्टी मिला कर एक समय मे मजदूर को ६ घेक से अधिक १०½ घटे तक काम पर रखा जा सकता है। इन्हे ५ घंटों के लगातार काम के पश्चात् कम से कम आधे घटे का अवकाश देना आवश्यक है।

१८ वर्ष से कम आयु वालो के लिये काम के घटे ४½ प्रतिदिन और काम के घंटो का विस्तार ५ घटे प्रतिदिन नियत किये गये है।

(५) अधिसमय (Overtime) के लिए साधारण वेतन का दुगना देना होगा।

(६) छुट्टियाँ—सप्ताह में एक छुट्टी के अतिरिक्त, प्रत्येक श्रमिक लगातार एक वर्ष तक काम करने के बाद मजदूरी सहित छुट्टी के लिए निम्न दर पर अधिकारी है:— वयस्क श्रमिक कार्य के प्रति २० दिन के पीछे १ दिन और वर्ष मे कम से कम १० दिन; १८ वर्ष से कम आयु वाला श्रमिक कार्य के प्रति १५ दिन के पीछे १ दिन और वर्ष मे कम से कम १४ दिन। यदि श्रमिको ने अपनी

अर्जित छुट्टियां नही ली हैं, तो नौकरी छोडने पर उन्हे इनके लिये अलग से वेतन मिलेगा। छुट्टियां वयस्क श्रमिको के लिये ३० दिन तक और बच्चो के लिये ४० दिन तक जमा हो सकती है।

(७) अन्य—

(i) प्रबन्धको के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया है कि कारखाने मे होने वाली प्रत्येक दुर्घटना व श्रमिक की बीमारी के बारे मे मुख्य फैक्ट्री निरीक्षक को सूचना दी जाय।

(ii) नये कारखानो के निर्माण तथा पुराने कारखानो के विस्तार के लिये लाइसेंस प्राप्त करना तथा रजिस्ट्री कराना अनिवार्य कर देने के अतिरिक्त इनकी पूर्व स्वीकृति तथा अनुमति भी आवश्यक कर दी गई है।

(iii) इस अधिनियम को न मानने वाले प्रबन्धको को उचित दण्ड देने की भी व्यवस्था कर दी गई है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से भी स्पष्ट है कि १९४८ का फैक्ट्री अधिनियम काफी व्यापक तथा सन्तोषजनक है। परन्तु फिर भी समय-समय पर (१९४९, १९५०, १९५३, और १९५४ मे) इसमे आवश्यकतानुसार छोटे छोटे संशोधन किये गये हैं। इस अधिनियम का क्षेत्र यद्यपि काफी व्यापक है, तथापि अभी भी बडी संख्या मे ऐसे बहुत से छोटे-छोटे कारखाने है जिन मे भाडे के श्रमिको से काम लिया जाता है, परन्तु जो इस अधिनियम के अन्तर्गत नही आते। इन कारखानो मे श्रमिको का अत्याधिक शोषण होता है। इसके अतिरिक्त, जिन कारखानो पर यह अधिनियम लागू होता भी है, उनमे से भी बहुत सो मे अधिनियम के विभिन्न प्रावधानो की अवहेलना की जाती है, और इस प्रकार मजदूरो का शोषण किया जाता है। इसका एक मुख्य कारण तो यह है कि विभिन्न राज्यों मे फैक्ट्री निरीक्षण की व्यवस्था बड़ी अपर्याप्त है। दूसरे दोषी मालिको को बडी हल्की सजा दी जाती है। अतः फैक्ट्रियों मे काम करने वाले मजदूरो का शोषण कम करने के लिये आवश्यक है कि इस अधिनियम के कुछ प्रावधानों को छोटे नियमित कारखानो पर भी लागू किया जाय, इसके विभिन्न प्रावधानो को अधिक सख्ती से लागू किया जाय, और फैक्टरी निरीक्षको की संख्या को बढाया जाय।

खान विधान (Mines Legislation)

भारत मे खानो में ५.५ लाख से भी अधिक मजदूर काम करते है। इनमे से तीन चौथाई से भी अधिक मजदूर कोयले की खानो मे काम करते है, और लगभग २०% मजदूर स्त्रियां है। खान-उद्योग मुख्यत बिहार, पश्चिमी बंगाल और मध्य प्रदेश मे केन्द्रित है।

खानो मे काम की दशाओ को नियमित करने के लिये पहला अधिनियम १९०१ मे पास किया गया था। परन्तु इसमे बहुतसी कमियां थी। उदाहरणार्थ, इसमे मजदूरो के काम के घंटे तक भी नियत नही किये गये थे। अत कई एक

संशोधनो के पश्चात् १६२३ मे इसके स्थान पर एक अधिक व्यापक खान अधिनियम पास किय गया। इसके द्वारा मजदूरो के काम के घटो का नियमन (प्रतिसप्ताह खान के अन्दर ५४ घटे और बाहर ६० घटे) किया गया, और १३ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर लगाने से मना किया गया। इस अधिनियम में भी आये समय-समय पर कई एक संशोधन किये गये, जिनके द्वारा पीने के पानी, सफाई, प्राथमिक चिकित्सा, स्त्रियो व पुरुषो के लिये अलग-अलग बन्द स्नानागृह, बालगृह तथा सुरक्षा, आदि की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण खान-क्षेत्रो मे खान मण्डलो (Mining Boards) की स्थापना की व्यवस्था की गई। इन मण्डलो में मजदूर, मालिक और सरकार के प्रतिनिधि होते हैं।

भारतीय खान अधिनियम, १६५२—खान-मजदूरों से सम्बन्धित विधान को फैक्ट्री मजदूरो के विधान के स्तर पर ही लाने के लिये भारत सरकार ने १६५२ में भारतीय खान अधिनियम पास किया। इस समय जम्मू व काश्मीर-राज्य को छोड़ कर, शेष भारत मे सभी खानो पर यही अधिनियम लागू होता है। इसके मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं—

(१) काम के घण्टे—खान के भीतर या बाहर काम करने वाले दोनो प्रकार के वयस्क मजदूरो के काम के घण्टो को कम करके ४८ घण्टे प्रति सप्ताह कर दिया गया है। एक मजदूर से एक दिन मे खान के भीतर ८ घण्टे व बाहर ६ घण्टे से अधिक काम नही लिया जा सकता।

(२) बच्चे—इस व्यवस्था को चालू रखा गया है कि १५ वर्ष से कम आयु के बच्चो को काम पर नही लगाया जा सकता। १५ से १८ वर्ष के किशोरावस्था वालो से खान के भीतर तभी काम लिया जा सकता है जब डाक्टर से उनके लिये समर्थता का प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया जाय। यदि ऐसा नही होता तो इस आयु के बालको से खान मे बाहर ही ४½ घण्टे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।

(३) स्त्रीयाँ—इस व्यवस्था को भी चालू रखा गया है कि स्त्रियो को भूमि के नीचे काम पर नही लगाया जा सकता। भूमि के ऊपर भी उनसे ७ बजे साय के बाद और ६ बजे प्रातः से पहले काम नही लिया जा सकता।

(४) अधि समय (Over time)—इस अधिनियम के द्वारा पहली बार यह व्यवस्था खानो में की गईहै कि भूमितल पर काम करने वाले मजदूरो को वेतन का अधिसमय के लिये साधारण डेढ़ गुना और भूमि के नीचे काम करने वालो को साधारण वेतन का दोगुना दिया जाय।

(५) छुट्टियां—सप्ताह मे एक छुट्टी के अतिरिक्त, मासिक वेतन पर काम करने वालो को १ वर्ष तक लगातार काम करने पर १४ दिन की वेतन सहित छुट्टी, और साप्ताहिक वेतन पर काम करने वालो या कार्यानुसार वेतन पाने वालो को १ वर्ष तक लगातार काम करने पर ७ दिन की वेतनसहित छुट्टी दी जायगी।

(६) मजदूरो के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण के सम्बन्ध मे प्रावधान मोटे रूप से फैक्ट्री अधिनियम, १६४८ के प्रावधानो मे मिलते जुलते हैं;

(७) निरीक्षण तथा अधिनियम का उल्लंघन करने वालो के लिये दण्ड की भी उचित व्यवस्था की गई है।

खान खान विधान—'कोयला खान श्रम कल्याण कोष' १६४७ (Coal Mines Labour welfare Fund Act 1947) के अन्तर्गत कोयले की खानो मे काम करने वाले श्रमिको के कल्याण को बढाने के लिये विशिष्ट कर (Cess) लगा कर एक कोष बनाने के लिये केन्द्रीय सरकार को अधिकार दिया गया है। कोष से श्रमिको की गृह व्यवस्था को सुधारने, जल पूर्ति शिक्षा और चिकित्सा की सुविधाओ को प्रदान करने की कल्याण क्रियायें चलाई जायेगी। इसी प्रकार का एक अधिनियम १६४६ मे अभ्रक की खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिये भी पास किया गया था।

१६४८ मे एक और अधिनियम (Coal Mines Provident Fund & Bonus Schemes Act) पास कर के कोयले की खानो मे काम करने वाले श्रमिकों के लिए एक भविष्यनिधि (Provident Fund) की योजना तथा बोनस देने की योजना बनाने का सरकार को अधिकार दिया गया है। १६५२ के एक और अधिनियम [Coal Mines (Conservation & Safety) Act] के द्वारा कोयले के संरक्षण तथा कोयला खानो मे सुरक्षा उपायो को बनाए रखने के लिए उचित उपाय अपनाने के लिए केन्द्रीय सरकार को अधिकार दिया गया है। तदनुसार, एक कोयला मण्डल की नियुक्ति की गई है।

उद्यान विधान (Plantation Legislation)—चाय, कहवा, रबड, आदि के उद्यानों मे, लगभग १२·५ लाख श्रमिक कार्य करते है। इनमें से १०·३ लाख श्रमिक चाय के उद्यानो मे, १·७५ लाख श्रमिक कहवा के उद्यानो मे और ०·५ लाख श्रमिक रबड के उद्यानो मे काम करते है। इनमे से अधिकाश श्रमिक दूर-दूर के क्षेत्रो से भर्ती किये जाते हैं। उद्यानो मे काम बहुधा मौसमी होता है और जलवायु मलेरिया वाली होती है।

१६५१ से पहले तक इन उद्यानो मे काम की दशाओ को नियमित करने वाला कोई भी अधिनियम नही था। इससे पहले समय-समय पर कई एक अधिनियम पास किये गये थे। जैसे कि 'असम श्रमिक तथा प्रवासी अधिनियम, १६०१', 'चाय क्षेत्रीय प्रवासी श्रमिक अधिनियम, १६३२', आदि। परन्तु १६३२ का अधिनियम भी केवल श्रमिको की भर्ती को, और भर्ती किए गए श्रमिको को असम के चाय के बगीचो मे भेजने को तथा वहा से उनकी वापसी को ही नियमित करता है, चाय के बगीचो में काम

करने वाले श्रमिकों की कार्य-दशाओं को नियमित नहीं करता । इस कमी को पूरा करने के लिए १९५१ में सर्वप्रथम एक व्यापक अधिनियम बनाया गया । नीचे हम इसका अध्ययन करते हैं ।

उद्यान श्रम अधिनियम १९५१ (The Plantation Labour Act 1951) यह अधिनियम अक्तूबर १९५१ में पास किया गया था, और अप्रैल, १९५४ से देश में लागू किया गया है । यह जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण भारत में लागू होता है । इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) क्षेत्र—यह अधिनियम चाय, कहवा, रबड़ और सिन्कोना के उन सभी उद्यानों पर लागू होता है, जहां कम से कम ३० श्रमिक कार्य करते हैं, और जिनका क्षेत्रफल कम से कम २५ एकड़ है । परन्तु कोई भी राज्य सरकार इसे अन्य उद्यानों पर भी लागू कर सकती है ।

(२) काम के घंटे—वयस्क श्रमिकों से प्रति सप्ताह अधिक से अधिक ५४ घण्टे और १८ वर्ष से कम आयु के बच्चों से ४० घंटे काम लिया जा सकता है । १२ वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम पर नहीं लगाया जा सकता । स्त्रियों और बच्चों से सायं ७ बजे के बाद और प्रातः ६ बजे से पहले काम नहीं लिया जा सकता । एक दिन में काम के घंटों का विस्तार (spread over) १२ घंटों से अधिक नहीं हो सकता । ५ घंटों के लगातार काम के पश्चात आधे घंटे का आराम देना आवश्यक है ।

(३) छुट्टियां—सप्ताह में एक छुट्टी के अतिरिक्त, वयस्क श्रमिकों को प्रति २० दिन के पीछे १ दिन की और १८ वर्ष से कम आयु वालों को प्रति १५ दिन के पीछे १ दिन की वेतन सहित छुट्टी मिलेगी । ऐसी ३० दिन तक की छुट्टियां इकट्ठी हो सकती हैं । इसके अतिरिक्त, बीमार होने पर व स्त्रियों के बच्चा होने पर भी सवेतन छुट्टियां मिल सकती हैं । राज्य सरकारों को इसके लिए नियम बनाने हैं ।

(४) अन्य—श्रमिकों के स्वास्थ्य और कल्याण तथा कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति सम्बन्धी प्रावधान लगभग वैसे ही हैं जैसे कि फैक्ट्री अधिनियम, १९४८ में हैं । इसके अतिरिक्त, अधिनियम में यह भी प्रावधान है कि उद्यानों के मालिक उद्यानों में रहने वाले श्रमिकों और उनके परिवारों के रहने के लिए मकानों की भी व्यवस्था करें ।

इसी प्रकार रेलों में, जलयानों पर, बन्दरगाहों व नौस्थानों (Docks) पर, मोटर यातायात में, दूकानों, वाणिज्य संस्थानों (Commercial Establishments) रस्तोरां, सिनेमा, और थियेटरों, आदि में काम करने वाले श्रमिकों के काम के घंटों, छुट्टियों, आदि के लिए भी अधिनियम पास किये गये हैं । स्थानाभाव के कारण इन सबका यहां विस्तृत अध्ययन नहीं किया जा सकता ।

अन्य श्रम-विधान (Other Labour Legislation)—

नीचे हम संक्षेप में श्रम सम्बन्धी अन्य प्रमुख अधिनियमों का अध्ययन करते हैं ।

(1) मजदूरी सम्बन्धी विधान (Wages Legislation)—

मजदूरी से सम्बन्धित निम्नलिखित दो अधिनियम देश में प्रचलित हैं—

अ) वेतन भुगतान अधिनियम, १९३६ (Payment of Wages Act, 1936)

मजदूरी का नियमित रूप से भुगतान मजदूरों के लिये एक बहुत महत्वपूर्ण बात है। १९३६ से पहले मजदूरी के भुगतान को नियमित करने के लिये कोई अधिनियम देश में नहीं था, और बहुत से मालिक लोग मजदूरों को काफी-काफी देर से मजदूरी देते थे, और उसमें से कई प्रकार की अनुचित कटौतियां काटते थे। इस सबको नियमित करने के लिये १९३६ में यह वेतन-भुगतान अधिनियम पास किया गया। यह अधिनियम जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़कर शेष सारे भारत में लागू होता है।

यह अधिनियम उन मजदूरों पर लागू होता है, जिनका वेतन २०० रु० मासिक से कम है, और जो कारखानों में अथवा रेलों पर काम करते हैं। उपयुक्त (केन्द्रीय अथवा राज्य) सरकारों को अधिकार है कि वे अधिनियम में बताये गये किसी भी औद्योगिक संस्थान पर इन अधिनियम के प्रावधानों का विस्तार कर दें। तदनुसार केन्द्रीय सरकार ने इस अधिनियम को खानों में, मद्रास में उद्यानों में और उत्तर प्रदेश में छापाखानों में भी लागू किया गया है।

मजदूरी के भुगतान में देरी से बचाव के लिये अधिनियम में मजदूरी के भुगतान की अधिकतम अवधि एक मास नियत की गई है। यदि किसी उपक्रम में लगे श्रमिकों की संख्या १,००० से कम है, तो उनकी मजदूरी का भुगतान अगले महीने के ७ दिन के भीतर हो जाना चाहिये, और यदि श्रमिकों की संख्या १,००० से अधिक है तो यह भुगतान १० दिन के भीतर हो जाना चाहिये। जिस मजदूर को काम से हटा दिया गया है, उसे दो दिन के भीतर उसकी मजदूरी मिल जानी चाहिये। वेतन का सभी भुगतान काम के दिन और नकद मुद्रा में होना आवश्यक है।

अधिनियम के अनुसार, मजदूरी में से जुर्माना, किराया, आयकर, बीमा, प्रॉवीडेण्ट फंड, आदि के लिये कुछ निर्दिष्ट कटौतियां काटी जा सकती हैं। जुर्माने के रूप में श्रमिक के वेतन में से किसी भी मास में दो पैसे प्रति रुपया से अधिक रकम नहीं काटी जा सकती। इस रकम का ठीक-ठीक लेखा रखना, और इसे श्रम-कल्याण पर खर्च करना आवश्यक है।

इस अधिनियम का संशोधन करने की आवश्यकता है, क्योंकि १९३६ के बाद से मूल्य-स्तर और वेतन बढ़ गये हैं, और अतः अधिनियम को भी अब उन मजदूरों पर भी लागू करना आवश्यक है, जिनका वेतन २०० रु० से अधिक है। अब अधिनियम के कार्य-क्षेत्र के लिये ५०० रु० के वेतन की अधिकतम सीमा उचित होगी।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८* (Minimum Wages Act, 1948)—

वेतन से सम्बन्धित एक और महत्वपूर्ण प्रश्न न्यूनतम मजदूरी को निश्चित करना है। भारत जैसे देश मे यह और भी आवश्यक है, क्योकि यहां श्रम सस्ता और असंगठित है,और अत उसका बहुत अधिक शोषण होता है। इस आवश्यकता पर शाही श्रम आयोग (Royal Commission on labour) ने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I. L. O.) ने आज से २० वर्ष पहले ही जोर डाला था। परन्तु भारत मे इस प्रकार का अधिनियम, (न्यूनतम मजदूरी अधिनियम) २० वर्ष पश्चात् अर्थात् १९४८ मे पास किया जा सका। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

अधिनियम केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारो को एक निर्दिष्ट अवधि मे कुछ चुने हुए उद्योगो मे काम करने वाले श्रमिको (जिनमे क्लर्क भी शामिल है) को दी जाने वाली मजदूरी की न्यूनतम दरें निश्चित करने का अधिकार देता है। ये चुने हुए उद्योग वे हैं, जिनमे मजदूरो का अत्याधिक शोषण होता है। इनके नाम अधिनियम की सूची मे दिये गये हैं, और इस प्रकार हैं: तम्बाकू, जिसमे बीडी बनाना भी शामिल है, चावल की मिलें, आटा पीसने की मिलें, दाल की मिलें, तेल के कारखानें, उद्यान (Plantations), किसी स्थानीय प्राधिकारी के अधीन रोजगार, सडक अथवा भवन-निर्माण, पत्थर तोडना, लाख बनाने के कारखाने, अभ्रक का काम, सार्वजनिक मोटर यातायात, चमडा रगने तथा चमडे का सामान बनाने का काम, और कृषि।

अधिनियम उपर्युक्त सरकार को इस बात का अधिकार देता है कि वह इसके प्रयोग का अन्य किसी भी ऐसे उद्योग तक विस्तार कर दे, जिसमे कि उसके मत मे, परिनियत (Statutory) न्यूनतम मजदूरी निश्चित करनी आवश्यक है। किसी ऐसे उद्योग मे न्यूनतम मजदूरी निश्चित नही की जाती जिसमें कि सम्पूर्ण राज्य मे १,००० से भी कम श्रमिक काम करते है। अधिनियम के अन्तर्गत जिस उद्योग के लिये न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाय, उसके लिये उपर्युक्त सरकार प्रतिदिन काम के घटे (जिसमे विश्राम का समय भी शामिल है) निश्चित कर सकती है, सप्ताह मे वेतन सहित एक दिन की छुट्टी की तथा अधिसमय (Over-time) के लिये अलग भुगतान की भी व्यवस्था कर सकती है।

अधिनियम के अनुसार, खेती मे श्रमिको के लिये न्यूनतम मजदूरी को आगामी ३ वर्षों के भीतर और शेष अनुसूचित उद्योगो मे आगामी २ वर्षो के भीतर निश्चित किया जाना था। परन्तु इस अवधि के भीतर ऐसा न हो सका। अतः अधिनियम मे समय-समय पर संशोधन करके इस अवधि को आगे बढाया गया। अन्ततः अन्तिम तिथि की सीमा को समाप्त कर दिया गया, और उपयुक्त सरकारो से यह कहा गया है कि वे यथाशीघ्र इस दिशा मे पद उठायें। तदनुसार, कृषि को छोडकर; अन्य लगभग सभी अनुसूचित उद्योगो मे न्यूनतम मजदूरी को निश्चितकर दिया गया है। कृषि के क्षेत्र मे अधिकाश राज्यो ने या तो सम्पूर्ण राज्य क्षेत्रो के लिये या कुछ निर्दिष्ट क्षेत्रो के लिए न्यूनतम मजदूरी को निश्चित कर दिया है। कुछ राज्यो मे

* इस सम्बन्ध मे कृपया इस पुस्तक के प्रथम भाग के पृष्ठ २७१–२७२ को देखिये।

इस अधिनियम को अनुसूचित उद्योगों के अतिरिक्त, कुछ अन्य घोषित उद्योगों में भी लागू कर दिया गया है। न्यूनतम मजदूरी की जो दरें निश्चित की गई हैं, वे विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न हैं, और अलग-अलग उद्योग के लिए अलग-अलग है, और समय-समय पर उनमें संशोधन भी किये गये हैं।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम इस प्रकार उचित दिशा में उठाया गया एक आवश्यक कदम है। परन्तु इसकी सूची में सभी घोषित उद्योगों को स्पष्ट रूप से शामिल नहीं किया गया है, जिससे इसका क्षेत्र संकुचित हो गया है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी प्रकार के कार्यों के लिए एक 'राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी' (National Minimum Wages) निश्चित की जाय, और जिन व्यवसायों में सम्भव हो वहां, 'उचित मजदूरी' (Fair Wages) निश्चित की जाय। 'उचित मजदूरी' निश्चित करने के लिये भारतीय संसद में १९५० में एक विधेयक (Bill) भी रखा गया था। परन्तु इसे बीच में ही छोड़ दिया गया, और अभी तक इस प्रकार का कोई भी अधिनियम पास नहीं किया जा सका है।

नीचे हम भारत में सामाजिक सुरक्षा, औद्योगिक सम्बन्धों तथा मजदूर संघ आन्दोलन का कुछ विस्तार में अध्ययन करेंगे। इसी अध्ययन में यथा स्थान इनमें सम्बन्धित विधान का भी उल्लेख किया जायेगा। अतः उसे यहां अलग से देना अनावश्यक है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा
(Social Security in India)

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ

सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो कि समाज अथवा राज्य अपने सदस्यों को उन पर आने वाले कुछ जोखिमों के विरुद्ध प्रदान करता है। आधुनिक समाज में व्यक्तियों पर कई प्रकार के संकट आते रहते हैं, जैसे कि बीमारी, बेरोजगारी, बुढ़ापा, किसी दुर्घटना से अंगहीन हो जाने अथवा भारी चोट पहुंचने से स्थाई अथवा अस्थाई रूप से काम करने के अयोग्य हो जाना अथवा अकाल मृत्यु से उस व्यक्ति के आश्रितों का निराधार हो जाना, स्त्री श्रमिकों के सम्बन्ध में प्रसूति काल आदि। ये सब संकट ऐसे हैं जिनका एक निर्धन व्यक्ति अथवा श्रमिक, अकेले अथवा अपने जैसे अन्य व्यक्तियों से मिलकर, सामना नहीं कर सकता। अतः ये संकट उस की आय कमाने की शक्ति पर आघात करते हैं जिससे वह तथा उस पर आश्रित व्यक्ति जीवन-निर्वाह चलाने में भी बड़ी कठिनाई पाते हैं। ऐसी दशा में समाज अथवा राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे लोगों की रक्षा करे। इस रक्षा के लिए उठाये गये पदों को ही सामाजिक सुरक्षा कहते हैं।

सामाजिक सुरक्षा एक काफी व्यापक शब्द है, और इसमें सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सहायता दोनों ही शामिल होते हैं। सामाजिक बीमा (Social Insurance) के अन्तर्गत श्रमिक, मालिक और सरकार तीनों अपने अनिवार्य अंशदानों के द्वारा एक कोष का निर्माण करते हैं, और फिर इस कोष में से बीमारी,

बेरोजगारी आदि संकटो के समय मे आश्वासित (Insured) श्रमिको को, उनके अधिकार के रूप मे, इतने लाभ दिये जाते हैं, जिससे कि उनका रहन-सहन का एक निम्नतम स्तर बना रहे। सामाजिक सहायता के अन्तर्गत सरकार कम आय वाले लोगो को सामान्य कोषो से, बिना किसी प्रकार का चन्दा लिये, संकट के समय मे अर्थ-सहायता प्रदान करती है, जिससे उनका रहन-सहन का एक निम्नतम स्तर बना रहे। विभिन्न उन्नत देशो मे सामाजिक सुरक्षा के रूप मे आवश्यकतानुसार, सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता दोनो विधियो को ही अपनाया जाता है।

किसी भी देश मे सामाजिक सुरक्षा का महत्व स्पष्ट है। इस से लोगो के रहन-सहन और कार्य करने की दशाओ मे सुधार होता है और उन्हे भविष्य की अनिश्चितताओ की चिन्ताओ से मुक्ति मिलती है। इससे जहां उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है, वहां देश के मानवीय साधनो की अनुचित बर्बादी रुकती है, और देश मे धन के उत्पादन मे वृद्धि होती है। अत: एक कल्याण राज्य की स्थापना के लिये सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था अनिवार्य है।

पश्चिम के उन्नत देशों, जैसे इंगलैंड, अमरीका, सोवियत रूस, जर्मनी, आदि ने सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे बहुत प्रगति की है। इंगलैंड मे तो १९४२ मे प्रस्तुत बीवरिज योजना के अन्तर्गत वहा की सरकार ने सामाजिक सुरक्षा की एक व्यापक सेवा का संगठन किया है जिसके अन्तर्गत जाता की गर्भ से लेकर मृत्यु तक और मृत्यु के पश्चात् उनके आश्रितो की 'अभाव', 'बीमारी', 'अज्ञानता', 'मलिनता' (Squalor) और 'बेकारी' के पाचो दानवो से सुरक्षा करने का प्रयत्न किया जाता है। यहा हम भारत मे औद्योगिक श्रमिको को प्राप्त सामाजिक सुरक्षा के बारे मे पढते हैं।

भारत में सामाजिक सुरक्षा

भारत जैसे अर्ध विकसित तथा पिछड़े देश में सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था की आवश्यकता और भी अधिक स्पष्ट है। भारत एक निर्धन देश है, और यहा श्रमिको की मजदूरी की दरें बहुत नीची हैं। अत उनका रहन-सहन का स्तर भी बहुत नीचा रहता है, और उनके पास अपनी कोई जमा पूंजी नही रहती जिससे बीमारी, बेकारी, बुढापा, आदि संकट के समय मे अपना निर्वाह चलाया जा सके। उधर भारत मे इस प्रकार के संकटो का आपात उन्नत देशो की अपेक्षा कही अधिक है। अत. ऐसे संकटो के समय मे इन्हे ब्याज की ऊंची दर पर कहरा लेना पडता है, जिसका भार सदा के लिये उनके सिर पर लदा रहता है। तिस पर भी इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय ही बनी रहती है। अत: भारत मे सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था की अत्यधिक आवश्यकता है।

इस के अन्तर्गत लोगो पर आने वाले उन सभी संकटो के विरुद्ध व्यवस्था करने की आवश्यकता है, जो कि उन्हे आय कमाने के योग्य नही छोडते। ये संकट अथवा दशायें निम्नलिखित हैं :—(अ) आय कमाने मे अस्थाई अयोग्यता, जो कि

बीमारी, दुर्घटना, बेरोजगारी अथवा प्रसूति, आदि के कारण उत्पन्न हुई हो। (आ) स्थाई अयोग्यता जो कि बुढ़ापा, पूर्ण अंगहानि (Disablement) अथवा चिरकालिक असमर्थता (Chronic Invalidity), आदि के कारण उत्पन्न हुई हो। और (इ) परिवार के आय कमाने वाले सदस्य की मृत्यु, जिस से कि उसके आश्रित लोग निराधार हो जाय। अत पूर्ण सामाजिक सुरक्षा की किसी योजना मे निम्नलिखित के विरुद्ध पर्याप्त व्यवस्था का होना आवश्यक है :— (१) बीमारी अथवा कोई अन्य असमर्थता, (२) दुर्घटना, (३) प्रसूति, (४) बेरोजगारी, (५) बुढ़ापा, और (६) उत्तरजीवी-दशा (Survivorship)।

भारत मे इन ऊपर बताये सकटो मे से किसी के लिए भी पूर्ण व्यवस्था नही है, यद्यपि कुछ के लिये थोडी-बहुत व्यवस्था अवश्य उपलब्ध है।

भारत में इस समय निम्नलिखित अधिनियमो के अन्तर्गत श्रमिको को कुछ प्रकार की सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध है :—

(१) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १९२३ के अन्तर्गत काम के समय चोट लग जाने या अन्य दुर्घटना हो जाने पर प्राप्त क्षतिपूर्ति का लाभ।

(२) मातृत्व लाभ अधिनियमो के अन्तर्गत स्त्री श्रमिको को प्राप्त मातृत्व लाभ।

(३) श्रमिक राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ के अन्तर्गत आगोपित श्रमिको को प्राप्त स्वास्थ्य बीमा का लाभ।

(४) कोयला खान भविष्य निधि तथा बोनस योजना अधिनियम, १९४८ और कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम (Employees' Provident Fund Act), १९५२ के अधीन प्राप्त पूर्णायायी कोष-लाभ और।

(५) औद्योगिक झगडे (सशोधन) अधिनियम, १९५३ के अन्तर्गत प्राप्त छटनी सम्बन्धी लाभ (Retrenchment & Lay-off Benefits)।

नीचे हम इन का बारी-बारी सक्षेप में अध्ययन करते है।

श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act, 1923)—सामाजिक सुरक्षा की दिशा मे भारत मे सबसे पहला कदम १९२३ में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम के रूप मे अपनाया गया था। इसमे समय-समय पर कई एक सशोधन किये गये है। इस समय यह अधिनियम २७ निर्दिष्ट रोजगारो पर लागू होता है। इनमे सभी सगठित उद्योग, रेलें, खाने और जोखिम वाले अन्य लगभग सभी रोजगार शामिल हैं। कारखानो मे यह उन पर लागू होता है, जिनमे यदि बिजली का प्रयोग होता है तो १० अथवा अधिक श्रमिक काम करते हो और बिजली का प्रयोग न होता हो तो ५० या अधिक श्रमिक काम करते हो। अधिनियम के क्षेत्र मे केवल वे ही श्रमिक आते हैं, जिनका मासिक वेतन ४००) रु० से कम है, और जो क्लर्क नही है अथवा प्रशासन सम्बन्धी कार्य नही करते है। जो श्रमिक कर्मचारी-राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ के अन्तर्गत कर्मचारी-राज्य बीमा निगम

से लाभ प्राप्त करने के अधिकारी हैं, वे भी इस अधिनियम के अन्तर्गत मालिको से क्षतिपूर्ति प्राप्त नही कर सकते।

अधिनियम इस बात की व्यवस्था करता है कि यदि काम करते समय, उस काम से जन्य किसी दुर्घटना से किसी श्रमिक को चोट लगती है अथवा उस काम से जन्य कोई अनुसूचित बीमारी होती है, तो उसे मालिक के द्वारा हर्जाना दिया जायेगा। तथापि, यदि चोट अथवा बीमारी ७ दिन से पहले ठीक हो जाती है या चोट ऐसी है, जो श्रमिक के दोष से लगी है, और इससे उसकी मृत्यु नही होती, तो मालिक हर्जाना देने के लिए बाध्य नही होगा।

हर्जाने अथवा क्षतिपूर्ति की रकम चोट की प्रकृति और श्रमिक की मासिक मजदूरी पर निर्भर होती है। इस दृष्टि से चोटो को तीन वर्गों में बांटा गया है :-- (i) वे जिनसे श्रमिक की मृत्यु हो जाती है, (ii) वे जिनसे श्रमिक को स्थाई रूप से पूर्ण अथवा आशिक अंगहानि होती है, और वे जिनसे श्रमिक की अस्थाई अंगहानि होती है। वयस्क श्रमिको की मृत्यु होने पर क्षतिपूर्ति की रकम, मजदूरी की दर के अनुसार, ५०० रु० से ४,५०० रु० के बीच होती हैं; स्थाई रूप से पूर्ण अंगहानि की स्थिति में यह ७०० रु० से ६,३०० रु० के बीच होती है। अवयस्क श्रमिकों की मृत्यु होने पर क्षतिपूर्ति की एक ही दर २०० रु० है, और स्थाई रूप से पूर्ण अंगहानि की क्षतिपूर्ति की एक ही रकम १२०० रु० है। स्थाई रूप से आशिक अंगहानि होने पर क्षतिपूर्ति की रकम आय कमाने की शक्ति की प्रतिशत हानि के आधार पर तै की जाती है। अस्थाई अंगहानि की दशा मे श्रमिको को प्रति मास आधे महीने की मजदूरी, जो कि अधिक से अधिक ३० रु० हो सकती है, दी जाती है। यह व्यवस्था अधिक से अधिक ५ वर्ष तक चल सकती है। अंगहानि के पहले ७ दिनो के लिये कोई क्षतिपूर्ति नही दी जाती।

अधिनियम के अधीन सभी राज्यो मे श्रमिकों की क्षतिपूर्ति के कमिश्नर हैं। मालिको को सभी दुर्घटनाओ की सूचनायें इन के पास भेजनी पडती हैं। ये कमिश्नर क्षतिपूर्ति के भुगतान सम्बन्धी विभिन्न कार्य करते हैं।

जब भारत में श्रमिको को किसी भी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध नही थी, तब श्रमिको को क्षतिपूर्ति अधिनियम के द्वारा इस प्रकार की सीमित सुरक्षा की व्यवस्था करना एक महत्वपूर्ण बात थी। अधिनियम के अन्तर्गत श्रमिकों को सीमित सहायता मिलती रही है। बडे मालिक बहुधा अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों को मानते हैं। परन्तु छोटे मालिक और छोटे स्थानो पर मालिक अधिनियम की अवहेलना करने का प्रयत्न करते हैं। क्षतिपूर्ति के लिये प्रार्थनापत्रो पर कार्यवाही मे भी काफी देर लगाई जाती है। उधर श्रमिक अशिक्षित तथा अनभिज्ञ होने के कारण बहुत बार क्षतिपूर्ति की माग ही नही करते। अत. यह आवश्यक है कि इन दोषो को दूर किया जाय।

कुछ मालिको ने तो क्षतिपूर्ति के भुगतान का बीमा करवा लिया है। इससे मालिकों और श्रमिको दोनो को लाभ होता है। अतः यह विधि अन्य मालिको

द्वारा भी अपनाई जानी चाहिए। यदि कर्मचारि-राज्य बीमा अधिनियम को समस्त देश के सभी उद्योगों में लागू कर दिया जाता है, तो फिर अलग से श्रमिकों को इस क्षतिपूर्ति अधिनियम की ही कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

मातृत्व लाभ अधिनियम (Maternity Benefits Acts)—स्त्री श्रमिकों को प्रसवकाल से पहले और बाद में विश्राम तथा पौष्टिक भोजन की तथा प्रसव के समय डाक्टरी सहायता की विशेष आवश्यकता होती है। अतः ऐसे समय में उन्हें काम से वेतन सहित छुट्टी तथा मुफ्त डाक्टरी सहायता, आदि के रूप में मातृत्व लाभ देना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु भारत में अभी तक भी मातृत्व लाभ सम्बन्धी कोई भी अखिल भारतीय अधिनियम पास नहीं किया गया है। तथापि लगभग सभी राज्यों में वहाँ की सरकारों ने इस प्रकार के अधिनियम पास किए हुए हैं। इस प्रकार का पहला अधिनियम बम्बई राज्य में १९२९ में पास किया गया था। इसके पश्चात् अन्य राज्यों में भी समय समय पर ऐसे ही अधिनियम पास किए गए। १९४१ में केन्द्रीय सरकार ने खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए एक मातृत्व लाभ अधिनियम बनाया।

इन अधिनियमों के अन्तर्गत स्त्री श्रमिकों को प्रसव काल से पहले और बाद में वेतनसहित छुट्टी तथा अन्य लाभ दिये जाते हैं। ये लाभ तथा उन्हें प्राप्त करने की अधिकारिणी होने की शर्तें विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, असम में १५० दिन काम करने पर, बिहार और उत्तरप्रदेश में ६ महीने काम करने पर, बम्बई, बंगाल, पंजाब, और मध्यप्रदेश में ६ महीने काम करने पर और मद्रास में २४० दिन काम करने पर ही कोई स्त्री-श्रमिक मातृत्व लाभ प्राप्त कर सकती है। अधिनियमों के अधीन प्रसव से पहले और बाद में एक निश्चित अवधि तक स्त्री-श्रमिकों को विश्राम करना अनिवार्य है। विश्राम की इस अवधि में उन्हें अर्थसहायता दी जाती है। यह अवधि सामान्यतः ८ सप्ताह है—औसतन चार सप्ताह प्रसव से पहले और चार सप्ताह बाद में। तथापि यह अवधि कुछ राज्यों (जैसे हैदराबाद व त्रावनकोर कोचीन) में १२ सप्ताह और कुछ (जैसे मद्रास और उड़ीसा) में ७ सप्ताह है। लाभ की मात्रा भी विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न है। कुछ राज्यों में ८ आने या १२ आने प्रतिदिन की सर्वसमान दर (Flate Rate) पर लाभ दिया जाता है; कुछ अन्य राज्यों में एक सर्वसमान दर पर अथवा श्रमिक की मजदूरी की दर पर, दोनों में से जो भी अधिक हो, और कुछ अन्य राज्यों में इन दोनों में से जो भी कम हो, लाभ दिया जाता है।

कुछ अधिनियमों में स्त्री-श्रमिकों को उपर बतलाये गये मातृत्व लाभों के अतिरिक्त, बोनस और डाक्टरी सहायता प्रदान करने की और कुछ में कारखानों में शिशु-गृहों की सुविधा देने की भी व्यवस्था है। उत्तरप्रदेश और पंजाब में गर्भपात होने पर भी स्त्री-श्रमिकों को वेतनसहित छुट्टी दी जाती है।

कर्मचारी-राज्य बीमा अधिनियम, १९४८

(The Emplyees' State Insurance Act, 1948)

यद्यपि १९४८ से भी पहले श्रमिकों को क्षतिपूर्ति अधिनियम, १९२३ तथा मातृत्व लाभ अधिनियमों के अन्तर्गत श्रमिकों को कुछ सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी, तथापि आवश्यकता और इस क्षेत्र में अन्य देशों की प्रगति को देखते हुए यह 'न' के बराबर थी। अतः भारत ने सामाजिक सुरक्षा की एक अधिक व्यापक तथा साहसिक योजना को लागू करने की आवश्यकता थी। १९४८ का कर्मचारी-राज्य बीमा अधिनियम (१९५१ में इसमें किये गये संशोधन सहित) इस आवश्यकता को एक अत्यन्त छोटी सीमा तक पूरा करता है। नीचे हम इस अधिनियम के मुख्य प्रावधानों का अध्ययन करते हैं।

क्षेत्र:—यह अधिनियम, मौसमी कारखानों को छोड़ कर, उन अन्य सभी कारखानों पर लागू होता है, जो बिजली से चलाये जाते हैं और जिनमें २० अथवा अधिक श्रमिक काम करते हैं। तथापि, सरकार इसे, पूर्णतया अथवा अंशतया, किसी भी प्रकार के संस्थान पर लागू कर सकती है। इसके अन्तर्गत वे सब श्रमिक और क्लर्क आते हैं, जिनका मासिक वेतन ४०० रु० से कम है। तथापि, भारतीय सेना के सदस्य इसके अन्तर्गत नहीं आते। अधिनियम के अधीन बीमा-योजना सभी श्रमिकों के लिये अनिवार्य है।

प्रशासन:—अधिनियम का प्रशासन 'कर्मचारि-राज्य बीमा निगम' (The Emoloyees State Insurance Corporation) नाम के एक स्वायत्त निकाय को सौंपा गया है। केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, भारतीय संसद, मालिकों, श्रमिकों और डाक्टरी पेशे के कुल ३१ प्रतिनिधि इस निगम के सदस्य हैं। निगम के सदस्यों द्वारा आपस में से ही निर्वाचित १३ सदस्यों की एक स्थाई समिति (Standing Committee) है, जो निगम की कार्यकारिणी के रूप में कार्य करती है। चिकित्सा-लाभों के प्रशासन के सम्बन्ध में सलाह देने के लिये निगम की अलग से एक 'चिकित्सा लाभ परिषद्' (Medical Benefits Council) है। निगम का मुख्य प्रबन्ध अधिकारी इस का महानिर्देशक (Director-General) है।

वित्त:—योजना की वित्त व्यवस्था के हेतु एक 'कर्मचारि-राज्य बीमा कोष' बनाया गया है। इसमें मालिकों और श्रमिकों के चन्दे तथा केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारों के अनुदान शामिल किये जाते हैं। इसके लिये स्थानीय अधिकारियों, व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से उपहार भी स्वीकार किये जा सकते हैं। केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पांच वर्षों में योजना की प्रशासन-लागत का (श्रमिकों को दिये जाने वाले लाभों की लागत का नहीं) दो-तिहाई भाग दिया है। इसके अतिरिक्त, चिकित्सा लागत का $\frac{2}{3}$ भाग केन्द्रीय सरकार और $\frac{1}{3}$ भाग सम्बन्धित राज्य सरकार सहती है। श्रमिकों और उनके मालिकों की चन्दे की दरें श्रमिकों के प्रतिदिन के वेतन की दरों के अनु-

सार निश्चित की गई हैं। इस हेतु श्रमिको को, उनके दैनिक वेतन के अनुसार ८ वर्गों में बाटा गया है। पहले वर्ग के श्रमिको अर्थात १ रु० से कम दैनिक वेतन पाने वाले श्रमिकों से कोई चन्दा नही लिया जाता, यद्यपि उनके मालिकों को उनके लिये भी चन्दा देना पडता है. और इन श्रमिको को योजना के सभी लाभ भी मिलते हैं। इस के बाद जैसे-जैसे श्रमिक का दैनिक वेतन बढता है वैसे-वैसे श्रमिक व मालिक का साप्ताहिक चन्दा भी बढता है। उदाहरणार्थ यदि श्रमिक का दैनिक वेतन १ रु० से १ रु० ८ आने के बीच है, तो श्रमिक का चन्दा २ आने प्रति सप्ताह, और उसके मालिक का चन्दा ७ आने प्रति सप्ताह है और यदि श्रमिक का दैनिक वेतन बढते-बढते ८ अथवा अधिक रु० है, तो श्रमिक का साप्ताहिक चन्दा १ रु० ४ आने और मालिक का साप्ताहिक चन्दा २ रु० ८ आने है। जब तक अधिनियम को सारे देश मे लागू नही किया जाता, तब तक, १९५१ के संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि, समस्त भारत मे सभी मालिक अपने कुल वेतन का ¾% चन्दे के रूप मे देंगे, और देश के जिन भागो मे योजना को लागू कर दिया गया है, वहा (न कि ... का श्रमिकों की क्षतिपूर्ति अधिनियम तथा मातृत्व लाभ अधिनियमो के दायित्व से मुक्त कर दिया गया है) मालिको को कुल वेतन का 1¼% अर्थात कुल मिला कर 1½% चन्दे के रूप मे देना पडता है। तथापि, श्रमिक केवल वहा ही चन्दा देगा जहा कि योजना को लागू कर दिया गया है, अन्य स्थानो के श्रमिक यह चन्दा नहीं देंगे।

लाभ—अधिनियम के अन्तर्गत आगोपित (Insured श्रमिको को निम्नलिखित लाभ देने की व्यवस्था की गई है—

(i) बीमारी लाभ, (ii) मातृत्व लाभ, (iii) अङ्गहानि लाभ, (iv) आश्रितों को लाभ, और (v) चिकित्सा लाभ। पहले चार लाभ नकद रुपये के रूप मे दिये जाते है, जबकि अन्तिम लाभ सेवा के रूप मे दिया जाता है।

(i) बीमारी लाभ (Sickness Benefit)—बीमार होने पर, आगोपित श्रमिक को डाक्टरी प्रमाण-पत्र पर दैनिक वेतन की आधी रकम के बराबर की दर पर नकद रुपया मिलता है। यदि श्रमिक १५ दिन के भीतर ही दूसरी बार बीमार नही पडता, तो उसे बीमारी के पहले दो दिनो मे कोई लाभ नहीं दिया जाता। तत्पश्चात किसी भी ३६५ दिनो की निरन्तर अवधि मे अधिक से अधिक ५६ दिनो के लिये यह लाभ दिया जाता है। यदि श्रमिक उसी कारखाने मे दो वर्ष मे अधिक समय से लगातार काम करता आ रहा है, तो उसे बीमार रहने पर पहले से नीची दर पर १८ सप्ताह तक और के लिये यह बीमारी लाभ मिल सकता है।

मातृत्व लाभ (Maternity Benefit)—स्त्री-श्रमिको को बीमारी लाभ की ही दर पर, अथवा कम से कम १२ आने प्रति दिन की दर पर १२ सप्ताह के लिये नकद रुपयो मे मातृत्व लाभ दिया जाता है। इन १२ सप्ताहों मे से अधिक से अधिक ६ सप्ताह ही प्रसव होने की सम्भावित तिथि से पूर्व हो सकते हैं।

अंगहानि लाभ (Disablement Benefit) —काम करते समय चोट लग जाने से जो अङ्गहानि होती है, उसके बदले में श्रमिक को निम्नलिखित लाभ दिये जाते हैं —

(i) अस्थाई अङ्गहानि की दशा में, यदि अङ्गहानि ७ से अधिक दिनों तक चलती है तो इस काल में श्रमिक को उसके दैनिक वेतन की लगभग आधी रकम की दर पर नकद लाभ दिया जाता है।

(ii) स्थाई रूप से पूर्ण अङ्गहानि होने पर श्रमिक को उस के जीवन काल में वही दैनिक वेतन की लगभग आधी रकम की दर पर एक प्रकार की पेंशन दी जाती है

(iii) स्थाई रूप से आंशिक अङ्गहानि की दशा में श्रमिक को उसके पूरे जीवन काल में उसके दैनिक वेतन की आधी रकम का वह भाग दैनिक नकद लाभ के रूप में दिया जाता है, जो कि श्रमिक उस अङ्गहानि के फलस्वरूप कमाने में असमर्थ हो गया है।

(iv) आश्रितों के लाभ (Dependents' Benefits):—यदि काम करते समय चोट आने से श्रमिक की मृत्यु हो जाती है तो उसके आश्रितों को एक निर्दिष्ट अवधि तक मरने वाले श्रमिक की दैनिक वेतन की आधी रकम की दर पर कुल नकद लाभ दिया जाता है।

(v) चिकित्सा लाभ (Medical Benefit) —आगोपित श्रमिक को बीमारी, अङ्गहानि अथवा प्रसूती की दशा में निगम द्वारा मुफ्त में चिकित्सा की सुविधा प्राप्त करने का भी अधिकार है। निगम द्वारा यह सुविधा आगोपित श्रमिक के परिवार के अन्य सदस्यों को भी दी जा सकती है।

योजना का कार्यकरण:—'कर्मचारी-राज्य बीमा निगम' का ६ अक्तूबर, १९४८ में उद्घाटन हुआ था परन्तु योजना का श्री गणेश २४ फरवरी, १९५२ से पहले न हो सका। तब भी इसे सारे भारत में लागू नहीं किया गया। उस दिन, प्रयोग के रूप में, इसे पहले कानपुर और दिल्ली में आरम्भ किया गया। बाद में इसे धीरे-धीरे अन्य राज्यों में अन्य केन्द्रों में भी बढ़ाया गया है। इस समय यह योजना कानपुर, दिल्ली, पंजाब के ७ नगर, नागपुर, बृहत्तर बम्बई, मध्यभारत में ४ नगर, कोयम्बुत्तर, हैदराबाद और सिकन्दराबाद, कलकत्ता, हावड़ा, आन्ध्र में ७ नगर, मद्रास, उत्तर प्रदेश में कानपुर के अतिरिक्त ६ और नगर और केरल में ५ नगरों में प्रचलित है, और लगभग १० लाख श्रमिक इसके अन्तर्गत आते हैं। १९५५-५६ के अन्त में श्रमिकों का कुल अंशदान २.३७ करोड़ रु० और मालिकों का अंशदान २.२१ करोड़ रु० था। आगोपित श्रमिकों को नकद लाभ के रूप में कुल १.१५ करोड़ रु० दिये गये थे, जिसमें से ९३.१५ लाख रु० केवल बीमारी लाभ के रूप में दिये गये थे।

जुलती हैं। अधिनियम के अन्तर्गत बनाई गई योजना को पहले ६ मुख्य उद्योगो, नामशः सीमेंट, सिगरेट, इन्जीनियरी (इलेक्ट्रिकल, मकेनिकल और सामान्य), लोहा व इस्पात, कागज और वस्त्र उद्योग मे लागू किया गया था। बाद मे योजना का अन्य उद्योगो तक भी विस्तार कर दिया गया। अब यह योजना ३० से भी अधिक उद्योगो मे (जिनमे कोयला खानों को छोड़कर अन्य खाने तथा उद्यान भी शामिल हैं) ६ हजार से, भी अधिक सस्थानों मे लगभग २८ लाख श्रमिको पर लागू होती है। कोष मे कुल [redacted] प्रदान लगभग १०० करोड़ रु० के होंगे।

छटनी सम्बन्धी लाभ (Retrenchment and Lay-off Benefits)—

१९५३ के अन्त मे श्रमिको को एक सीमित प्रकार का बेकारी लाभ देने की भी व्यवस्था की गई है। यह व्यवस्था दिसम्बर, १९५३ मे औद्योगिक झगड़े (संशोधन) अधिनियम पास करके की गई है। संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत छटनी किये गये। श्रमिको को क्षतिपूर्ति दिये जाने की व्यवस्था की गई है। यह अधिनियम उन सभी बारहमासी कारखानो, खानों और उद्यानों पर लागू होता है, जहा ५० अथवा अधिक श्रमिक कार्य करते है। जो श्रमिक निरन्तर एक वर्ष या अधिक समय से काम पर लगा हुआ है, उसे एक महीने पहले लिखित मे सूचना दिये बिना अथवा बदले मे एक महीने का वेतन दिये बिना, और साथ ही नौकरी खोने की क्षतिपूर्ति दिये बिना, उसकी छटनी नही की जा सकती। इस क्षतिपूर्ति की रकम सेवा के प्रत्येक पूरे वर्ष अथवा ६ महीने से अधिक इसके किसी भी भाग के लिये १५ दिन के औसत वेतन की दर पर दीजाती है। इसी प्रकार अधिनियम मे श्रमिक को कुछ समय केलिये कामपर से हटाने (Lay-off) की दशामेभी उनको क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था कीगई है। यदि श्रमिककम से कम एक वर्ष से काम पर निरन्तर लगा हुआ है, तो उसे मालिक से काम पर से हटाने (Lay-off) की अवधि के लिये उसके आधारभूत वेतन तथा महगाई भत्ता की कुल रकम के ५०%के बराबर की दरपर क्षतिपूर्ति मिलती है। १२ मासकी अवधि मेअधिक से अधिक ४५ दिन तक यह क्षतिपूर्ति अथवा लाभ मिल सकता है। परन्तु यदि उसी १२मास की अवधि मे श्रमिक को फिर लगातार एक सप्ताह से अधिक के लिये (Lay-off) जाता है तो उसे ४५ दिन से अधिक दिनो के लिये भी यह लाभ मिल सकता है।

उपसहार—

ऊपर के अध्ययन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत ने सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे साधारण सा आरम्भ किया है। इस समय प्रचलित विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत लाखो श्रमिको को एक सीमित मात्रा में सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। परन्तु फिर भी करोडो की सख्या मे ऐसे श्रमिक (जैसे भूमिहीन कृषि श्रमिक और घरेलू कार्यों तथा छोटे उद्योगो मे काम करने वाले श्रमिक आदि) है, जिन्हे किसी भी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा प्राप्त नही है। फिर जिन्हे कुछ सामाजिक सुरक्षा प्राप्त भी है वह उसी प्रकार से सर्वांगीण नहीं

है, जिस प्रकार से कि यह इंगलैण्ड मे सारी जनता को गर्भ से मरण तक और मृत्यु के पश्चात् मृत व्यक्ति के आश्रितो को उपलब्ध है। इंगलैंड की दशा को देखते हुये, तो अभी हमे इस दिशा मे बहुत फासला तै करना है। भारत अभी एक निर्धन देश है। अत. यहा की जनता को जितनी अधिक मात्रा मे सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता है, देश के वर्तमान साधनो द्वारा उतनी ही कम मात्रा मे व्यवस्था की जा सकती है। इसीलिये अभी तक एक सीमित मात्रा मे ही इसकी व्यवस्था की जा सकी है। परन्तु हम देश मे समाजवादी ढग के समाज की स्थापना का उद्देश्य अपना चुके हैं, और नियोजित ढग से देश का द्रुत आर्थिक विकास करने मे प्रयत्नशील है। ऐसी दशा मे आवश्यक है कि देश की अधिक से अधिक जनता के लिये सामाजिक सुरक्षा की यथासभव व्यवस्था की जाय। सामाजिक बीमे के अतिरिक्त सरकार भी सामाजिक सहायता की एक व्यापक योजना को चलाये।

भारत मे औद्योगिम सम्बन्ध
(Industrial Relations in India)

औद्योगिक सम्बन्धो से हमारा अभिप्राय यहा श्रम और पूंजी के बीच आपसी सम्बन्धो से है। पहले जब उत्पत्ति छोटे पैमाने पर होती थी, तब कारीगर स्वतन्त्र उत्पादक हुआ करता था, और उत्पादन-साधनो का वह स्वय ही स्वामी हुआ करता था। परन्तु जब से बडे-बडे कारखानो मे बडे स्तर पर उत्पादन होने लगा है, तब से दशा बदल गई है। उत्पादन के भौतिक साधनो का स्वामित्व कुछ एक बडे-बडे पूंजीपतियो के हाथो मे केन्द्रित हो गया है, और काम करने वाले श्रमिक, इन पूंजीपति मालिको की दया पर आश्रित भाडे के मजदूर हो गये है। ये पूंजीपति-मालिक अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर बहुधा मजदूरो का विभिन्न प्रकार से शोषण करते है। इससे मजदूरो मे अशान्ति (Unrest) उत्पन्न होती है, और वे अपने कष्टो का निवारण करने के लिये हडताल, आदि करते है। कभी-कभी मजदूरो व मिल-मालिको मे झगडा होने पर मिल-मालिक ही मजदूरो से अपनी बात मनवाने के लिये तालाबन्दी (Lock-out) कर देते है अर्थात् कारखाने को कुछ समय के लिये चलाना बन्द कर देते है। दोनो ही दशाओ मे देश मे धन के उत्पादन मे कमी होती है, और मजदूरो तथा मिल मालिको को हानि होती है। अत: देश मे धन के उत्पादन को ऊंचे स्तर पर बनाये रखने के लिये और अधिक उत्पादन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये औद्योगिक शान्ति (Industrial Peace) को बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। औद्योगिक शान्ति का अर्थ केवल हडतालो और तालाबन्दी से बचाव हो नही है, वरन् ऐसे वातावरण से है जिसमे मजदूर तथा मिल-मालिक सहयोग तथा शुभेच्छा की भावना से कार्य करते है। इसके लिये आवश्यक है कि मिल-मालिक मजदूरों को भाडे की वस्तुये न समझकर 'उद्योग मे बराबर के हिस्सेदार' ('Equal Partners in Industry') समझे। उनका उद्देश्य मजदूरों

को कम से कम देकर अधिक से अधिक काम लेकर उनका अत्याधिक शोषण करना न होकर, उन्हें 'उचित व्यवहार' ('Fair Deal') देना होना चाहिये। मजदूरो का विश्वास तथा सहयोग जीतने के लिये उन्हे प्रबन्ध मे हिस्सा दिया जाना चाहिये। उधर मजदूरो को चाहिये कि वे भी अपने अधिकारो के साथ साथ अपने कर्तव्यो तथा दायित्वो को भली प्रकार समझे। दोनो ओर से ऐसा होने पर ही देश मे औद्योगिक शान्ति रह सकती है और सही अर्थों मे औद्योगिक प्रजातन्त्रवाद की स्थापना हो सकती है। ऐसी दशा मे भी यह सम्भव है कि मजदूरो और उनके नियोजको मे किसी न किसी बात पर मतभेद हो। परन्तु इस नई दशा मे एक तो ऐसे मतभेद अपेक्षाकृत कम होगे, और दूसरे इनको आपसी बात-चीत व समझौते द्वारा निबटा लिया जायेगा, हड़ताल व तालेबन्दी के द्वारा एक दूसरे की शक्ति को आजमाने की नौबत बहुत कम आयेगी। नीचे हम भारत मे औद्योगिक झगडो के कारण, संक्षिप्त इतिहास और इन झगड़ो को निबटाने व औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिये जो व्यवस्था है, उसका सक्षेप मे अध्ययन करेगे।

औद्योगिक झगड़ों के कारण

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, औद्योगिक झगडो का मुख्य कारण श्रम और उत्पादन साधनो के स्वामित्व का विच्छेद तथा ऐसी दशा मे पूंजीपति मालिक द्वारा मजदूरो का शोषण करने की प्रवृत्ति और मजदूरो द्वारा अपनी रक्षा करने का प्रयत्न है। अधिक विस्तार मे देखा जाय तो औद्योगिक झगडो के कई कारण हो सकते है, जैसे कि मजदूरी, बोनस, महगाई, भत्ता, काम के घटे, छुट्टिया, काम की दशायें, किसी मजदूर को अनुचित रूप से नौकरी से हटा देना और उसे पुन. काम पर लगाने की माग, सुयुक्तिकरण (Rationalisation) अथवा अन्य कारणो से कुछ मजदूरो की छटनी, नियोजक द्वारा मजदूर सघ को मान्यता न देना आदि। ऊपर लिखे इन सब कारणो को आर्थिक कारण कहा जा सकता है। भारत मे अधिकांश औद्योगिक झगडे इन्ही मे से किसी न किसी कारण से होते रहे हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जब देश मे बहुत अधिक असन्तोष था, तब इसका मुख्य कारण यह था कि वस्तुओ के मूल्य व रहन-सहन की लागत बहुत बढ़ गई थी, जब कि मजदूरियाँ बहुत कम बढी थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न कारणों से मजदूर अपने रहने व काम करने की बुरी दशाओ, काम के लम्बे घन्टों व रोजगार से सम्बन्धित अपने अन्य कष्टो के प्रति काफी जागरूक हो गये थे। १९२२ के पश्चात् दशा कुछ सुधरी। परन्तु १९२८ के पश्चात् दशा फिर खराब हो गई, जब आर्थिक मन्दी के कारण मजदूरो की छटनी हुई और उनकी मजदूरियां कम कर दी गई, जिससे देश मे बहुत सी हडतालें हुई। पुन. द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ से रहन-सहन की लागत के बढने के कारण मजदूरो ने मजदूरी व बोनस में वृद्धि तथा महगाई भत्ते की माग की। नियोजको ने इस माग को दबाने का प्रयत्न किया, जिससे हड़तालें हुईं। १९४६, १९४७ के दो वर्षों मे तो इन्ही कारणो

(१९१९), देश मे राजनीतिक जाग्रति, प्रजातन्त्रवादी विचारों का प्रसार, आदि विभिन्न तत्वो ने मिलकर मजदूरो मे अपनी बुरी दशा तथा उसमें सुधार के प्रति सामान्य जाग्रति उत्पन्न की और तब से देश मे मजदूरो व मालिको के बीच 'शक्ति की परीक्षा' (Trial of Strength) का युग प्रारम्भ हुआ । १९१८–१९२१ के बीच देश मे बहुत अधिक औद्योगिक अशान्ति रही और बडी संख्या मे हड़तालें तथा तालाबन्दियां हुई । १९२१ मे देश में कुल ३९६ कार्य-रोध (Stoppages of work) हुए, जिनमें लगभग ६ लाख मजदूर ग्रस्त थे और जिनमें लगभग ६९·८ लाख मनुष्य दिन नष्ट हुए ।

भारत मे औद्योगिक झगडो के सरकारी आंकड़े १९२१ से ही उपलब्ध हैं । नीचे की सारिणी मे तब से बाद के कुछ वर्षों के ये आंकड़े दिये गए है ।

सारणी*

कार्य-रोध (Stoppages of work)—(1921–1956)

वर्ष	कार्य-रोधो की संख्या	कार्य-रोधों मे ग्रस्त श्रमिकों की संख्या (लाखों में)	नष्ट मनुष्य दिनों† की संख्या (लाखों में)
१९२१	३९६	६·०	६९·८
१९२२	२७८	४·४	३९·७
१९२८	२०३	५·१	३१६·५
१९२९	१४१	५·३	१२१·६
१९३७	३७९	६·५	८९·८
१९३८	३९९	४·०	९१·९
१९३९	४०६	४·१	४९·९
१९४६	१,६२९	१९·६	१२७·२
१९४७	?,८११	१८·४	१६५·६
१९४८	१,२५९	१०·६	७८·४
१९५०	८१४	७·२	१२८·१
१९५४	८४०	४·८	३३·७
१९५६	१,२०३	७·२	६९·९

*Source: V. V Giri, Labour Problems in Indian Industry, p. 76, 78 & 82, & India 1258, p. 414.

† नष्ट मनुष्य-दिन=मनुष्य (मजदूर) जो काम पर नहीं आये × जितने दिन वे काम पर नहीं आये । दूसरे शब्दो मे, यदि ३,००० मजदूर ५ दिन काम पर नहीं आये तो नष्ट मनुष्य दिन=३००० × ५=१५,००० ।

१९२५ के वर्ष को छोड़कर, जिसमें कि लगभग १२५·८ लाख मनुष्य-दिन नष्ट हुए, १९२२ से १९२७ तक के काल में अपेक्षाकृत कम औद्योगिक झगड़े हुए और कम मनुष्य-दिन नष्ट हुये। यह मुख्यतः इसलिये हुआ क्योंकि इस काल में वस्तुओं के मूल्य गिरने से रहन-सहन की लागत काफी कम हो गई थी।

१९२८ व १९२९ के दो वर्षों में देश में फिर बहुत अधिक अशान्ति रही। दोनों वर्षों में बम्बई की सूती मिलों में दो बहुत बड़ी हड़तालें हुई। बंगाल की जूट मिलों में, लोहा और इस्पात वर्क्स, जमशेदपुर में तथा कई एक रेलों में भी कई एक हड़तालें हुईं। अकेले सन् १९२८ में ३१६.७ लाख मनुष्य-दिन नष्ट हुये, जब कि १९२१ में भी केवल ६९.८ लाख मनुष्य दिन ही नष्ट हुये थे। इन वर्षों की इतनी अधिक औद्योगिक अशान्ति का एक मुख्य कारण यह था कि आर्थिक मन्दी के प्रारम्भ होने व विदेशी प्रतियोगिता के बढ़ने से मिल-मालिकों ने कारखानों में युक्तिकरण (Rationalisation), उत्पादन को कम करना छटनी (Retrenchment) व मजदूरी को कम करने की नीति अपनाई थी। मजदूरों ने इसका विरोध किया, और फलस्वरूप झगड़े बढ़े। इन झगड़ों के बढ़ने का एक और कारण यह था कि तब तक मजदूर संघ आन्दोलन भी कुछ शक्ति प्राप्त कर चुका था और आन्दोलन में साम्यवादी प्रभुत्व में आ रहे थे। मुख्यतः १९२८ व १९२९ की इन हड़तालों के परिणामस्वरूप ही सरकार ने औद्योगिक झगड़े अधिनियम, १९२९ पास किया, और उसी वर्ष में शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) की नियुक्ति हुई।

१९३० से १९३७ तक का काल अपेक्षाकृत औद्योगिक शान्ति का काल था, यद्यपि इस काल में भी कुछ अल्पजीवी हड़तालें हुई थीं। इस शान्ति का एक मुख्य कारण सम्भवतः यह था कि इस काल में देश आर्थिक मन्दी में से गुजर रहा था।

१९३७ के पश्चात् से देश में फिर से औद्योगिक झगड़ों की संख्या बढ़ी। देश में १९३५ में हुए राजनीतिक सुधारों के फलस्वरूप मजदूर यह आशा करने लगे थे कि अब शीघ्र ही उनकी दशा सुधरेगी। परन्तु १९३७ में प्रान्तों में कांग्रेस सरकारों के बनने से भी तत्काल कुछ नहीं हुआ। इससे मजदूरों को क्षोभ हुआ और हड़तालों की संख्या बढ़ी।

१९३९ में दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। वस्तुओं के मूल्य और रहन-सहन की लागत तेजी से बढ़ने लगे। अतः मजदूरों को भी अपनी मजदूरी बढ़वाने और महंगाई, भत्ता आदि लेने के लिए हड़तालों का आश्रय लेना पड़ा। तथापि, सरकार द्वारा भारत की सुरक्षा नियम के सख्ती से लागू करने पर उतनी हड़तालें नहीं हुई, जितनी कि अन्यथा होती।

१९४६ व १९४७ में जितने औद्योगिक झगड़े हुये और जितने मनुष्य-दिन नष्ट हुये न तो किसी एक वर्ष में अभी तक उतने झगड़े कभी देश में हुये और न ही उतने मनुष्य-दिन नष्ट हुए। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भी स्फीति और मूल्यों

तथा रहन-सहन की लागत में वृद्धि चलती रही। उधर भारत की सुरक्षा नियम के अन्तर्गत सितम्बर, १९४६ में समाप्त कर दिये गये। १५ अगस्त, १९४७ को देश स्वतन्त्र हो गया। इससे मजदूरों ने अपनी दशा को शीघ्र सुधरवाने के लिये सरकार पर दबाव डालना आवश्यक समझा। कांग्रेस विरोधी राजनीतिक दलों ने मजदूरों के इस असन्तोष से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। इन सब कारणों से १९४६ व १९४७ के इन दो वर्षों में औद्योगिक अशान्ति अत्यधिक बढ़ गई थी। वैसे तो यह अशान्ति सभी उद्योगों व राज्यों में सामान्य थी, तथापि सबसे अधिक झगड़े सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्र के उद्योगों में हुए। डाक व तार विभाग, इन्जीनियरिंग उद्योग, पटसन उद्योग व रेलों में भी झगड़े हुये। झगड़ों का मुख्य कारण मजदूरी व बोनस थे।

राष्ट्रीय सरकार इस अत्यधिक औद्योगिक अशान्ति से बहुत चिन्तित हुई। उत्पादन को बढ़ाने के लिए औद्योगिक शान्ति का होना अत्यावश्यक था। अतः दिसम्बर, १९४७ में सरकार ने मजदूरों, नियोजकों व सरकार के प्रतिनिधियों का एक त्रिदलीय (Tripartite) औद्योगिक सम्मेलन बुलाया जिसमें 'औद्योगिक सन्धि संकल्प' (*Industrial Truce Resolution*) अपनाया गया। संकल्प में मजदूरों व नियोजकों से तीन वर्षों के लिए औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिये कहा गया और साथ ही इसके लिए विभिन्न उपायों की भी सिफारिश की गई। सरकार ने इन सिफारिशों को कार्य रूप दिया। मजदूरों को उचित मजदूरी, पूंजी का उचित प्रतिफल और लाभों में श्रमिक को हिस्सा के प्रश्नों की जांच करने के लिए समितियाँ नियुक्त की गईं। औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धी सभी मामलों में श्रम का भी सहयोग प्राप्त करने के लिये पग उठाये गये, और श्रमिकों की वास-व्यवस्था को सुधारने के लिये एक योजना भी बनाई गई। मार्च, १९४७ में औद्योगिक झगड़े अधिनियम पास किया जा चुका था, जिसके अन्तर्गत समझौते व अधिनिर्णय के द्वारा झगड़ों का निपटारा करने के तन्त्र की व्यवस्था की गई थी। अधिनियम के अन्तर्गत नियुक्त न्यायाधिकरण (Tribunals) के निर्णयों (Awards) के फलस्वरूप लगभग सभी मुख्य उद्योगों में मजदूरी की दरें निश्चित की गईं और उनके स्तर को बढ़ाया गया। इन सब पगों के फलस्वरूप आगामी दो वर्षों में झगड़ों व नष्ट मनुष्य-दिनों की संख्या दोनों में कमी हुई। परन्तु १९५० में दशा अपेक्षाकृत खराब रही। यद्यपि झगड़ों की संख्या १९४९ में हुये झगड़ों से कम ही थी, तथापि, नष्ट मनुष्य-दिनों की संख्या १९४९ की तुलना में लगभग दुगुनी थी। १९५० में लगभग १२८ लाख मनुष्य-दिन नष्ट हुये, जबकि १९४९ में केवल ६६ लाख मनुष्य-दिन नष्ट हुये थे। तत्पश्चात् प्रति वर्ष नष्ट मनुष्य-दिनों की संख्या अपेक्षाकृत काफी कम रही है। १९५४ तक यह ३३–३४ लाख के आस-पास थी।

औद्योगिक सन्धि संकल्प (दिसम्बर, १९४७) के अपनाये जाने से पूर्व मजदूरों की अधिकांश मांगें मजदूरी व बोनस से सम्बन्धित हुआ करती थीं। इसके पश्चात्

से इस प्रकार की मांगें काफी कम हो गई हैं, और कर्मचारियों (Personnel) व अन्य दानों से सम्बन्धित मांगें बढ़ गई हैं।

१९३९ से १९५४ तक जितने झगड़े हुए उनमें से केवल १८% ही सफल हुये, लगभग इतने (१८%) ही आंशिक रूप से सफल हुए, और शेष असफल या अनिश्चित रहे। इससे स्पष्ट है कि भारत में पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से सफल झगड़ों की प्रतिशत काफी नीची है।

भारत में औद्योगिक झगड़ों से सम्बन्धी विधान—

भारत में १९२९ से पहले औद्योगिक झगड़ों को रोकने व उनका निपटारा करने के लिये कोई कानूनी व्यवस्था व मशीनरी नहीं थी। इससे पहले कुछ औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिये केवल १८६० का 'नियोजक तथा मजदूर (झगड़े) अधिनियम' (Workers & Workmen Disputes Act) था। परन्तु एक तो इस अधिनियम का क्षेत्र बहुत सीमित था, दूसरे, यह सम्भवतः कभी भी प्रयोग में नहीं लाया गया था। (यह अन्ततः १९३२ में रद्द ही कर दिया गया था।) अतः १९२८–२९ में जब देश में हड़तालों की एक बाढ़ सी आई, तो सरकार ने १९२९ में 'व्यापारिक झगड़े अधिनियम', १९२९ पास किया।

'व्यापारिक झगड़े अधिनियम', १९२९ (Trade Disputes Act 1929)–किसी झगड़े का निपटारा करने के लिये उपयुक्त केन्द्रीय प्रान्तीय अथवा रेल अधिकारी द्वारा 'जांच कचहरियों' ('Courts of Enquiry') अथवा 'समझौता मण्डलों' ('Boards of Conciliation') की स्थापना की व्यवस्था की। जांच-कचहरी का कार्य इसको सौंपे गये मामले की जांच करना और इस पर अपनी रिपोर्ट देना था। समझौता मण्डल का कार्य, झगड़े के विभिन्न पहलुओं की जांच करके उसका निपटारा करने का प्रयत्न करना था। यदि मण्डल इसमें असफल रहे तो इसे नियुक्त करने वाले अधिकारी को पूरी रिपोर्ट देनी थी। इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई थी कि सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (Public Utility Services), जैसे कि रेलें, डाक, तार अथवा टेलीफोन, रोशनी तथा पानी की पूर्ति, अथवा सफाई आदि में हड़ताल अथवा तालाबन्दी की घोषणा करने से पहले १४ दिन का नोटिस देना आवश्यक था। ऐसा न करने पर अपराधियों को सजा दी जा सकती थी। अधिनियम ने अवैध हड़तालें और तालाबन्दियां उन्हें माना जिनका उद्योग में ही व्यापारिक झगड़े के बढ़ाने को छोड़कर कोई अन्य उद्देश्य था अथवा जो समुदाय को भारी कष्ट देती थीं। अधिनियम द्वारा सहानुभूतिक (Sympathetic) हड़तालों को भी अवैध करार दिया गया था।

प्रान्तीय स्वायत्तशासन (Provincial Autonomy) से पूर्व न ही तो केन्द्रीय सरकार ने और न राज्य सरकारों ने ही इस अधिनियम का उचित उपयोग किया।

इस अधिनियम के कई एक दोष थे। एक गम्भीर दोष यह था कि अधिनियम

के अन्तर्गत झगडो के निबटारे के लिए केवल (Ad hoc) बाहरी मशीनरी की स्थापना की ही व्यवस्था की गई थी। इसमे झगडे की प्रारम्भिक अवस्था मे ही आपसी बातचीत के द्वारा झगडे को रोकने व उसका निबटारा करने के लिए किसी आन्तरिक तथा स्थाई मशीनरी की स्थापना की व्यवस्था नही की गई थी। दूसरा दोष यह था कि इसके द्वारा समुदाय को भारी कष्ट पहुचाने के बहाने किसी भी बडे औद्योगिक झगड़े को अवैध करार दिया जा सकता था। फिर, सहानुभूतिक हडताल की मनाही भी आलोचना का विषय थी। १६३१ मे प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे शाही श्रम आयोग (Royal Conmmission on Labour) ने इन दोषों को बताते हुये झगडो को निबटाने के लिये स्थाई परिनियत (Statutory) मशीनरी की स्थापना की तथा झगडे की प्रारम्भिक अवस्था मे आपसी बातचीत द्वारा समझौता करवाने के लिए 'समझौता-अफसरो' की नियुक्ति की तथा श्रम-अधिकारियो (Labour Officers)की नियुक्ति की सिफारिश की। परन्तु लम्बी अवधि तक इन सिफारिशो को कोई व्यवहारिक रूप नही दिया गया। ७ वर्ष के पश्चात् १६३८ मे व्यापारिक झगडे अधिनियम, १६२६ मे संशोधन किया गया, जिसमे केवल 'समझौता-अधिकारियो' ('Conciliation Officers') की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। झगड़ो का निबटारा करने के लिए किसी स्थाई मशीनरी का अभाव फिर भी बना रहा।

बम्बई सरकार ने इस क्षेत्र मे १६३४ व १६३८ मे अपने क्षेत्र के लिए अलग से अधिनियम पास किये। १६३४ के अधिनियम मे मजदूरो के हितो की देख-भाल करने के लिये 'श्रम-अधिकारियो' की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। १६३८ का अधिनियम इससे कही आगे गया। इस के द्वारा पहली बार 'अनिवार्य-समझौते' के सिद्धात को अपनाया गया। इसने न केवल अधिनिर्णायको (Adjudicators) तथा समझौता-अधिकारियो की नियुक्ति की व्यवस्था की वरन् पहली बार 'औद्योगिक न्यायालय' ('Industrial Court') के रूप मे औद्योगिक झगड़ो के निबटाने के लिये स्थाई तन्त्र की स्थापना की व्यवस्था की। तथापि, अभी भी झगड़े समाप्त करने के आन्तरिक तन्त्र के स्थान पर बाहरी तन्त्र पर ही जोर रहा। बाद मे इसके स्थान पर बम्बई औद्योगिक सम्बन्ध अधिनियम, १६४६ के रूप मे एक अधिक व्यापक अधिनियम पास किया गया।

भारत रक्षा नियम (Defence of India Rules)—द्वितीय विश्व युद्ध काल मे तत्कालीन कठिनाई की दशा का सामना करने व उत्पादन को बनाये रखने के लिये सरकार ने भारत रक्षा नियम के ८१ अ– नियम के रूप मे कुछ बड़े सख्त कदम उठाये। इस नियम के अन्तर्गत औद्योगिक झगडो को अनिवार्य रूप से समझौते अथवा अधिनिर्णय के लिये भेजा जा सकता था, अधिनिर्णायको का निर्णय दोनों दलो पर कानूनी रूप से लागू कर दिया गया, समझौते अथवा विवाचन (Arbitration) के काल मे तथा इसके दो मास बाद तक हड़तालो और ताला-

बन्दियो की मनाही कर दी गई, और साथ ही ऐसी सब हड़तालो को, जोकि यथार्थ व्यापारिक झगडो के कारण उत्पन्न नही हुई थी, भी मनाही कर दी गई।

ये युद्ध कालीन नियम ३० सितम्बर, १६४६ तक लागू रहे। १६४६ व १६४७ की युद्धोत्तर परिस्थितियो मे देश मे हडतालो की एक बाढ सी आई। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक झगडे अधिनियम १६४७ पास किया, जिसने १ अप्रैल, १६४७ से १६२६ के व्यापारिक झगड़े अधिनियम का स्थान ग्रहण किया। इस समय औद्योगिक झगडो को रोकने व उन का निबटारा करने के लिये यही अधिनियम (इसमे आवश्यकतानुसार समय-समय पर किये गये कुछ सशोधन सहित) देश मे लागू है।

औद्योगिक झगड़े अधिनियम, १६४७—

तन्त्रों के प्रकार (Types of Machinery)—औद्योगिक झगडे अधिनियम, १६४७ के अन्तर्गत दो प्रकार के तन्त्रो की व्यवस्था की गई है—(अ) एक तो झगडो को रोकने के लिए 'कारखाना समितियो' ('Works Committees') के रूप मे आन्तरिक तन्त्र की ओर (आ) दूसरे, जब कभी झगडे उत्पन्न हो जायें, तो उनके निबटारे के लिए बाह्य तन्त्र की। इस दूसरे प्रकार के तन्त्र मे (१) स्थाई समझौता अधिकारी, (२) समझौता मण्डल, (३) जाच-न्यायालय, और (४) औद्योगिक ट्रिब्यूनल शामिल है।

कारखाना समितियाँ (Works Committees)—अधिनियम के अन्तर्गत उपयुक्त सरकार को इस बात का अधिकार दिया गया है कि वह १०० अथवा अधिक मजदूरो से काम लेने वाले प्रत्येक औद्योगिक सस्थान मे कारखाना समिति बनवाये। एक कारखाना समिति मे समान सख्या मे नियोजको तथा मजदूरो के प्रतिनिधि होते है। ऐसी समिति का कार्य "नियोजको तथा मजदूरो मे एकता तथा अच्छे संबंध को प्राप्त करने तथा बनाये रखने के लिये पदो का उठाना तथा इस उद्देश्य से साझे हित के मामलों पर अपना मत प्रकट करना और इन मामलो के विषय मे किसी प्रकार के भिन्न-मत को समाप्त करने का प्रयत्न करना है। तद्नुसार विभिन्न उद्योगो मे कारखाना समितिया स्थापित की गई है। १६५६ मे इनकी सख्या लगभग २२००थी*।"

तथापि, कुछ एक समितियो को छोडकर, शेष समितिया अपने उद्देश्य मे सफल नही हुई है। नियोजक, मजदूर और मजदूर सघ अभी भी इन समितियो को शक की दृष्टि से देखते है। प्रत्येक वर्ग यह सोचता है कि यह समिति उनके अधिकारो व कार्यों को हड़प लेगी। मजदूर संघ इसे अपनी प्रतिस्पर्धा सस्था समझता है, और नियोजक भी इसे मजदूर सघ की स्थानापन्न संस्था समझता है। तथापि, इन समितियो की स्थापना ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जब तक नियोजको और मजदूरो दोनो के दिलो तथा दृष्टिकोण मे परिवर्तन नही आता

---

*The Publication Division : Labour in India (pub. Nov. 1957) P. 39.

और वे एक दूसरे को उद्योग मे बराबर के हिस्सेदार नही समझते तब तक ऊपर से लादा गया आपसी परामर्श का कोई भी तन्त्र विशेष सहायक नहीं होगा।

कल्याण अधिकारी (Welfare Officers)—औद्योगिक झगड़ो को रोकने के लिये तथा मजदूरों की शिकायतो के आन्तरिक निवारण के लिए एक और तन्त्र कल्याण अधिकारी हो सकते हैं। भारत मे फैक्ट्री अधिनियम, १९४८ के अन्तर्गत ऐसे प्रत्येक कारखाने मे जहा कि ५०० अथवा अधिक मजदूर काम करते हो, कल्याण अधिकारी की स्थापना अनिवार्य कर दी गई है। यद्यपि, ये कल्याण अधिकारी भी अपने कार्यों मे विशेष सफल तथा प्रभावपूर्ण नही हुए हैं, तथापि, जहा कहीं इन्हे स्वेच्छा से नियुक्त किया गया है, वहा ये काफी प्रभावपूर्ण रहे हैं, और वहा औद्योगिक सम्बन्धो मे काफी सुधार हुआ है।

मजदूर संघ—प्रजातन्त्रवादी ढग से चलाया जाने वाला एक स्वस्थ तथा सशक्त मजदूर संघ और नियोजको द्वारा ऐसे मजदूर संघ की आवश्यकता को स्वेच्छा से मानना औद्योगिक झगडो को रोकने व उनका निपटारा करने के आन्तरिक तन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्त है। इसके बिना कितना भी बाहरी दबाव अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध उत्पन्न करने व बनाये रखने मे सफल नहीं हो सकता।

औद्योगिक झगड़ों का निबटारा (Settlement of Industrial Disputes)—

औद्योगिक झगडे अधिनियम, १९४७ उपयुक्त (Appropriate) सरकार को किसी विशिष्ट क्षेत्र मे किसी विशिष्ट उद्योग मे अथवा उद्योगो मे झगडे का निबटारा करने के लिये समझौता अधिकारी, समझौता मण्डल, जांच न्यायालय अथवा औद्योगिक ट्रिब्यूनल नियुक्त करने का अधिकार देता है।

समझौता अधिकारी (Conciliation Officers)—जब कभी कोई झगडा उत्पन्न होता है, अथवा इसके उत्पन्न होने का भय होता है, तो सबसे पहले झगडा एक समझौता अधिकारी के सुपुर्द किया जाता है। उसे १४ दिन के भीतर अपनी रिपोर्ट सरकार को देनी होती है। यदि कोई समझौता हो जाता है तो दोनो दल इस पर हस्ताक्षर कर देते हैं, और वह समझौता दोनो दलो को अनिवार्यतः मानना होता है। यदि कोई समझौता नही होता, तो समझौता अधिकारी को अपने प्रयत्नो की पूरी रिपोर्ट सरकार को देनी होती है। तत्पश्चात् सरकार झगडे को समझौता मण्डल अथवा औद्योगिक ट्रिब्यूनल को सुपुर्द कर सकती है।

समझौता मण्डल (Board of Conciliation)—समझौता मण्डल मे एक स्वतन्त्र प्रधान (Chairman) तथा दोनो दलो के समान संख्या मे दो अथवा अधिक प्रतिनिधि होते हैं। मण्डल को दो महीने के भीतर समझौते के अपने प्रयत्न समाप्त करने होते हैं। यदि इसे सफलता मिलती है तो समझौता छः महीने के लिए अथवा दोनो के मानने पर अधिक काल के लिए लागू रहता है। यदि असफलता होती है, तो मण्डल भी अपनी पूरी रिपोर्ट सरकार को देता है।

जांच न्यायालय (Court of Enquiry)—इस असफलता के पश्चात

सरकार मामला जांच न्यायालय को सौंप सकती है। इस न्यायालय को केवल झगड़े के बारे में आवश्यक तथ्य एकत्र करने होते हैं और सामान्यतः छः महीने के भीतर अपनी रिपोर्ट सरकार को दे देनी होती है।

औद्योगिक ट्रिब्यूनल (Industrial Tribunals)—अन्त में उपयुक्त सरकार झगड़े पर अपना निर्णय देने के लिए मामला औद्योगिक ट्रिब्यूनल को सौंप सकती है। ऐसा तब होता है जब या तो झगड़े के दोनो दल इस बात के लिए सरकार से प्रार्थना करते हैं या स्वयं उपयुक्त सरकार ही ऐसा करना लाभदायक समझती है। ट्रिब्यूनल का निर्णय दोनो दलो को मनाना होता है। तथापि, सरकार को ३० दिनो के भीतर-भीतर इस निर्णय को अस्वीकार करने का अथवा इस में संशोधन करने का अधिकार होता है।*

अधिनियम की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके अनुसार सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (Public Utility Service) के सभी झगड़े सरकार को अनिवार्य रूप से समझौते (Conciliation) के लिये भेजने पड़ते हैं, जब कि अन्य मामलो मे ऐसा करना सरकार की मर्जी पर निर्भर है। अधिनियम सरकार को कुछ सेवाओं को सार्वजनिक उपयोगिता की सेवायें घोषित करने का अधिकार देता है। इन सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं मे ऐसी कोई भी हड़ताल अथवा तालाबन्दी अवैध है, जो छः सप्ताह की पूर्व सूचना दिये बिना अथवा इस सूचना की समाप्ति के १४ दिनो के भीतर अथवा समझौते के प्रयत्नो के बीच मे ही अथवा इन प्रयत्नो की समाप्ति के ७ दिनो के भीतर की जाती है। अन्य उद्योगो मे भी वे सब हड़तालें व तालाबन्दियां अवैध है, जो समझौते के प्रयत्नो के बीच हो अथवा इन प्रयत्नों की समाप्ति के ७ दिनों के भीतर और ट्रिब्यूनल की कार्यवाही के बीच ही अथवा इनकी समाप्ति के २ महीनों के भीतर तथा उन दिनो मे जब कि कोई निर्णय अथवा समझौता चालू है, की जाती है। ऐसी अवैध हड़तालो व तालाबन्दियों व इन के उकसाने के लिए सजाये देने की व्यवस्था है। अधिनियम मे उन व्यक्तियो की रक्षा की भी व्यवस्था है, जो अवैध हड़तालो मे भाग लेने से इन्कार करते है। साथ ही यह भी व्यवस्था है कि कार्यवाह के बीच कोई भी नियोजक किसी भी मजदूर की न तो नौकरी की शर्तों को बदल सकता है; न उसे सजा दे सकता है। केवल झगड़े से असम्बद्ध उस के दुर्व्यवहार के लिए ही वह ऐसा कर सकता है।

१९४७ के पश्चात् भारत सरकार ने कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये औद्योगिक झगड़े अधिनियम, १९४७ के पूरक के रूप मे समय समय पर कई एक अध्यादेश (Ordinances) प्रस्थापित किये व अधिनियम पास किये।

*भारत सरकार ने इसी अधिकार का प्रयोग करते हुये अगस्त, १९५४ मे बैंक ट्रिब्यूनल के निर्णय मे कुछ संशोधन कर दिये थे; जिस पर भारत सरकार के तत्कालीन श्रम मन्त्री श्री गिरि ने त्याग-पत्र दिया था।

सर्वप्रथम अप्रैल, १६४६ मे एक आदेश के द्वारा एक से अधिक राज्यो में शाखायें रखने वाली बैंकिंग व बीमा कम्पनियों को उस सूची मे शामिल किया गया जिसके लिये केवल केन्द्रीय सरकार ही मण्डल, न्यायालय अथवा ट्रिब्यूनल नियुक्त कर सकती है। दिसम्बर, १६४६ मे इस आदेश के स्थान पर एक अधिनियम पास किया गया।

मई, १६५० में एक और अधिनियम (Industrial Disputes Appelate ribunal Act, 1950) पास किया गया। इसके द्वारा विभिन्न औद्योगिक निर्णयो मे एक रूपता (Uniformity) लाने और विभिन्न औद्योगिक ट्रिब्यूनलों के कार्यों की समीक्षा करने व उन का समन्वय करने के लिये एक 'श्रम पुनर्विचार ट्रिब्यूनल' (*Labour Appellate Tribunal* की स्थापना की व्यवस्था की गई। तथापि, यह अधिनियम १६५६ में एक और अधिनियम के द्वारा विखण्डित कर दिया गया। इसके पश्चात् १६५१, १६५२ और १६५३ मे भी १६४७ के औद्योगिक झगडे अधिनियम मे भी कुछ संशोधन किये गये। तथापि, सबसे अधिक महत्वपूर्ण संशोधन १६५६ मे हुआ। नीचे हम इस संशोधक अधिनियम (Amending Act) का अध्ययन करते हैं।

औद्योगिक झगडे (संशोधन तथा मिश्रित प्रावधान) अधिनियम १६५६ [Industrial Disputes (Amendment & Miscellaneous Provisions) Act, 1956]—यह अधिनियम अगस्त १६५६ मे पास किया गया था। इसके महत्वपूर्ण प्रावधान निम्नलिखित है:—

(i) श्रमिक की एक नई परिभाषा दी गई है, जिसके द्वारा ५०० रु० मासिक से कम वेतन पाने वाले 'पर्यवेक्षण' (Supervisary) तथा प्राविधिक (Technical) कर्मचारी भी श्रमिक माने गये हैं। हां, साथ ही शर्त यह है कि ये पर्यवेक्षण कर्मचारी *प्रबन्ध अथवा प्रशासन विषयक कार्य न करते हो;*

(ii) कोई भी नियोजक श्रमिकों को २१ दिन की पूर्व सूचना दिये बिना कुछ निर्दिष्ट विषयों, जैसे मजदूरी, भविष्य निधि (Provident Fund) में अंशदान, काम के घण्टे; इत्यादि मे कोई परिवर्तन नही करेगा;

(iii) नियोजको को इस बात का अधिकार दिया गया है कि, यदि आवश्यक हो तो, किसी झगडे के मामले की कार्यवाही के बीच मे भी वे किसी श्रमिक को झगडे से असम्बद्ध बातो के लिये सजा दे सकते हैं। परन्तु यदि सज़ा श्रमिक को नौकरी से अलग करना है, तो उस अधिकारी से इस बात की अनुज्ञा लेनी आवश्यक है जो कि झगडे पर विचार कर रहा हो।

(iv) औद्योगिक झगड़े (पुनर्विचार न्यायाधिकरण) अधिनियम, १६५० [Industrial Disputes (Appellate Tribunal) Act, 1950] का विखण्डन कर दिया गया है और न्यायाधिकरणो की उस समय प्रचलित प्रणाली के स्थान पर तीन प्रकार के मूल न्यायाधिकरणो —(अ) श्रम-न्यायालय, (आं) औद्योगिक

न्यायाधिकरण और (इ) राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों की स्थापना गई है। इन तीनों प्रकार के न्यायाधिकरणों के कार्यों को निर्धारित। श्रम-न्यायालय नियोजकों की आज्ञाओं के औचित्य अथवा अनौचित्य देगा, औद्योगिक न्यायाधिकरण मजदूरी, काम के घंटे, आदि पर अप और राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्रीय महत्त्व के अथवा एक से अधिक राज्यों सम्बन्धित मामलों पर निर्णय देगा।

(v) झगड़े के दोनों दल एक लिखित संविद् (Agreement) के द्वारा स्वेच्छा से झगड़ा मध्यस्थता के लिये सौंप सकते हैं, और समझौते के क्रम से बाहर भी हुआ संविद् दोनों दलों पर लागू होगा।

इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों, जैसे बम्बई, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि की सरकारों ने भी अपने-अपने राज्यों के लिये अलग से औद्योगिक झगड़ों से सम्बन्धित अधिनियम पास किये हुए हैं।

भारत में मजदूर संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement In India)

प्राक्कथन–सिडनी तथा बीट्रिस वैब (Sydney and Beatrice Mebh) के शब्दों में एक मजदूर संघ "मजदूरी पर काम करने वालों का अपने कार्य-जीवन की दशाओं को बनाये रखने व उनमें सुधार करने के लिये एक निरन्तर संगठन है।" मजदूर संघ अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आपसी बीमा, (Mutual Insurance), सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining) और कानून पास करवाने (Legal Enactment) की विधियों का प्रयोग करते हैं। ये मुख्य रूप से दो प्रकार के कार्य करते है :—(१) सामरिक कार्य (Militant Functions) :–मजदूर संघों का एक मुख्य कार्य मजदूरों के काम व रोजगार सम्बन्धी बातों को सुधारने के लिये, जैसे कि उन्हे उचित मजदूरी दिलवाने, उनके काम के घंटे कम करवाने, उनकी काम करने की दशाओं में सुधार करवाने, कारखानों के लाभ में व प्रबन्ध में मजदूरों को भी हिस्सा दिलवाने, आदि के लिये सतत प्रयत्न (fight) करना है। इसके लिये वे सामूहिक रूप से अपने नियोजकों (Employers) से सौदेबाजी व बातचीत करते हैं, सरकार से इस सम्बन्ध में कानून पास करवाते हैं और समय पड़ने पर हड़ताल आदि भी करते हैं। इसीलिये इन कार्यों को सामरिक (Militant) कार्य कहा जाता है। (२) कल्याणकारी कार्य (Beneficent or Fraternal Functions) :- मजदूर संघ अपने सदस्यों से चन्दे के रूप में धन एकत्र कर तथा बाहर वालों से दान प्राप्त कर मजदूरों की कार्यक्षमता तथा दशा को सुधारने के लिये अपनी ओर से कई एक कल्याणकारी कार्य करते है, जैसे बीमारी, दुर्घटना, अस्थाई बेकारी, हड़ताल, तालाबन्दी, आदि के समय में मजदूरों को अर्थ-सहायता अथवा अन्य सहायता देते है, उनके बच्चों की तथा उनकी शिक्षा के लिये पाठशालायें, पुस्तकालय व वाचनालय

और चिकित्सा के लिये औषधालय चलाते हैं तथा खेल कूद व मनोरंजन की अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध करते हैं।

इस प्रकार आज के औद्योगिक युग मे मजदूर संघ मजदूरों के हितों की रक्षा के लिये तथा उनके *कल्याण की अभिवृद्धि के लिये आवश्यक संगठन* हैं। देश में औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिये तथा किसी औद्योगिक योजना के सफल कार्यकरण के लिये भी सुदृढ और स्वस्थ आधारो पर संगठित मजदूर संघों का होना सहायक सिद्ध होता है।

भारत में मजदूर संघ आन्दोलन का विकास

प्रारम्भिक इतिहास:—भारत मे आधुनिक मजदूर संघ आन्दोलन का इतिहास बहुत पुराना नही है, क्योंकि यहां पर बडे पैमाने के उद्योग-धंधे बहुत देर से स्थापित होने आरम्भ हुए थे। देश मे मजदूर संघ आन्दोलन का वास्तविक विकास प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से आरम्भ होता है। तथापि, इससे पहले के ४०–४५ वर्षों में भी इस दिशा मे समय-समय पर कुछ प्रयत्न किये गये थे।

१८७५ से १९१८ तक का काल:—सर्वप्रथम १८७५ में श्री सोराबजी शापुर जी बंगाली के नेतृत्व मे कुछ समाज सुधारको तथा लोकोपकारियों (Philanthropists) ने कारखानों मे काम करने वाले श्रमिकों, विशेषतः स्त्रियों व बच्चों की अत्यन्त बुरी दशा की ओर ध्यान दिलाने के लिये बम्बई मे एक आन्दोलन प्रारंभ किया था। परन्तु इस आन्दोलन को विशेष सफलता नही मिली। इसके पश्चात् १८८४ मे भारत के प्रथम मजदूर नेता, श्री नारायण मेघा जी लोखंडे ने बम्बई के श्रमिकों को संगठित करने का प्रयत्न किया, और उनकी दशा को सुधारने के लिये आन्दोलन चलाया। उसे कुछ सफलता भी मिली, जिससे प्रोत्साहित हो कर उसने १८९० में *'बम्बई मिल मजदूर संघ'* की स्थापना की, और साथ ही श्रमिकों के पहले पत्र, 'दीनबन्धु' का प्रकाशन आरम्भ किया। इधर १८८२ से १८९० के बीच केवल बम्बई और मद्रास प्रेजीडेंसियों मे ही २५ हडतालें हुई। १८९१ में दूसरा फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ। इसके पश्चात् से आन्दोलन मे शिथिलता आ गई। इसका एक कारण देश में प्लेग, व अकाल का फैलना और आर्थिक मन्दी का आना था, और दूसरा कारण इसी काल मे श्री बंगाली व लोखंडे की मृत्यु थी। १९ वी शताब्दी के अन्त मे आन्दोलन जीवन हीन सा था।

१९०५ से मजदूर आन्दोलन मे फिर से जान आई। इसका एक कारण यह था कि १९०५ में बंगाल का विभाजन होने पर देश मे जो राजनीतिक हलचल हुई उसने श्रम *आन्दोलन को भी प्रोत्साहित किया। इसी समय देश मे चलाये गये* 'स्वदेशी आन्दोलन' का भी यही प्रभाव पडा। इधर १९०४ के पश्चात् से देश मे कई एक सूती वस्त्र मिलें स्थापित हुई, जिनमे मजदूरों से प्रति दिन बड़े लम्बे घंटे काम लिया जाता था। इससे जहां तक एक ओर मजदूरो मे असन्तोष था, वहां दूसरी ओर, इङ्गलैंड मे मान्चेस्टर के कपड़ा मिल-मालिकों ने भारतीय सूती वस्त्र

मिलो मे मजदूरी की नीची मजदूरी व काम के लम्बे घंटों का भारी विरोध किया । यह इसलिये क्योंकि इससे इङ्गलैंड के सूती वस्त्र उद्योग को सस्ते भारतीय कपड़े की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड रहा था । मुख्यत. विदेशी हितो के इस दबाव के फलस्वरूप भारत सरकार ने १६११ मे एक और फैक्ट्री अधिनियम पास किया, जिसके द्वारा कारखानो मे काम करने वाले श्रमिको के काम के घंटे कम किये गये । इस काल मे भी देश मे, विशेषतः बम्बई की मिलो मे, और रेलो तथा रेल कार्यशालाओं मे कई एक हड़तालें हुई । साथ ही, इस काल मे मजदूरो के कई एक संगठन देश के विभिन्न भागो मे स्थापित हुए, जिनमे से १६१० मे बम्बई में सगठित की गई "कामगर हितवर्धक सभा" विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

१६१४ मे प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया । युद्धकाल मे वस्तुओं के मूल्यों के बढने से रहन-सहन की लागत बढ गई । साथ ही, बड़े कारखानो मे रोजगार की मात्रा भी बढी । इसने श्रम आन्दोलन को और शक्ति दी । परन्तु देश में मजदूर संघ आन्दोलन की वास्तविक नींव प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ही पड़ी । इससे पूर्व इसलिये नहीं- क्योंकि तब तक मजदूर सभायें मजदूरो के स्थाई संगठन नहीं थी । वे एक प्रकार की तदर्थ (Ad hoc) समितियाँ थी, जो तत्कालीन किसी विशिष्ट शिकायत को दूर करने के लिये बनाईं जाती थीं, और उस शिकायत के दूर होने पर या असफलता मिलने पर समाप्त हो जाती थीं ।

१६१८ से पश्चात् का काल—भारत में मजदूर संघ आन्दोलन का वास्तविक विकास

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत मे मजदूर संघ आन्दोलन के विकास के लिये दशायें विशेष रूप से अनुकूल थीं । एक तो युद्धकाल में वस्तुओं के मूल्यों के बढने से रहन-सहन की लागत बहुत बढ गई थी । परन्तु मजदूरों की मजदूरी मे विशेष वृद्धि नहीं हुई थी, जबकि मिल-मालिको ने भारी लाभ कमाये थे । इससे मजदूरो मे भारी असन्तोष था । उधर युद्धकाल मे बहुत से भारतीय सिपाही विदेशों में हो आये थे, और वहा उन्होंने मजदूरों की कहीं अच्छी दशा को देखा था । घर आकर उन्होंने मजदूरो के असन्तोष को भड़काया । उधर राजनीतिक क्षेत्र मे लोकमान्य तिलक, श्रीमती ऐनी बेसण्ट (Mrs. Annie Besant) तथा महात्मा गांधी स्वराज्य की माग कर रहे थे । महात्मा गांधी द्वारा चलाये गये १६१६-२१ के असहयोग आन्दोलन ने मजदूर आन्दोलन को भी नया उत्साह तथा नई स्फूर्ति दी । देश से बाहर की घटनाओं का भी भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन पर प्रभाव पड़ा । इस सम्बन्ध मे १६१८ मे रूस मे हुई क्रान्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसके द्वारा विश्व मे पहली बार एक बड़े देश मे मजदूरों के दल ने राज्य सत्ता संभाली । एक और महत्त्वपूर्ण घटना १६१६ मे 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' (International Labour Organisation) की स्थापना थी । भारत इसका संस्थापक-सदस्य था । इसकी ओर से होने वाले वार्षिक 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन' में भारतीय श्रमिको के प्रतिनिधि को भी जाना होता था । अतः १६२०

मे ही देश मे मजदूर संघों के पहले केन्द्रीय संगठन, 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' ('All India Trade Union Congress') की स्थापना हुई। इन सब बातो तथा घटनाओं ने देश मे मजदूर संघ आन्दोलन के विकास को बहुत प्रोत्साहित किया। देश मे १९१८ से १९२१ के बीच बहुत सी हड़तालें भी हुईं, जिनमे से कई एक मे मजदूरो को सफलता भी मिली। इन्ही के फलस्वरूप १९२१ मे फैक्ट्री अधिनियम मे संशोधन किया गया, और इसमे मजदूरो की कई एक माँगें पूरी की गईं। परन्तु तभी एक और घटना हुई। १९२१ मे बकिंघम मिल, मद्रास मे हड़ताल हुई। मिल ने मद्रास हाई कोर्ट से इस हड़ताल को अवैध घोषित करवाया, और मद्रास श्रम संघ पर जुर्माना करवाया। इससे एक बार को श्रम आन्दोलन को धक्का लगा। तब तक देश मे ऐसा कोई कानून नही था जिसके द्वारा मजदूर संघो और उनकी क्रियाओं को वैध रूप से मान्यता प्राप्त होती। मद्रास हाई कोर्ट के इस निर्णय ने इस बात के अभाव को पूर्ण प्रकाश मे ला कर खड़ा कर दिया। अतः १९२१ मे ही श्री एन० एम० जोशी ने असेम्बली मे एक मजदूर संघ विधेयक पेश किया। परन्तु यह पास न हो सका। देश मे पहली बार मजदूर संघ अधिनियम, १९२६ पास होने के लिये अभी ५ वर्ष और प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस अधिनियम का पास होना भारत मे मजदूर संघ आन्दोलन के विकास के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके द्वारा रजिस्टर्ड मजदूर संघो को कानूनी मान्यता प्रदान की गई। अधिनियम के अन्तर्गत कोई भी मजदूर संघ अपना सरकार द्वारा रजिस्ट्रेशन करवा सकता था। ऐसे रजिस्टर्ड मजदूर संघ को कई एक विशेष अधिकार (Privileges) दिये गये। उदाहरणार्थ, उनके द्वारा मजदूर संघ की यथार्थ क्रियाओं के करने पर, उन पर मुकद्दमा नही चलाया जा सकता; उन्हे समिति के रूप मे बने रहने (Corporate Existence) का, सतत उत्तराधिकार (Perpetual Succession) का तथा चल एवं अचल सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार दिया गया। साथ ही, इन मजदूर संघों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये गये, जैसे कि संघ की कार्यकारिणी के कम से कम आधे सदस्य मजदूर संघ के क्षेत्र के कारखाने अथवा कारखानों मे काम करने वाले होने आवश्यक हैं; मजदूर संघ के लेखो का प्रति वर्ष लेखा-परीक्षण होना आवश्यक है; परिक्षित लेखो की तथा नियमावली की एक-एक प्रति और कार्यकारिणी के सदस्यो के नाम की सूची प्रति वर्ष सरकार के पास भेजनी आवश्यक है, संघ के सामान्य कोषों को राजनीतिक कार्यों के लिये व्यय नहीं किया जा सकता; हाँ, इसके लिये अलग से कोष बनाया जा सकता है, परन्तु इसके लिये चन्दा देना सदस्यता की आवश्यक शर्त नही होगी।

१९१८ से १९२६ तक के इस काल मे मजदूर संघो की संख्या मे काफी वृद्धि हुई। 'अहमदाबाद सूती मिल मजदूर संघ' जो अपनी कल्याण क्रियाओं के लिये अभी तक भी एक आदर्श मजदूर संघ माना जाता है, इसी काल मे १९२० मे स्थापित हुआ था। १९२० मे ही स्थापित, 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की

स्थापना के बारे मे हम पहले ही कह आये है। १६२२ मे 'अखिल भारतीय रेलवे मैन्स फैडरेशन' बनाई गई, जिससे लगभग सभी रेल सघ सम्बद्ध (Affiliated) हो गये। इस काल मे मजदूर संघ आन्दोलन मे वास्तव मे एकता तथा सहयोग था, जो कि १६२६ के पश्चात् से देखने को नही मिलता।

१६२६ से १६३६ तक का काल—इस काल की एक महत्वपूर्ण बात मजदूर *संघ आन्दोलन की आपसी फूट और पुनर्मिलन* है। १६२६ से कुछ पहले से ही आन्दोलन मे साम्यवादियो का प्रभाव बढता जा रहा था। १६२६ मे ट्रेड यूनियन काग्रेस (T U. C.) के नागपुर के अधिवेशन मे काग्रेस की सत्ता साम्यवादियो के हाथो मे आ गई। इस पर नरम दल वालो ने श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व मे 'ट्रेड यूनियन फैडरेशन' के नाम से मजदूर सघो की एक अलग अखिल भारतीय सस्था बना ली। १६३१ मे 'ट्रेड यूनियन काग्रेस' मे फिर विभाजन हुआ। गरम दल के साम्यवादियो ने 'ट्रेड यूनियन काग्रेस' से अलग हो कर श्री देशपांडे व रानादिव के नेतृत्व मे 'रेड ट्रेड यूनियन' काग्रेस के नाम से एक तीसरी अखिल भारतीय सस्था बना ली। तथपि, यह तीन वर्ष के पश्चात् १६३४ मे ही फिर अपनी आदि सस्था, 'ट्रेड यूनियन काग्रेस' मे मिल गई। १६३४ से शेष दोनो सस्थाओ के एकीकरण के प्रयत्न आरम्भ हुये, और अन्तत १६३८ म इन प्रयत्नो को सफलता मिली। तब फिर ट्रेड यूनियन काग्रेस' के रूप मे मजदूर सघो का एक ही अखिल भारतीय सगठन रह गया। इस काल मे रेलवे मैन फैडरेशन पूर्णतया निष्पक्ष रही।

इस आन्तरिक फूट के बावजूद भी इस काल मे मजदूर सघो की सख्या व सदस्यता दोनों ही बढी। आरम्भ मे बहुत कम मजदूर सघो ने १६२६ के मजदूर संघ अधिनियम के अन्तर्गत अपने आप को रजिस्टर करवाया, क्योकि वे रजिस्ट्रेशन के खर्चे व अधिनियम के अन्तर्गत वार्षिक विवरण भेजने के झझट से बचना चाहते थे। परन्तु शीघ्र ही यह प्रवृत्ति मन्द पड गई, क्योकि इससे मिल-मालिको को मजदूर संघो को मान्यता न देने का यह बहाना मिलता था कि ये (सघ) रजिस्टर्ड नही हैं। वैसे इस काल मे मिल-मालिकों का मजदूर सघो के प्रति बर्ताव सदा ही द्वेषपूर्ण रहा। वे मजदूर संघो व उनके कार्यकर्त्ताओ को अपना शत्रु समझते रहे। मजदूर सघो के कार्यकर्त्ताओं को नौकरियां न देना, किसी न किसी बहाने से उन्हे नौकरी से अलग कर देना, उन्हे बिना बात गुण्डो से पिटवा देना व अन्य प्रकार से उन्हे डराना व तंग करना, अधिकतर मिल-मालिको का रवैया रहा।

इस काल मे भी समय-समय पर, विशेषत १६२७–२६ तथा १६३७–३८ के काल मे देश मे (विशेषत. बम्बई मे) कई एक हड़ताले हुई। इन्हे कम करने के लिये भारत सरकार ने १६२६ मे भारतीय व्यापारिक झगडे अधिनियम (Indian Trade Disputes Act) पास किया, जिसके अन्तर्गत 'जाच-कचहरियो' ('Courts of Enquiry') तथा 'समझौता मण्डलो' ('Conciliation Boards') की स्थापना

की व्यवस्था की गई। १६२६ की एक और महत्त्वपूर्ण घटना उद्योगों तथा उद्यानों मे काम करने वाले श्रमिको की दशा तथा मिल-मालिकों व मजदूरो के आपसी सम्बन्धो की जांच करने तथा सिफारिश करने के लिए 'शाही श्रम आयोग' ('Royal Commission on Labour') की नियुक्ति है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट १६३१ मे दी।

१६३० के पश्चात् तीन-चार वर्षों तक आर्थिक मन्दी, बढती हुई बेरोजगारी गिरती हुई मजदूरी तथा मजदूर संघ आन्दोलन की भीतरी फूट के कारण मजदूरो को दशा काफी खराब रही।

१६३६ से १६४६ तक का काल – १६३६ मे द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध मे सरकार को सहायता देने के प्रश्न पर 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' निष्पक्ष रही। इस पर इस के एक भाग ने श्री एम० एन० रॉय के नेतृत्व में अलग होकर 'इण्डियन फॅडरेशन ऑफ लेबर' (Indian Federation of Labour) के नाम से एक नया केन्द्रीय संगठन बना लिया। फॅडरेशन ने सरकार को युद्ध जीतने मे पूर्ण सहायता देने की नीति अपनाई। इससे इसे सरकार से वित्तीय तथा अन्य सहायता मिली। परन्तु जनता की सहानुभूति इस के साथ विशेष न थी। उधर नेशनल कांग्रेस के नेताओं के जेल में चले जाने से 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' पर साम्यवादियो का प्रभुत्व छा गया, जो अभी तक चला आ रहा है।

युद्ध काल में वस्तुओं के मूल्य तथा रहन-सहन की लागत तेजी से बढ़े। इससे मिल-मालिको के लाभ भी कई गुना बढे। अतः मजदूरी को बढवाने की भी आवश्यकता पड़ी। इससे मजदूरो ने मजदूर संघो के संगठन की आवश्यकता को पहले से अधिक अनुभव किया। उधर से मजदूर संघो के दोनो केन्द्रीय संगठनो ने भी अपना-अपना कार्य तथा प्रभाव बढाने के प्रयत्न किये। इससे मजदूर संघो की संख्या व उनकी सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्ध काल मे उत्पादन को बढाने की आवश्यकता ने मजदूरो व उनके संघों के प्रति सरकार तथा मिल-मालिको दोनो के दृष्टिकोण मे कुछ परिवर्तन को जन्म दिया, और उन्होंने श्रम-कल्याण को बढ़ाने के लिये कुछ पद उठाये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से मजदूर संघ आन्दोलन ने देश में काफी प्रगति की है। इसके कई कारण रहे हैं। एक तो यह कि देश के स्वतन्त्र होने से मजदूरों मे एक नई चेतना आई है। वे यह समझने लगे हैं कि संगठित होकर नये भारत मे वे अपनी दशा अधिक आसानी से सुधार सकते हैं। दूसरे, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से तुरन्त पहले व तुरन्त पश्चात् बढते हुये मूल्यो व बढती हुई बेरोजगारी से अपनी रक्षा करने के लिए मजदूर संघो ने कई एक सफल हड़तालें संगठित की थीं। इनसे मजदूरो को संगठन की शक्ति का आभास मिला, और तब से अब तक समय-समय पर मजदूरों ने अपनी संगठित शक्ति के प्रदर्शन द्वारा अपने लिए कई एक लाभ प्राप्त किये हैं। तीसरे, स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रीय

सरकार भी मजदूरों, उनके कल्याण तथा उनके संगठनो के प्रति कही अधिक उदार है। उसने १९४७ मे ही मजदूर संघ अधिनियम में संशोधन कर मिल-मालिको द्वारा प्रतिनिधि मजदूर संघ को मान्यता देना अनिवार्य कर दिया है, यद्यपि इस बात को अभी तक वास्तव में लागू नही किया है। १९४८ तथा १९५६ की पुरानी तथा नई औद्योगिक नीति की घोषणाओं मे भारत सरकार ने उत्पादन मे औद्योगिक शान्ति तथा श्रम के महत्त्व को मानते हुये कारखाने के प्रवन्ध तथा लाभो में मजदूरो को हिस्सा देने के सिद्धांत को माना है। इसके अतिरिक्त, उसने मजदूरो की दशा को सुधारने के लिये कई एक महत्वपूर्ण अधिनियम पास किये हैं, और अन्य पद उठाये हैं। इन सब का अध्ययन हम पहले ही ऊपर कर आये हैं। चौथे, भारतीय प्रजातन्त्रवाद मे जहा कि सभी प्रौढ व्यक्तियो को मत देने का अधिकार है, मजदूरो के संगठन के महत्त्व को भुलाया नही जा सकता। अतः विभिन्न राजनीतिक दलो ने मजदूर सघो के अपने-अपने केन्द्रीय संगठन बना लिए हैं। ये केन्द्रीय संगठन मजदूरों मे अपना-अपना प्रभाव बढाने के लिए कार्य करते हैं। इससे भी मजदूर सघ आन्दोलन का विकास हुआ है। परन्तु साथ ही, इससे यह हानि भी हुई है कि आन्दोलन में एकता नही रही है, और इसमे राजनीतिकता अधिक आ गई है। मजदूरों की हित-वृद्धि के लिए यह अच्छा नहीं है।

पिछले लगभग ४० वर्षों मे मजदूर संघ आन्दोलन ने देश मे कितनी प्रगति की है, यह निम्नलिखित आंकडों से स्पष्ट हो जायेगा :—

वर्ष	पूंजीकृत मजदूर संघो की संख्या	विवरण भेजने वाले संघो की संख्या	विवरण भेजने वाले सघो की सदस्य-संख्या (लाखो मे)
१९२७–२८	२९	२८	१·०१
१९३२–३३	१७०	१४७	२·३७
१९३९–४०	६६७	४५०	५·११
१९४५–४६	१,०८७	५८५	८·६४
१९४७–४८	२,६६६	१,६२८	१६·६२
१९५३–५४	६,०३४	३,३००	२१·१४

ऊपर की तालिका के आंकडों के सम्बन्ध मे हमे कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिये :—(१) अभी भी सभी मजदूर सघ पूंजीकृत नही हैं; वैसे जो मजदूर संघ पूंजीकृत नहीं हैं, वे नाम-मात्र मे ही मजदूर सघ हैं। हाँ, मजदूर सघो का पूंजीकृत होना ही उनकी अच्छी सदस्यता अथवा शक्ति की पहचान नहीं है। (२) सभी पंजीकृत मजदूर सघ सरकार (रजिस्ट्रार) को विवरण नही भेजते। अतः संगठित मजदूरों की संख्या का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

वर्तमान स्थिति:—इस समय मजदूर सघो के देश मे चार केन्द्रीय संगठन हैं। एक तो १९२० में स्थापित सब से पुराना संगठन, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A. I. T. U. C.) ही है। इसमे साम्यवादियों का प्रभुत्व है, और

यह संगठन उन्हीं की विचारधारा में विश्वास करता है। दूसरा केन्द्रीय संगठन 'इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (I. N. T. U. C.) है। इसकी स्थापना मई, १६४७ मे सरदार पटेल के नेतृत्व मे हुई थी। इस नेशनल कांग्रेस का प्रभुत्व है, और यह उसी की विचारधारा मे विश्वास करता है। इसमें समय यह मजदूर संघों का सब से बड़ा संघठन है। मजदूर संघो का एक तीसरा केन्द्रीय संगठन 'हिन्द मजदूर सभा' है जिसकी स्थापना दिसम्बर, १६४८ मे समाजवादियो द्वारा की गई थी। सभी ऊपर बनाई गई 'इण्डियन फैडरेशन ऑफ लेबर' (Indian Federation of Labour) भी इसी मे मिल गई थी। 'हिन्द मजदूर सभा' देश में 'प्रजातन्त्रवादी समाजवाद' ('Democratic Socialism') स्थापित करना चाहती है। चौथा केन्द्रीय संगठन 'यूनाइटिड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (U. T. U. C.) है। इसकी स्थापना मई १६४६ मे प्रो० के० टी० शाह के नेतृत्व मे हुई थी। इसका उद्देश्य देश में राजनीतिक दलो से स्वतन्त्र एक शुद्ध मजदूर संघ आन्दोलन की स्थापना है।

१६५६ मे इन केन्द्रीय संगठनो से संबद्ध मजदूर संघो की संख्या व उनकी सदस्यता इस प्रकार थी :—

तालिका*

संगठन	सम्बद्ध संघ	सदस्यता (लाखों में)
१ इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस	६१७	६·७२
२. अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस	५५८	४·२३
३. हिन्द मजदूर सभा	११६	२·०४
४. यूनाइटिड ट्रेड यूनियन कांग्रेस	२३७	१·५६
कुल	१,५३१	१७·५८

इन केन्द्रीय संगठनो तथा इनसे सम्बद्ध मजदूर संघो के अतिरिक्त भी देश में बहुत से ऐसे मजदूर संघ हैं जो न तो पंजीकृत हैं और न ही किसी केन्द्रीय संगठन से सम्बद्ध हैं। फिर इन केन्द्रीय संगठनों के अतिरिक्त कुछ उद्योगो के अपने अखिल भारतीय संघ (Federations) हैं, जो इन केन्द्रीय संगठनों में से किसी से भी सम्बद्ध नही हैं। उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसे संघो के कुछ उदाहरण हैं नेशनल फैडरेशन ऑफ इण्डियन रेलवेमैन (National Federation of Indian Railway Men), नेशनल फैडरेशन ऑफ पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ वर्कर्ज (National Federation of Post & Telegraph Workers), ऑल इण्डिया बैंक एम्लॉईज़ एसोसियेशन (All India Bank Employees Association), ऑल इण्डिया पोर्ट एण्ड डॉक वर्कर्ज फैडरेशन (All India Port & Dock Workers Fede-

*Source . India 1958, p. 416.

ration), ऑल इण्डिया माइन वर्कर्ज फेडरेशन (All India Mine Workers Federation), इण्डियन फेडरेशन ऑफ वर्किङ्ग जर्नलिस्ट्स (Indian Federation of Working Journalists), आदि। तथापि, इन संघानों (Federations) से सम्बद्ध बहुत से मजदूर संघ ऊपर बतलाये गये केन्द्रीय संगठनों में से किसी एक के भी सदस्य हैं। इन संघानों में सबसे अधिक शक्तिशाली संघान नेशनल फेडरेशन ऑफ इण्डियन रेलवेमैन है, जिसकी रचना १९५३ में ही रेलवे कर्मचारियों के पहले के दो संघानों : ऑल इण्डिया रेलवेमैन्स फेडरेशन तथा नेशनल रेलवेमैन्स फेडरेशन के संविलयन (Merger) से हुई थी। वैसे भी भारतीय मजदूरों में सबसे अधिक संगठित मजदूर रेल कर्मचारी तथा डाक व तार विभाग के कर्मचारी तथा छापाखानों के कर्मचारी है।

१९५३–५४ में देश में ६,०३४ पंजीकृत मजदूर संघ थे। इनमें से केवल ३,३०० ने सरकार को अपना विवरण भेजा था। इन ३,३०० संघों की सदस्य संख्या २१·१४ लाख सबसे अधिक पंजीकृत मजदूर संघ पश्चिमी बंगाल (१,४३६), बम्बई (७६५), उत्तर प्रदेश (६२०) तथा मद्रास (५३४) में थे। अधिकांश मजदूर संघ औद्योगिक संघ (Industrial Unions) हैं, अर्थात् ऐसे संघ हैं जो मजदूरों को उद्योग के आधार पर, न कि उनके कार्य व कौशल के आधार पर, संगठित करते हैं। तथापि, इसका एक महत्त्वपूर्ण अपवाद 'अहमदाबाद टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन' है जिसके सम्बद्ध सदस्य 'शिल्प संघ' (Craft Unions) हैं, अर्थात् ऐसे संघ हैं जिनकी सदस्यता एक-एक प्रकार के कार्य करने वालों तक ही सीमित है, जैसे कि सूत कातने वालों का संघ, जुलाहों का संघ, इत्यादि।

भारत में मजदूर संघ आन्दोलन का मूल्यांकन

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि विशेषतः द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के पश्चात् से भारत में मजदूर संघ आन्दोलन ने पर्याप्त प्रगति की है। मजदूर संघों की संख्या और उनकी सदस्यता दोनों में ही पर्याप्त वृद्धि हुई है। साथ ही, कुछ मजदूर संघों व उनके संगठनों ने मजदूरों को उनके नियोजकों (Employers) से कई एक सुविधायें तथा लाभ दिलवाये हैं। तथापि, इस सबके बावजूद भी "भारत में मजदूर संघ आन्दोलन अभी अपनी रचनात्मक अवस्था में ही है।"* इसकी सदस्यता अभी भी काफी कम है। इसे वास्तव में प्रभावपूर्ण बनने के लिये अपनी सदस्यता को अभी काफी बढ़ाना होगा। साथ ही, अन्य उन्नत देशों के मजदूर संघ आन्दोलनों से तुलना करने पर पता चलता है कि भारत में मजदूर संघ आन्दोलन ठोस तथा स्वस्थ (Sound and Healthy) आधारों पर विकसित नहीं हुआ है। इसके संगठन में कई एक दोष हैं। यदि हम देश में सही अर्थों में औद्योगिक प्रजातंत्रवाद (Industrial Democracy) कार्यशील देखना चाहते हैं, तो यहां एक शक्तिशाली तथा स्वस्थ मजदूर संघ आन्दोलन का विकास अत्यावश्यक है। इसके लिये नीचे

* V. V. Giri : Labour Problem in Indian Industry, p. 50.

हम पहले आन्दोलन के दोषों तथा कठिनाइयों का अध्ययन करेंगे। फिर, आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के उपायों का अध्ययन करेंगे।

भारत में मजदूर संघ आन्दोलन की कठिनाइयाँ तथा दोष

(१) भारत मे मजदूर संघ आन्दोलन की पहली कठिनाई यहां के औद्योगिक श्रम का गमनशील (Migratory) होना है। स्वस्थ तथा शक्तिशाली मजदूर संघ आन्दोलन के लिये पहली आवश्यकता यह है कि उद्योगो में काम करने वाले मजदूर स्थाई हों, और उनका अपने काम मे हित स्थाई हो। परन्तु भारतीय कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का एक बड़ा भाग ऐसा है, जो गांवों से आता है, और जिनका गांवों से सम्बन्ध बना रहता है। बहुत से लोग तो जिन दिनों गांवों में खेती मे काम नहीं होता, उन दिनों के लिये कारखानों में नौकरी करने आ जाते हैं। ऐसे लोगों का इस अस्थाई काम मे व काम की दशाओं, आदि मे कोई स्थाई हित नहीं होता। अतः वे मजदूर संघों व उनकी क्रियाओं मे कोई रुचि नहीं रखते। काम की दशायें, आदि सन्तोषजनक न होने पर वे मजदूर संघों के द्वारा अपनी दशा सुधारने के लिये प्रयत्न करने के स्थान पर काम छोड़ कर वापिस गांवों में चले जाते हैं।

(२) अधिकांश भारतीय श्रमिक अनपढ़ हैं। वे मजदूर संघों और उनके महत्त्व से अनभिज्ञ हैं। मजदूरों में से ही उनके नेता न निकलने के दोष का भी यह एक प्रमुख कारण है।

(३) भारत में मजदूरी की दरें बहुत नीची हैं। इसके कारण बहुत बार गरीब मजदूर मजदूर संघ का मामूली चन्दा भी नहीं दे पाता। इससे जहाँ एक ओर बहुत से मजदूर संघों के सदस्य नहीं बनते, वहाँ दूसरी ओर मजदूर संघों की वित्तीय दशा बड़ी कमजोर रहती है, और वे द्रव्य की कमी के कारण अपने बहुत से कार्य, विशेषतः कल्याण-कार्य नहीं कर पाते।

(४) नीची मजदूरी के कारण मजदूरों का रहन-सहन का स्तर भी नीचा होता है, और उनमें शक्ति की कमी होती है। उधर उन्हे दिन में लम्बे घंटे काम करना होता है। फल यह होता है कि मजदूर संघ की क्रियाओं में भाग लेने के लिये उनके पास न तो शक्ति ही होती है और न ही समय होता है।

(५) भारतीय मजदूरों में भाषा, जाति, धर्म, प्रान्त, रीति-रिवाज, आदि के आधार पर विभाजन देश मे शक्तिशाली मजदूर संघ आन्दोलन के विकास के मार्ग में एक और बाधा है। ये विभाजन मजदूरों को एक नहीं होने देते। बहुत बार नियोजक तथा उनके कारिन्दे इन विभाजनों का अनुचित लाभ उठाते हैं, और मजदूरों-मजदूरों को आपस में लड़वा देते हैं।

(६) दलालों (Jobbers) तथा नियोजकों का अत्याधिक विरोध भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन की एक और कठिनाई है। मजदूर संघ के बनने से दलालों (Jobbers) का मजदूरों मे प्रभाव कम होता है। उधर नियोजक मजदूर संघों को सभी शरारत की जड़ समझते हैं। वे आसानी से यह अनुभव नहीं करते कि शक्ति-

शाली मजदूर संघ औद्योगिक शान्ति तथा स्थाइत्व के लिये अत्यावश्यक हैं। उनमें से कुछ नियोजक तो भले-बुरे हर तरीके से मजदूरों की एकता को भंग करने में प्रयत्नशील रहते है। इसके लिये वे गुप्तचरो व गुण्डों को रखते हैं। गुप्तचरों के द्वारा मजदूर कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओ व गतिविधियो का पता रखते है, उन्हें घूस या अन्य लालच देकर फुसलाने का प्रयत्न करते है, या जाति, धर्म अथवा भाषा आदि की बात को लेकर उनमे आपस मे फूट डलवा देते है। इस प्रकार काबू न आने वाले कार्यकर्त्ताओ को गुण्डो से पिटवा तक देते है अथवा और तरह से उन्हें डराते-धमकाते व तंग करते हैं। डा० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन वर्किङ्ग क्लास' ('Indian Working Class') मे इस कठिनाई का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

इन बाह्य कठिनाइयों के अतिरिक्त भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन के संगठन मे निम्नलिखित आन्तरिक दोष हैं:—

(१) भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन का एक बहुत बड़ा आन्तरिक दोष यह है कि आज भी इसका नेतृत्व स्वयं मजदूरों के हाथो मे न होकर मुख्यत. बाहर के लोगों, विशेषतः राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ, के हाथों मे है। इसका एक प्रमुख कारण स्वयं मजदूरो की निर्धनता तथा निरक्षरता रही है। निर्धन होने के कारण मजदूर आगे बढ कर मजदूर संघ का कार्य इसलिये नही करना चाहते, क्योंकि इससे उन्हे मिल-मालिक द्वारा नौकरी से हटा दिये जाने का अथवा अन्य प्रकार से तंग किये जाने का भय होता है। अनपढ होने के कारण वे मजदूर संघो के संगठन का भली भांति महत्त्व नही समझते, और न ही उनके सफल संगठन की पर्याप्त क्षमता रखते है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व देश के सभी लोगो का पहला उद्देश्य देश को विदेशियों की गुलामी से मुक्त करवाना था। अतः मजदूर भी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के प्रभाव से अछूते नही रह सकते। और फिर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि भारत की विशिष्ट परिस्थितियो मे यह बाहर के लोगो व राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही है देश में वर्तमान मजदूर संघ आन्दोलन की नींव पड़ सकी। परन्तु साथ ही, यह भी सत्य है कि इधर इनके कारण आन्दोलन को कई एक हानियां भी हुई हैं। एक सबसे बड़ी हानि तो यही हुई है कि इससे मजदूरो मे एकता नही है। जैसा कि हम ऊपर बता आये है, विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रभुत्व मे इस समय मजदूर संघो के चार केन्द्रीय संगठन हैं। फिर, ये बाहरी लोग मजदूरों की समस्याओ व कठिनाइयों को अच्छी प्रकार नहीं समझते। उनका इनके बारे मे ज्ञान आत्म-अनुभव पर आधारित न होकर दया तथा लोकोपकार की भावना पर आधारित होता है। बहुत से 'बाहर के लोग' तो किसी न किसी स्वार्थ को सामने रख कर ही आन्दोलन मे शामिल होते हैं। ऐसे लोग सच्चे शब्दों मे मजदूरों के हितैषी नही होते। उन्हें बहुत बार मजदूरो का भी विश्वास व सहयोग नहीं मिलता। फिर, ये 'बाहरी लोग' बहुधा उद्योग की प्राबंधिक बातों को नहीं

/

जानते । अतः वे मिल-मालिकों से बात-चीत में ज्ञान के समान स्तर पर नहीं मिल पाते । इस सबसे आन्दोलन कमजोर पड़ता है । आन्दोलन को स्वस्थ तथा शक्तिशाली बनाने के लिये आवश्यक है कि इसके नेता मजदूरों में से ही हों।

(२) भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन में एकता का अभाव इसकी एक और कमजोरी है । यहां 'एक उद्योग में मजदूरों का एक संगठन' होने के स्थान पर एक से अधिक प्रतिस्पर्धी संगठन हैं, और प्रत्येक संगठन अपने आपको उस उद्योग के मजदूरों का वास्तविक प्रतिनिधि बतलाता है। यह बात कारखाने के और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर है। केन्द्रीय संगठनों की अनेकता की बात हम पहले ही ऊपर कह आये हैं। इससे मजदूरों की सामूहिक रूप से सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है, और वे अपनी उचित मांगों को भी पूरा नहीं करवा पाते । यदि एक संघ नियोजक से एक बात पर सहमत होता है, तो दूसरा उसी पर असहमत होता है और किसी अन्य बात पर जोर देता है। नियोजक मजदूरों के इस आपसी विरोध का लाभ उठाते हैं, और साथ ही स्व हित में इसे और बढ़ावा देते हैं।

(३) भारत में अधिकांश मजदूर संघ बहुत छोटे आकार के हैं और, उनके वित्तीय साधन अत्यन्त अपर्याप्त हैं।

१९५२-५३ में विवरण भेजने वाले मजदूर संघों में से ६५% संघ ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक की सदस्य-संख्या ३०० से भी कम थी।* इसका एक कारण तो एक ही उद्योग में कई एक प्रतिस्पर्धी मजदूर संघों का होना है, और दूसरा तथा अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि देश में मजदूर संघ आन्दोलन ऊपर लिखी विभिन्न कठिनाइयों से अभी मजदूरों में घर नहीं कर गया है। इसका फल यह होता है कि उनके पास चन्दे के रूप में बहुत कम रुपया आ पाता है। सदस्यता बढ़ाने के लिये मजदूर संघ प्रति सदस्य चन्दा भी बहुत कम रखते हैं। परन्तु मजदूरों की सामान्य निर्धनता के कारण वह भी नियमित रूप से एकत्र नहीं हो पाता । मजदूर संघ सदस्यता कम होने के भय से चन्दा न देने वालों के विरुद्ध भी कुछ कारवाई नहीं करते, और न ही उनकी सदस्यता आसानी से समाप्त करते हैं। देश में सशक्त मजदूर संघ आन्दोलन के विकास के लिये पर्याप्त वित्तीय साधनों का होना आवश्यक है।

(४) मुख्यतः वित्तीय साधनों की कमी के कारण भारतीय मजदूर संघ पूर्णकालिक सवैतनिक कर्मचारी (Whole-time Paid Employees) तथा प्रावैधिक विशेषज्ञ (Technical Experts) नहीं रख सकते । वे संघ के काम को चलाने के लिये अवैतनिक (Honorary) कार्यकर्ताओं की सेवाओं पर निर्भर होते हैं। परन्तु ऐसे कार्यकर्त्ता अपना पूरा समय तथा ध्यान इस ओर नहीं लगा सकते। इससे संघ का कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो पाता।

---

*Labour Problems & Social Welfare by Dr B. C. Saxena, 5th ed., p. 100.

(५) भारत में मजदूर संघ मुख्यतः सामरिक (Militant) कार्य ही करते हैं। अपने कल्याण-कार्यों की ओर व लगभग ध्यान ही नहीं देते। फल यह होता है कि मजदूरों का ऐसे संघो मे हित स्थाई नहीं होता। जब कभी मिल-मालिक से कोई झगड़ा, आदि बात होती है, तो मजदूर संघ कुछ समय के लिये जीवित हो उठता है। जल्से, प्रदर्शन, प्रतिवाद (Protest), बातचीत और हड़ताल, आदि होती हैं। बात समाप्त हो जाने पर फिर सब-कुछ शान्त हो जाता है। मजदूर संघ को मजदूरों का स्थाई तथा जीवित संगठन बनाने के लिये उसे कल्याण कार्यों में समान रुचि लेनी चाहिये। परन्तु यहां फिर वित्त की कमी आ खड़ी होती है।

भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के उपाय—

एक शक्तिशाली मजदूर संघ आन्दोलन मजदूरों के हितों की रक्षा करने के लिये तथा देश में औद्योगिक शान्ति रखकर उत्पादन में वृद्धि करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ऊपर हम पढ़ आये हैं कि भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन अभी स्वस्थ तथा शक्तिशाली नहीं है। इसे ऐसा बनाने के लिये निम्नलिखित उपायों को अपनाना आवश्यक है—

(१) शक्ति की पहली शर्त एकता है। ऊपर हम पढ़ आये हैं कि भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन में इस एकता का अभाव है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि मजदूर जाति, भाषा, धर्म, प्रान्त आदि के भेद-भावों को भुलाकर अपने आप को एक वर्ग का मानें। उनका हित इसी में है। फिर, 'एक उद्योग में एक मजदूर संघ' ('One Union in One Industry') तथा सभी मजदूर संघों का केवल एक शक्तिशाली केन्द्रीय संगठन होना चाहिये। इसके लिए मजदूर संघ आन्दोलन में जो राजनीतिकता आई हुई है, उसे समाप्त करना आवश्यक होगा, क्योंकि आन्दोलन की वर्तमान फूट का सम्भवतः सबसे बड़ा कारण यह राजनीतिकता है। इसके लिए मजदूरों में शिक्षा तथा प्रचार के द्वारा एकता की भावना को जाग्रत करना होगा।

(२) मजदूर संघ आन्दोलन का नेतृत्व स्वयं मजदूरों के हाथों में होना चाहिये। हां, कुछ समय तक 'बाहर के लोगों' से उन्हें इस दिशा में कुछ सहायता तथा मार्ग दर्शन अवश्य मिलना चाहिये। इस समय आन्दोलन का नेतृत्व अधिकांशतः राजनीतिज्ञों (Politicians) के हाथों में है। मजदूरों की आपसी प्रतिस्पर्धा का यह एक मुख्य कारण है। अतः स्वस्थ तथा संयुक्त (United) मजदूर संघ आन्दोलन के लिए आवश्यक है कि इसका नेतृत्व स्वयं मजदूरों के हाथों में हो।

(३) मजदूर संघ आन्दोलन को सशक्त बनाने के लिये यह भी आवश्यक है कि मजदूर संघों की सदस्यता तथा वित्तीय साधनों में वृद्धि हो। इस सम्बन्ध में सब कार्यकर्ताओं का उद्देश्य शत प्रतिशत सदस्यता होनी चाहिये। साथ ही, सदस्यों से नियमित रूप से चन्दा एकत्र किया जाना चाहिये। इन दोनों बातों में मजदूर

संघों की वित्तीय दशा सुधरेगी। परन्तु इसके लिये संघ कार्यकर्ताओं को मजदूरो मे काफी अधिक काम करना पड़ेगा।

(४) कल्याण-कार्य—मजदूर संघों को मजदूरो के कल्याण सम्बन्धी कार्यों जैसे कि उनकी शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, आदि का प्रबन्ध करना, तथा बीमारी, बेरोजगारी, मृत्यु आदि आपत्ति के समय मे उन्हे अर्थ-सहायता देना, आदि पर अधिक जोर देना चाहिये। अभी तक अधिकांश मजदूर संघ ऐसा न कर के अथवा बहुत कम करके मुख्यतः हड़ताल आदि करवा कर नियोजकों से मजदूरो की मांगों को पूरा करवाने का ही कार्य करते हैं। इसका एक मुख्य कारण मजदूर संघो के पास वित्त की कमी है। अतः इन कल्याण कार्यों को करने के लिए भी मजदूर संघों की सदस्यता तथा वित्तीय साधनों को बढ़ाना आवश्यक है। इसके लिये मजदूर संघों को अलग से 'कल्याण कोष' ('Benefit Funds') रखने चाहियें। अहमदाबाद का 'टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन' अपनी आय का ६० से ७० प्रतिशत तक भाग इन कल्याण-कार्यों पर व्यय करता है। इससे वह संघ देश के अच्छे मजदूर संघों में प्रथम है। अन्य मजदूर संघों को भी इस दिशा मे उसका अनुसरण करना चाहिये।

(५) हड़ताल कोष (Strike Funds)—श्री वी० वी० गिरि का सुझाव है कि हड़तालो को सफल बनाने के लिए और इस प्रकार मजदूरों, मिल-मालिकों तथा सरकार सभी की आँखों मे उनका मान बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि मजदूर संघ अलग से हड़ताल कोष रखें। हड़ताल के दिनो मे मजदूरों को इस कोष से सहायता दी जानी चाहिये। इससे मजदूरो को बड़ा सम्बल मिलेगा, और उनका उत्साह बढ़ेगा।

(६) पूर्ण कालिक सवैतनिक कार्यकर्ता तथा प्राविधिक विशेषज्ञ (Whole-time Paid Workers & Technical Experts)—मजदूर संघो को अपना कार्य नियमित रूप से बढ़ाने व सुचारू रूप से चलाने के लिये पूर्णकालिक सवैतनिक तथा प्रशिक्षित कार्यकर्ता रखने चाहियें। केवल अवैतनिक कार्यकर्ताओ से काम नहीं चल सकता। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक उद्योग के मजदूर संघो के राष्ट्रीय संघात को ऐसे प्राविधिक विशेषज्ञ नोकर रखने चाहियें, जो उस उद्योग की प्रविधि तथा अन्य बातों से पूर्णतया परिचित हों, जिससे कि मिल-मालिको से बात-चीत के समय उनकी सेवाओं का प्रयोग किया जा सके, और मजदूर संघ केवल इस कारण से घाटे में न रहे कि उनके नेताओ को उद्योग के सभी पहलुओ के बारे मे पूर्ण ज्ञान नहीं है।

(७) मजदूर संघता में प्रशिक्षा (Training in Trade Unionism)—मजदूरों मे से मजदूर संघों के नेता तथा कुशल कार्यकर्त्ता निकालने के लिये मजदूर संघता मे प्रशिक्षा की सुविधाओं की व्यवस्था करना आवश्यक है। इसके लिये आक्सफोर्ड के 'रस्किन विद्यालय' जैसे श्रम विद्यालयो को देश के विभिन्न भागों मे खोलना चाहिये। हाल ही मे कलकत्ता में 'एशियन मजदूर संघ विद्यालय' की

स्थापना से इस दिशा में पहला कदम उठाया जा चुका है। इसी प्रकार के और कई एक विद्यालय देश में खोले जाने चाहियें। दूसरी पंच वर्षीय योजना में भी श्रमिकों की प्रशिक्षा के बारे में व्यवस्था की गई है। मजदूरों तथा मजदूर संघों के कार्यकर्ताओं की शिक्षा तथा ज्ञान वृद्धि के लिए सरल भाषा में रुचि पूर्ण मजदूर संघ पत्रिकायें भी प्रकाशित की जानी चाहियें। मजदूर संघों के हाथों में शिक्षा तथा प्रचार का यह अच्छा यन्त्र होगा। इस समय भी मजदूर संघों के केन्द्रीय संगठन अपनी अपनी पत्रिकायें निकालते हैं। इन में मजदूरों की समस्याओं के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाना चाहिये।

(८) **मजदूरों व मजदूर नेताओं के दायित्व**—मजदूरों व उनके नेताओं को मजदूरों के केवल अधिकारों को ही नहीं, वरन् उनके कर्तव्यों व दायित्वों को भी सदा ध्यान में रखना चाहिये। संघ के कार्यकर्त्ताओं को मजदूरों में अनुशासन व उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना चाहिये और उन्हें यह अनुभव कराना चाहिये कि उचित मजदूरी के बदले में उचित काम भी करना चाहिये। इससे शुभेच्छा के वातावरण का जन्म होगा, जिसमें मजदूर अपनी माँगों को अधिक आसानी से पूरा करवा सकेंगे।

(९) **नियोजक तथा सरकार का मजदूर संघों के प्रति दृष्टिकोण**—

मिल-मालिकों तथा सरकार को यह बात पूर्णतया अनुभव कर लेनी चाहिये कि मजदूर संघ आज के औद्योगिक समाज की आवश्यक संस्था है, और कि देश में औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने और उत्पादन को बढ़ाने के लिये स्वस्थ तथा सशक्त मजदूर संघ आन्दोलन अनिवार्य है। हर्ष की बात है कि देश की राष्ट्रीय सरकार इस बात को अनुभव करती है। मिल-मालिकों को भी चाहिये कि वे भी मजदूर संघों के प्रति अपनी पुरानी द्वेष-भावना का त्याग कर, उन्हें उचित मान तथा मान्यता प्रदान करें। यह उन्हीं के हित में है। एक समाजवादी ढंग के समाज में देश में जिसकी स्थापना का उद्देश्य हमने अपने सामने रखा है, यही दृष्टिकोण मान्य हो सकता है इससे भिन्न नहीं। आशा है इन ऊपर बताये विभिन्न उपायों के अपनाने से भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन एक स्वस्थ तथा सशक्त आन्दोलन बन सकता है।

University Questions

1. 'If Indian labour does not co-operate with employers in *increasing production, not only the community but also labour will* suffer. Examine carefully this statement. *(Agra, 1958)*

2. In what respects have trade unions in India helped to improve the working and living conditions of factory labour? *(Agra, 1957)*

3. To what extent is social security guaranteed to industrial and agricultural workers in India? How would you proceed to exten its scope? *(Agra, 1956)*

4. Write short notes on:—

(a) Factory Legislation.

(b) Labour welfare. (Agra, 1956)

5. What are the basic functions of a trade union ? Do you think our trade unions have discharged their functions satisfactorily ? (Agra, 1954)

6. Describe the landmarks inthe history of factory legislation in India during the past forty years. Discuss their influence on the efficiency of labour. (Agra, 1953)

7. Suggest methods for the promotion of better management-labour relations in India Consider the measures adopted by our Parliament in this regard. (Agra, 1952)

8. Analyse the reasons for the retarded growth of Indian trad unionism. In what manner can the Trade Union Act, 1947 influence its future ? Expound (Agra, 1951)

9. Write a note on the working conditions in Factories in India What has the Government done to improve these in recent years. (Rajputana, 1956, 1952)

10. Look into the working of Trade Unions in India and offer your suggestions to improve their status and efficiency.

(Rajputana, 1955)

11. Survey briefly the development of trade union movement in India. What are the main obstacles to its healthy growth.

(Rajputana, 1953) (Patna, 1955)

12. Write a comprehensive note on the trade union movement in India. (Punjab, 1954)

13. State precisely what has been done in India in the directio of improving the conditions of life and work of the industrial labour. (Punjab, 1954)

14 Discuss the extent to which minimum wages have been fixed in India. How are minimum wages determined ?

(Banaras, 1954)

अध्याय २७

भारत में यातायात

(Transport in India)

प्राक्कथन

यातायात प्रणाली में वे सभी साधन आते हैं, जो व्यक्तियों अथवा वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने ले जाने में सहायता देते हैं। ये साधन एक ही प्रकार के नहीं होते। इनमें आने-जाने के मार्ग व वाहक के आधार पर कई प्रकार की भिन्नता होती है। वैसे साधारणतया मार्ग का चुनाव वाहक का रूप भी निर्धारित करता है। अतः यातायात के साधनों का बहुधा निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजन किया जाता है —

(अ) यातायात के वे साधन जो प्राकृतिक मार्गों जैसे समुद्र, नदियां, आकाश अथवा वायु पथ का प्रयोग करते हैं। इनके उदाहरण हैं पानी के जहाज, नौकायें, वायुयान, आदि।

(आ) यातायात के वे साधन जो कृत्रिम मार्गों, जैसे रेल की पटरी, सड़कें, आदि का प्रयोग करते हैं। इनके उदाहरण हैं—रेल, मोटरकार, मोटर बस, मोटर-साईकल ट्राम, टांगा, बैलगाड़ी, साईकल आदि।

परन्तु हम यहां यातायात के साधनों का अध्ययन निम्नलिखित वर्गीकरण के आधार पर करेंगे—

(१) भूमि यातायात—इसके आगे दो भाग हैं—(अ) रेल यातायात, व (आ) सड़क यातायात, (२) जल यातायात, और (३) वायु यातायात।

महत्त्व—

वर्तमान युग में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, प्रशासकीय अथवा युद्ध सम्बन्धी किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, यातायात व सचार के समुन्नत व विभिन्न साधनों का बहुत अधिक महत्त्व है। संसार के सभी देशों ने विभिन्न क्षेत्रों में जितनी अधिक प्रगति यातायात व सचार के साधनों के विकास के बाद की है, उतनी बहुमुखी प्रगति इतिहास के पहले किसी भी युग ने नहीं की थी। इसीलिये डा० मार्शल ने कहा है कि 'यदि कृषि और उद्योग राष्ट्रीय आकार के शरीर एवं अस्थियां हैं तो संचार के साधन इसके स्नायु हैं।" किपलिंग ने तो यहां तक कहा है कि "यातायात ही सभ्यता" है। आज जो विश्व के सभी देश एक दूसरे के इतने अधिक समीप आ गये हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इतने अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं, यह भी यातायात व सचार के साधनों के विकास का ही परिणाम है।

भारत जैसे देश मे, जो कि आकार मे एक उप-महाद्वीप है, जिसके विभिन्न भागो मे हजारो मीलो का अन्तर है, जिसकी सीमायें हजारों मील लम्बी हैं, जिसमे लाखो की संख्या मे छोटे-छोटे गाव हैं, जिसमे करोडों व्यक्ति निवास करते हैं, जिसमे बहुत से अविकसित क्षेत्र विकास के लिये पड़े हैं, वहा यातायात व सचार के समुन्नत साधनो का होना तो और भी अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा व्यापार अथवा अन्य किसी भी आर्थिक क्रिया का विकास, यातायात व सचार के साधनों के विकास के बिना संभव नही है। देश के कुशल प्रशासन तथा राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक एवं सास्कृतिक विकास के लिये भी यातायात व संचार के सुविकसित साधन अत्यन्त आवश्यक हैं। इसीलिये देश की पहली तथा दूसरी दोनो पंच वर्षीय योजनाओ मे यातायात व सचार के साधनो के विकास को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है, और आगे की पच वर्षीय योजनाओ मे ऐसा ही महत्त्व दिया जाता रहेगा।

नीचे हम भारत मे यातायात के विभिन्न साधनो—रेलों, सड़कों, जल यातायात तथा वायु यातायात का बारी-बारी अध्ययन करते हैं।

भारत में रेलें
(Railways in India)

संक्षिप्त इतिहास

भारतीय रेलें आज १०५ वर्ष पुरानी हो चुकी हैं। सबसे पहली रेलवे लाइन *बम्बई और थाना के बीच २० अप्रैल, १८५३ को जी० आई० पी०* (G. I. P.) नाम की रेल कम्पनी द्वारा चालू की गई थी। वैसे तो भारत मे रेलें चालू करने का काम सन् १८३१-३२ मे ही सोच लिया गया था। परन्तु २०-२१ वर्ष देश का सर्वेक्षण (Survey) करने तथा रिपोर्ट आदि तैयार करने मे ही लग गये। अन्ततः भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल, लार्ड डलहौजी के प्रयत्नो द्वारा १८५३ मे ऊपर बतलाई गई पहली रेल लाइन देश मे खोली गई। नीचे हम भारत मे इसके बाद का रेलो के विकास का संक्षिप्त इतिहास देते हैं—

(१) पुरानी गारण्टी प्रणाली (Old Guarantee System) (१८४९-१८६९)—

भारत मे रेलें बनाने का काम पहले पहल गारण्टी प्रणाली द्वारा आरम्भ हुआ। यह प्रणाली १८४९ से १८६९ तक चली। इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार ने निजी रेल कम्पनियों को कुछ शर्तों पर रेल की लाइनें बनाने तथा रेलें चलाने का ठेका दिया—

(i) सरकार ने निजी कम्पनियो को रेलो मे उनकी लगी हुई पूंजी पर $4\frac{1}{2}\%$ से ५% के बीच ब्याज की दर की न्यूनतम गारंटी दी;

(ii) उन कम्पनियो को बिना मूल्य के भूमि प्रदान की गई;

(iii) सरकार के ये ठेके ९९ वर्ष के लिये थे, परन्तु यदि सरकार चाहे तो २५ अथवा ५० वर्ष के पश्चात् रेलो को खरीद सकती थी। उक्त गारन्टी के कारण

निजी कम्पनियो ने रेल-निर्माण मे मितव्ययिता की ओर विशेष ध्यान नही दिया, जिसके परिणामस्वरप उन्हे लाभ के स्थान पर हानि हुई, और घाटा (लगभग २० करोड रु० का) भारत सरकार को भरना पडा। इस दोष के कारण १८६६ मे सरकार ने इस प्रणाली को त्याग दिया। इस प्रणाली के अन्तर्गत १८६६ तक कुल ८,२५५ मील लम्बा रेल-मार्ग बन पाया।

(२) राज्य द्वारा रेलों का निर्माण तथा प्रबन्ध (१८६६-१८८१)—

१८६६ मे सरकार ने रेलें बनाने और उनका संचालन करने का काम स्वय अपने हाथो मे ले लिया और उसने निजी कम्पनियो की तुलना मे कही नीची लागत पर रेल-मार्गो का निर्माण किया। सस्ते प्रकार के मीटर नाप (Meter Gauge) या छोटी लाइन का प्रचलन भी इसी काल मे आरम्भ हुआ। परन्तु सरकार इस नीति को अधिक समय तक न चला सकी क्योंकि देश मे समय-समय पर पडने वाले अकालो से जनता की रक्षा करने के लिये रेल-निर्माण का कार्य अधिक तेजी से चलाने की आवश्यकता थी। इस सम्बन्ध मे १८८० के अकाल आयोग ने सिफारिश की थी कि शीघ्र ही ५००० मील लम्बी रेलें और बनाई जाये। उन्ही दिनो अफगानिस्तान की लडाई ने भी रेलो का तेजी से विकास आवश्यक बना दिया। उधर सरकार के पास पूंजी की कमी थी, और भारत मन्त्री का यह मत था कि भारत सरकार को एक वर्ष मे २५ लाख पौंड से अधिक पूंजी रेल-निर्माण पर व्यय नही करनी चाहिय। अतः सरकार को अपनी नीति बदलनी पडी और निजी कम्पनियो का सहयोग पुन. प्राप्त करना पड़ा।

१८८१-८२ मे देश मे रेलो की कुल लम्बाई ६,८७५ मील थी, जिसमे से ६,१३२ मील निजी कम्पनियो के स्वामित्व मे और शेष राज्य के स्वामित्व मे थी। इस काल मे भी सरकार को कुल १५ करोड रु० की हानि उठानी पड़ी।

(३) मिश्रित साहस—नई गारंटी प्रणाली (१८८१---१६००)—नई नीति के अन्तर्गत सरकार ने केवल अनुत्पादक रेलो का निर्माण अपने हाथो मे रखा और लाभदायक अथवा उत्पादक रेलो का निर्माण निजी रेल कम्पनियो को सौप दिया। इस बार इन कम्पनियो से जो ठेके किये गये, वे नई गारटी प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसकी शर्तें सरकार के अधिक अनुकूल थी। इस बार सरकार ने केवल ३½% ब्याज की गारंटी दी, कम्पनियो द्वारा अपने अतिरिक्त लाभ का ½ भाग सरकार को देना तै पाया गया। प्रथम २५ वर्ष के पश्चात् फिर आगे प्रति १० वर्ष के पश्चात् इन ठेको पर विचार किया जाना था, और कम्पनियो को पूंजी चुकाने के पश्चात् रेलो पर भारत मन्त्री का अधिकार हो जाना था।

१६०० मे भारत मे रेल मार्ग की कुल लम्बाई २४,७५२ मील थी। तब तक दो रेलो को छोड कर, पुरानी गारंटी प्रणाली की शेष सभी रेलें राज्य के स्वामित्व मे आ चुकी थी, यद्यपि इन मे से अधिकाश का प्रबन्ध नये ठेको के द्वारा पुरानी कम्पनियो को ही दे दिया गया था।

(४) प्रथम महायुद्ध से पहले का काल (१९००—१९१४)—बीसवी शताब्दी के आरम्भ से ही रेलो का विस्तार पहले से अधिक तेजी से होने लगा, और रेलें घाटे के स्थान पर लाभ भी देने लगी। १९०१ मे रेलो के प्रशासन व कार्य-करण की जाच करने के लिए राबटसन समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति की केवल एक सिफारिश मानी गई, जिसके अनुसार १९०५ मे 'रेलवे मण्डल' (Railway Board) की स्थापना की गई, और रेलो का प्रशासन इस मण्डल को सौंप दिया गया। १९०७ मे एक और समिति (मॅके समिति) की नियुक्ति की गई, जिसकी सिफारिश पर १९०८ मे रेलवे मण्डल का पुनस्सगठन कर, उसे पहले से अधिक अधिकार दिये गये। १९०० से १९१४ तक के इस काल मे भारत मे मील से भी अधिक लम्बी रेल लाइनें और बनाई गई। १९१४-१५ मे भारत मे रेल मार्ग १०,००० की कुल लम्बाई ३४,६८५ मील हो गई थी, और भारतीय रेलो मे कुल लगभग ५११ करोड रु० की पूंजी लग चुकी थी।

(५) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४—१९२०) - १९१४ से प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्धकाल मे रेलो का विकास कार्य बिलकुल रुक गया, और उन पर बहुत अधिक भार पडा जिससे उनकी बहुत अधिक घिसाई हुई, और बाहर से सामान मगवाने की सुविधा न होने के कारण उनकी मरम्मत आदि भी पूरी तरह से न हो सकी।

(६) युद्धोत्तर काल (१९२०—१९३०)—१९२० तक गारन्टी कम्पनियो की रेल लाइनो का स्वामित्व तो राज्य ने प्राप्त कर लिया था, परन्तु उनमे से अधिकाश का प्रबन्ध इन निजी कम्पनियों को ही दे दिया गया था। भारतीय जनता की इस प्रबन्ध से कई एक शिकायतें थी, जैसे कि तीसरे दर्जे के यात्रियो को कोई सुविधायें प्राप्त नही थी, रेलों की दरें अनुचित थी, और रेलें भारतीय उद्योगो और व्यापार की आवश्यकताओ के अनुसार यातायात सुविधायें प्रदान नही कर पा रहीं थी। अत. भारतीय जनता रेलो के सरकार द्वारा प्रत्यक्ष प्रबन्ध के पक्ष मे थी। तदनुसार, नवम्बर १९२०-मे सर विलियम एकवर्थ की अध्यक्षता मे इन विभिन्न विषयो की जाच करने के लिए एक रैल जाच समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिये :—

(i) भारतीय रेलो का प्रबन्ध सरकार द्वारा होना चाहिये, न कि निजी कम्पनियो द्वारा।

(ii) रेल वित्त को सामान्य वित्त से अलग कर दिया जाय, ताकि रेलो का समुचित विकास हो सके।

(iii) निजी कम्पनियो के ठेके, उनकी अवधि के समाप्त होते ही, समाप्त कर दिये जाय, और आगे न बढाये जायं।

(iv) रेल मण्डल का पुनस्सगठन किया जाय, और जनमत के प्रतिनिधित्व के लिये केन्द्रीय व स्थानीय सलाहकार समितिया बनाई जाय।

(५) रेलों और जनता के बीच रेल किराया सम्बन्धी झगड़ो का निर्णय करने के लिये एक ट्रिब्यूनल (Railway Rates Tribunal) स्थापित किया जाय।

भारत सरकार ने समिति के इस अन्तिम सुझाव को छोडकर, शेष सभी सुझाव स्वीकार कर लिये, और उन्हे कार्यान्वित भी किया। अधिकाश रेलो का प्रबन्ध उसने अपने हाथो मे ले लिया। १९२४ मे रेल वित्त को सामान्य वित्त से अलग कर दिया। रेलो मे भारतीयो को अधिक नौकरिया दी जाने लगी। रेल-दर ट्रिब्यूनल के स्थान पर सीमित अधिकारो वाली एक सलाहकार समिति की नियुक्ति की गई। १९२० से १९३० के दस वर्षों मे लगभग ५ हजार मील लम्बी और रेल लाइने बनाई गई। १०२९-३० मे रेल मार्ग की कुल लम्बाई ४१,७२४ मील थी।

(७) १९३० से १९३९ तक का काल—१९३० से १९३६ के बीच विश्व-व्यापी मन्दी तथा सडक यातायात की बढती हुई प्रतियोगिता के कारण रेलो की आय बहुत कम हो गई, और उन्हे लाभ के स्थान पर घाटा रहा। इस बीच रेलो को अपना खर्चा पूरा करने के लिए भी विभिन्न कोषो (सुरक्षित कोष और घिसावट कोष) से ऋण लेना पडा। अत सरकार ने रेलो के खर्चे मे मितव्ययिता सुझाने के लिए १९३१ मे इन्चकेप समिति की और १९३२ मे पोप समिति की नियुक्ति की। रेलो की आय को बढाने और रेल-वित्त की दशा को दृढ बनाने तथा रेल-सडक प्रतियोगिता की समस्या पर अपने सुझाव देने के लिये १९३६ मे वेजवुड समिति की नियुक्ति की। इस प्रकार रेलो के लिये १९३० से १९३६ तक का काल एक बडे सँकट का काल रहा। तथापि तत्पश्चात् दशा सुधरी, और रेल फिर से लाभ कमाने लगी।

इस काल मे केवल १३०० मील लम्बा नया रेल-मार्ग बनाया गया। उधर, १९३५ मे बर्मा के भारत से अलग हो जाने के कारण लगभग २००० मील लम्बा रेल-मार्ग बर्मा मे चला गया। १९३९-४० मे भारत मे रेल-मार्ग की लम्बाई ४१,१५६ मील और रेलो मे लगी हुई कुल पू जी ८५२ ५६ करोड़ रु० थी।

(८) १९३९ से १९४७ तक का काल—१९३९ मे दूसरा विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध- काल मे भारतीय रेल पर कई तरह के सक ट पडे। एक तो कई सौ मील लम्बी रेल की लाइनो को उखाड कर तथा बडी सख्या मे रेल के इ जन, माल व सवारी गाडियो के डिब्बे और रेल कर्मचारी युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये विदेशो को भेज दिये गये। दूसरे सैनिक यातायात मे कई गुना वृद्धि होने तथा युद्धकाल मे देश मे भी आर्थिक क्रियाओ के बढने के कारण माल और यात्रियो की यातायात बहुत अधिक बढ गई। रेलें इतनी अधिक ट्रैफिक का भार उठाने के बिलकुल असमर्थ थी। अत. रेलो मे बहुत अधिक भीड रहने लगी, और मालगाडियो की कमी के कारण माल महीनो स्टेशनो पर पड़ा रहने लगा। इस सबसे रेल पू जी की घिसाई भी बहुत

अधिक हुई । तीसरे युद्ध के कारण विदेशो से रेल के इंजिन, डिब्बे, रेल की पटरियां तथा अन्य सामान की आयात न हो सकी, जिससे रेलो की सामान्य टूट-फूट और घिसाई, आदि का भी पुन स्थापन न हो सका । युद्ध आरम्भ होने से पहले मन्दीकाल मे रेलो की आय कम हो जाने से इस प्रकार की कमी पहले से ही चली आ रही थी । अत युद्ध समाप्त होते-होते रेलो की वास्तविक पूंजी सम्बन्धी दशा बहुत खराब हो चुकी थी, और उनके पुन.स्थापन की भारी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी । तथापि युद्ध से रेलो की वित्तीय स्थिति सुधरी । रेलो पर ट्रैफिक बढ जाने से रेलो की आय बढी, उन्होने अपने पुराने ऋण चुका दिये, और सरकारी बजट मे भी प्रचुर मात्रा मे योग दिया ।

(६) विभाजन तथा उसके पश्चात् (१९४७ के पश्चात्)—अभी रेलें युद्धकालीन मात्रा के भार से संभलने भी न पाईं थी कि देश मे हिन्दु-मुस्लिम झगडे आरम्भ हो गये और अगस्त, १९४७ मे देश का विभाजन हो गया । इससे लाखो की संख्या मे ,लोग पाकिस्तान से भारत मे और भारत से पाकिस्तान मे आये और गये । रेलो ने इस कार्य को बड़ी कुशलता से सम्पन्न किया ।

देश के विभाजन के साथ-साथ रेलो का भी विभाजन हुआ । कुछ रेलें (जैसे उत्तर पश्चिमी और बंगाल आसाम रेलवे का अधिकांश भाग, जोधपुर-हैदराबाद रेलवे का कुछ हिस्सा) पाकिस्तान मे चली गईं और इनके साथ-साथ परिभ्रमण पूंजी (Rolling Stock) व वर्कशापो आदि का भी बटवारा हुआ । लगभग ७ हजार मील लम्बी रेलें पाकिस्तान को मिली और शेष लगभग ३४ हजार लम्बी रेलें भारत मे रही । रेलो के अधिकाश कुशल कारीगर मुसलमान थे । विभाजन के पश्चात् उन्होने पाकिस्तान जाने का निर्णय किया । इससे भारतीय रेलो की कार्य-क्षमता भी बहुत कम हो गई। उधर पाकिस्तान से दफ्तरी बाबू भारत आये । इससे उनकी बेरोजगारी बढी । विभाजन का रेल-वित्त पर भी बुरा प्रभाव पडा । आय घट गईं, व्यय बढ गये । इस प्रकार विभाजन से रेलो की कठिनाइयां बहुत अधिक बढ गईं ।

रेलों का पुनस्स्थापन तथा विकास

जैसा कि हमने ऊपर पढा कि मन्दी काल मे रेलो से कमाई कम हुई और उन्हें घाटा उठाना पड़ा, और फिर द्वितीय महायुद्ध छिड गया । उस अवधि मे रेलों से काम अधिक लिया गया, लाइनें, इन्जन आदि घिस गये, रेल के डिब्बे टूट-फूट गये परन्तु उन्हे बदला न जा सका । इन दोनो कारणो से रेलो को अपनी परिभ्रमण पूंजी (Rolling Stock) के पुनस्स्थापन तथा आधुनिकीकरण की समस्या का सामना करना पडा । परन्तु मन्दीकाल मे अधिक घाटे के कारण तथा लड़ाई के दिनो मे आयात रुक जाने के कारण तथा ध्यान लडाई की ओर बटा हुआ होने की वजह से रेलों का पुनस्स्थापन तथा आधुनिकीकरण न हो सका । विभाजन ने रेलो पर और

भार डाला, और साथ ही देश के स्वतन्त्र होने से देश मे आर्थिक विकास का जो क्रम प्रारम्भ किया जाना था, उसने रेलो के पुनस्स्थापन तथा विकास की आवश्यकता को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया। रेले राष्ट्रीय उपक्रम होने के कारण, इस बात का भार केन्द्रीय सरकार पर पडा। अत पहली और दूसरी दोनो ही पच-वर्षीय योजनाओं मे रेलो के पुनस्स्थापन व विकास के उचित कार्यक्रम शामिल किये गये और उन्हे पूरा करने के लिये बडी धन-राशियो की व्यवस्था की गई। नीचे हम इन दोनो योजनाओ के अन्तर्गत रेलो का अध्ययन करते है।

प्रथम योजना में रेलें

प्रथम योजना मे रेलो के सम्बन्ध मे मुख्य कार्यक्रम रेलो की परिभ्रमण पूंजी तथा स्थिर पूंजी का पुनस्स्थापन एवं आधुनिकीकरण, और एक बहुत छोटी सीमा तक रेल-सुविधाओ का विकास करना रखा गया था। इस कार्यक्रम के लिये योजना मे २५० करोड रु० की राशि रखी गई थी। इसके अतिरिक्त १५० करोड रु० चालू घिसाई खाते से उपलब्ध होते थे। इस प्रकार योजनाकाल मे रेलो पर ४०० करोड रु० व्यय किये जाने थे। परन्तु इन पर वास्तव मे ४३२ करोड रु० व्यय हुए, क्योंकि योजना के अन्तिम वर्षो मे रेलो के इ जन व डिब्बे प्राप्त करने का विशेष कार्यक्रम हाथ मे ले लिया गया था। इस राशि मे से लगभग २५३ करोड रु० परिभ्रमण पू जी और मशीनरी पर विशेषत उनके पुनस्स्थापन के लिये, खर्च किये गये थे। फिर भी योजना के अन्त मे प्रयोग मे आ रहे लगभग ३१% इ जिन, २०% मालगाडियो के डिब्बे और २४% यात्री डिब्बे ऐसे थे जिनकी आयु पूरी हो चुकी थी। इसी प्रकार रेलो की स्थिर पू जी के पुनस्स्थापन का अधिकाश भाग दूसरी योजना मे ही पूरा किये जाने के लिये बच गया था। तथापि योजनाकाल मे देश मे रेल के इ जिन और डिब्बे आदि बनाने की दिशा मे सन्तोषजनक प्रगति हुई। १९५१-५२ और १९५५-५६ के बीच देश मे रेल के इ जनो का उत्पादन २७ से बढकर १७९, यात्री-डिब्बो का उत्पादन ६७३ से बढकर १,२२१ और माल डिब्बो का उत्पादन ३,७०७ से बढकर १४,३१७ हो गया। १९५३ मे सरकार का चितरंजन (पश्चिमी बगाल) मे रेल के इ जिन बनाने का कारखाना १५ करोड रु० की लागत पर बन कर पूर्ण हो गया, और इसने योजनाकाल मे ३४१ इ जिन तैयार किये, जबकि योजना का लक्ष्य केवल २६८ इ जिन था। टाटा के कारखाने (TEL-CO) ने छोटी लाइन के इ जनो का उत्पादन १० प्रतिवर्ष से बढाकर ५० प्रतिवर्ष कर दिया। १९५५ मे पेराम्बुर (मद्रास) मे रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना भी चालू हो गया। इसके अतिरिक्त, योजनाकाल मे ३८० मील लम्बी तया रेल मार्ग तैयार किया गया, ४३० मील लम्बी पुरानी रेललाइन, जो कभी उखाड दी गई थी, फिर से बिछाई गई, ४६ मील लम्बी छोटी लाइन को बडीलाइन मे बदला गया, तीसरे दर्जे के यात्रियो के लिये सुविधाओ को बढाया गया, रेल कर्मचारियों के कल्याण की ओर अधिक ध्यान दिया गया और उनके रहने के लिये ४०,००० नये

क्वार्टर बनाये गये, और रेलों की कार्य-क्षमता (Operational Efficiency) को बढ़ाने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

दूसरी योजना में रेलें

दूसरी योजना में देश के आर्थिक विकास, विशेषतः औद्योगिक विकास, के क्रम को और भी तेजी से बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे रेलों द्वारा ढोये जाने वाले माल की मात्रा बहुत बढ़ रही है। प्रथम योजना के अन्त (१९५५-५६) में रेलों ने अनुमानतः १२ करोड़ टन माल ढोया। अनुमान है कि दूसरी योजना के अन्त में अर्थात् १९६०-६१ में रेलों को १८ करोड़ ८ लाख टन माल ढोना पड़ेगा। ६ करोड़ ८ लाख टन की इस वृद्धि में से २ करोड़ टन की वृद्धि कोयले के उत्पादन में वृद्धि के कारण, १ करोड़ ८० लाख टन की वृद्धि इस्पात के कारखानों के कारण, ५० लाख टन की वृद्धि सीमेंट के उत्पादन में वृद्धि के कारण और शेष १ करोड़ ७८ लाख टन की वृद्धि अन्य क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ जाने के कारण होगी। इसके अतिरिक्त, रेल यात्रियों की संख्या में भी वृद्धि होगी। रेल-यातायात में होने वाली इस वृद्धि का सामना करने के लिये रेल-लाइनों और इंजिनों तथा डिब्बों की सामर्थ्य को बढ़ाना, तथा साथ ही, रेलों की चल व अचल सम्पत्ति के पुनर्स्थापन व आधुनिकीकरण के कार्यक्रम को जारी रखना आवश्यक है। तदनुसार, योजना-काल में रेलों के विकास पर व्यय करने के लिये ११२५ करोड़ रु० की भारी रकम की व्यवस्था की गई है। इसमें से २२५ करोड़ रु० रेलों के घिसाई कोष (Railway Depreciation Fund) में से व्यय किये जायेंगे, और शेष ९०० करोड़ रु० दूसरी योजना के अन्तर्गत किये जाने व्यय में से प्राप्त होंगे—इसमें से भी १५० करोड़ रु० रेलें अपनी आय में से देंगी, और शेष ७५० करोड़ रु० सामान्य राजस्व में से व्यय किये जायेंगे। इतनी बड़ी रकम व्यय करने के पश्चात् भी रेलें सम्भवतः सभी नई यातायात का भार न उठा सकेंगी। माल के ढोने में अनुमानतः इंजिनों व डिब्बों में १०% की कमी और रेल लाइनों में ५% की कमी रहेगी, और यात्री गाड़ियों में थोड़ी बहुत भीड़ बनी रहेगी, तथा नई रेल-लाइनें बिछाने का बहुत सीमित कार्यक्रम हाथ में लिया जायेगा।

नीचे हम योजना में शामिल किया गया रेलों के विकास का कार्यक्रम बहुत संक्षेप में देते हैं—

योजनाकाल में ८४२ मील लम्बी नई रेल लाइन उन क्षेत्रों में बिछाई जायेगी, जहां इस्पात, लोहे तथा कोयले के उद्योगों के विस्तार के कारण इनकी बहुत अधिक आवश्यकता है। इस पर ६६ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है। वर्तमान रेल-लाइनों की सामर्थ्य को बढ़ाने के लिये १६०७ मील लम्बी लाइन को दोहरा किया जायेगा, और २६५ मील लम्बी लाइन को बड़ी लाइन में बदला जायेगा तथा माल गोदामों (Goods Sheds) का विस्तार किया जायेगा। इस पर अनुमानतः १८६ करोड़ रु० व्यय होंगे। साथ ही, लगभग १०० करोड़ रु० की

लागत पर लगभग ८००० मील लम्बी पुरानी रेल लाइनों को बदलकर फिर से बिछाया जायेगा। रेलों की कार्यक्षमता को बढाने तथा उनकी सेवा की लागत को कम करने के लिये लगभग ८० करोड रु० की लागत पर ८२६ मील लम्बी रेल लाइन पर बिजली तथा १२९३ मील लम्बी रेल लाइन पर डीजिल चालक शक्ति का प्रयोग किया जायेगा।

योजनाकाल मे रेलो की परिभ्रमण पूंजी (Rolling Stock) का भी विकास किया जायेगा। इसके लिये लगभग ३८० करोड रु० की लागत पर २,२५८ इंजिन, लगभग १ लाख ७ हजार माल डिब्बे और लगभग ११ हजार यात्री डिब्बे उपलब्ध करने का लक्ष्य रखा गया है। इनमे से १,३५२ इंजिन, लगभग २४ हजार माल डिब्बे और लगभग ६ हजार यात्री डिब्बे आयु-प्राप्त और निकम्मे इंजिनो व डिब्बो के स्थान पर काम मे लाये जायेंगे, और शेष रेलों की परिभ्रमण पूंजी मे वृद्धि करेंगे। इससे आयु-प्राप्त और निकम्मा सामान कुल सामान की तुलना मे बहुत कम रह जायेगा।

इंजिनो और डिब्बो की इस बढती हुई माग को यथासभव घरेलू उत्पादन से पूरा करने का प्रयत्न किया जायेगा। इसके लिये कुछ वर्तमान कारखानो का विस्तार किया जायेगा तथा ६ नये कारखाने और रनिंग शेड बनाये जायेंगे, छोटी लाइन के यात्री डिब्बे बनाने के लिये एक नया कारखाना तथा जोडहीन यात्री डिब्बो के लिये एक फर्निशिंग इकाई बनाई जायेगी। तदनुसार, चितरंजन इंजिन कारखाने का विस्तार किया जा रहा है जिससे यह कारखाना प्रतिवर्ष ३०० इंजिन बनाने लगेगा। इसी प्रकार टाटा का कारखाना, विस्तार के पश्चात्, प्रति वर्ष १०० छोटी लाइन के इंजिन बनाने लगेगा। योजना के अन्त तक यात्री डिब्बो का निर्माण १,२६० प्रति वर्ष से बढकर १,८० प्रतिवर्ष और माल डिब्बो का निर्माण लगभग १३.५ हजार डिब्बो से बढकर २५ हजार प्रति वर्ष हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त रेल विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत पुराने पुलो का पुनस्स्थापन किया जायेगा, और कुछ एक नये पुल बनाये जायेंगे, सिगनल तथा सुरक्षा साधनो मे और रेल यात्रियो की सुविधाओं मे सुधार किये जायेंगे, रेल कर्मचारियो को प्राप्त मकानो तथा अन्य कल्याण सुविधाओं मे वृद्धि की जायेगी, आदि आदि।

रेलों की वर्तमान स्थिति

भारत मे रेलें सबसे बड़ा राष्ट्रीय उपक्रम (Nationalised Enterprise) हैं। इनका स्वामित्व तथा कार्यकरण केन्द्रीय सरकार के हाथो मे है। इसके लिये केन्द्र मे अलग से रेल मन्त्रालय है। देश मे केवल लगभग ४५० मील लम्बी नैरो गेज (Narrow Gauge) की सहायक लाइनें (Feeder Lines) निजी कम्पनियों के स्वामित्व तथा कार्यकरण मे है। १९५६-५७ के अन्त मे भारतीय रेलो मे कुल १,०७८ करोड रु० की पूंजी लगी हुई थी। उस वर्ष की इनकी कुल आय ३५०.५ करोड रु०, इनका चालू खर्चा २८० करोड रु० और इनकी शुद्ध आय ७०.५ करोड रु० थी। भारतीय रेलें अपने चालू और स्थिर खर्चे पूरा करने के अतिरिक्त, सामान्य राजस्व को भी प्रतिवर्ष करोडो रु० का योगदान देती है। १९५६-५७ के अन्त मे

इनमें लगभग १० ५ लाख व्यक्ति काम पर लगे हुए थे, और उन्हें १५६ करोड़ रु० मजदूरी व वेतन के रूप मे दिया गया था।

इसी वर्ष के अन्त मे रेल लाइनों की कुल लम्बाई ३४,७४४ मील थी। इस कारण से भारतीय रेल प्रणाली एशिया मे सबसे बड़ी और विश्व मे चौथी बड़ी है। तथापि, भारत के क्षेत्रफल को देखते हुए अभी तक भी भारतीय रेलो का *विकास आवश्यकता से कम है।* यहां प्रति १००० वर्ग मील के पीछे औसतन् लगभग २९ मील लम्बी रेल लाइनें हैं, जबकि इङ्गलैंड मे भी और जर्मनी मे भी यह लम्बाई २०० मील, और बेल्जियम में ४०० मील है।

१९५७ मे भारतीय रेलो ने प्रति दिन औसतन् ३८ लाख व्यक्तियों तथा ३·४ लाख टन माल को ढोया।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत रेलो की यात्रियो तथा विशेषतः माल ढोने की सामर्थ्य को काफी बढाया जायेगा तथा उनकी कार्य क्षमता मे भी वृद्धि होगी। इसका हम पहले ही ऊपर अध्ययन कर आये हैं।

रेलों का पुन. वर्गीकरण (Regrouping of Railways)

भारत मे रेलों के उचित वर्गीकरण का प्रश्न काफी पुराना है। सन् १९२०-२१ में एकवर्थ समिति ने यह सुझाव रखा था कि भारतीय रेलों को तीन बड़े क्षेत्रों (Zones)—पश्चिमीय, पूर्वीय तथा दक्षिणीय—मे बाट दिया जाय। उसके पश्चात् १९३६ मे वैजवुड समिति ने यह सलाह दी थी कि भारतीय रेलो को अन्तत आठ वर्गों में बांट दिया जाना चाहिए। परन्तु अन्ततः इस प्रकार का पुन. वर्गीकरण १९५१–५८ के बीच हो पाया। इस पुनः वर्गीकरण के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) पिछले १०० वर्षों मे भारतीय रेलों का विकास बिना किसी योजना के हुआ था, जिसके फलस्वरूप विभिन्न रेलो के स्वामित्व एव कार्यकरण तथा कार्यक्षमता व जन सेवा के स्तर मे बहुत अधिक भिन्नता थी। कुछ रेलें राज्य के अधिकार और प्रबन्ध मे थी, कुछ राज्य के अधिकार मे परन्तु निजी कम्पनियों के प्रबन्ध मे थी तथा कुछ अन्य रेलें निजी कम्पनियो के स्वामित्व तथा प्रबन्ध मे थी। इन छोटी-बड़ी प्रबन्ध-इकाइयो के होने से रेलो की न तो कार्यक्षमता ही बढाई जा सकती थी, और न मितव्ययिता ही की जा सकती थी।

(२) कुछ देशी रियासतो के पास उनकी अपनी रेलें थी। १९४८–४९ में देशी रियासतो के भारत मे विलय के कारण, उनकी रेलें भी भारतीय रेलों मे मिल गईं। इन रेल लाइनो की कुल लम्बाई ७ ५६० मील थी। परन्तु इनमे से कोई-कोई तो केवल ५ मील लम्बी ही थी। स्पष्टतया इनका पुनर्संगठन *अत्यन्त* आवश्यक था।

(३) अगस्त, १९४७ मे देश का विभाजन होने के साथ साथ रेलों का भी विभाजन हुआ। विभाजन से बगाल-असम रेलवे का तथा उत्तर पश्चिमीय रेलवे

का थोडा-थोडा भाग असम रेलवे तथा पूर्वी पंजाब रेलवे के रूप में भारत में रह गया। इन रेलों पर कमाई कम थी, और खर्च अधिक।

अत इन सभी कारणों से रेलों के प्रशासन में मितव्ययिता लाने और उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये उनका पुनस्सगठन आवश्यक समझा गया। इस समस्या की जाँच करने व सुझाव देने के लिये रेलवे मण्डल ने १९४९ में एक समिति की नियुक्ति की, जिसने अगले वर्ष यह सिफारिश की कि, कुछ निजी स्वामित्व की हल्की रेलों को छोड़ कर, समस्त भारतीय रेलों, जिनकी लम्बाई तब लगभग ३४ हजार मील थी, का पुनस्सगठन कर दिया जाय। तदनुसार, भारतीय रेलों को छः क्षेत्रों में बाटने की एक योजना तैयार की गई, और इसे १९५१-५२ में लागू कर दिया गया। सन् १९५५ में पूर्वी रेलवे को आगे दो भागों में बाट दिया गया, और जनवरी, १९५८ में उत्तर पूर्वीय रेलवे में से उत्तर पूर्वीय सीमा रेलवे को पृथक कर दिया गया। इस प्रकार पुन: वर्गीकरण से पहले देश में जहा ३७ छोटी बडी रेल प्रणालियाँ थीं वहाँ अब उनके स्थान पर उन्हे आठ क्षेत्रीय रेलों में सगठित कर दिया गया है। यह पुनस्सगठन निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है :—

(१) प्रत्येक रेलवे को एक संहत क्षेत्र (Compact Region) में कार्य करना चाहिए, जिससे कि वह उस क्षेत्र की रेल-यातायात की आवश्यकताओं को भली प्रकार से पूरा कर सके।

(२) प्रत्येक क्षेत्र इतना बड़ा होना चाहिए, जिससे कि उसमें सभी प्रकार की सुविधायें मिल सकें, जैसे कि उच्च कोटि के मुख्य कार्यालयों, कारखानों और वर्कशापों तथा शिक्षण एव अनुसधान सस्थाओं का सगठन हो सके, और रेलों का कुशलता एव मितव्ययिता से प्रशासन हो सके।

(३) पुन: वर्गीकरण इस प्रकार से किया जाना चाहिए, जिससे कि रेलों की वर्तमान कार्य-प्रणाली में कोई भी बाधा न पहुचे, और उनकी कार्यक्षमता में अस्थाई कमी भी न आये।

(४) प्रत्येक क्षेत्र में रेलों की लम्बाई लगभग समान होनी चाहिए।

इन आधारों पर भारतीय रेलों का आठ क्षेत्रों में पुन: वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण नीचे की सारणी में दिया गया है :—

रेलवे क्षेत्र (Railway Zones)*

क्रम संख्या	क्षेत्र (Zone)	निर्माण की तिथि	जो रेलें शामिल हैं	मुख्य कार्यालय	३१-३-१९५७ को रेल पथ की लम्बाई(मीलोंमें)
१.	दक्षिणी	१४-४-१९५१	मद्रास एण्ड सदरन मरहट्टा रेलवे, साउथ इण्डियन एण्ड मैसूर रेलवे.	मद्रास	६,१००
२.	केन्द्रीय	५-११-१९५१	जी० ग्राई० पी० रेलवे, निज़ाम स्टेट रेलवे, सिंदिया रेलवे ग्रौर धौलपुर रेलवे.	बम्बई	५,२६६
३.	पश्चिमी	५-११-१९५१	बी० बी० एण्ड सी० ग्राई० रेलवे, सौराष्ट्र कच्छ रेलवे, राजस्थान रेलवे तथा जयपुर रेलवे.	बम्बई	६,०१३
४.	उत्तरी	१४-४-१९५२	ईस्टर्न पंजाब रेलवे, जोधपुर बीकानेर रेलवे, ग्रौर ई० ग्राई० रेलवे के तीन ग्रपर डिविजन.	दिल्ली	६,३३६
५.	उत्तर-पूर्वी	१४-४-१९५२	ग्रवध एण्ड तिरहुट रेलवे, ग्रासाम रेलवे, ग्रौर बी० बी० एण्ड सी० ग्राई० रेलवे का फतहगढ़ जिला	गोरखपुर	३,०६०
६.	उत्तर-पूर्व सीमा (North East Frontier)	१५-१-१९५८		पण्डु	१,७३८
७.	पूर्वी	१-८-१९५५	ईस्ट इण्डियन रेलवे (तीन ग्रपर डिविजनों को छोड़ कर)	कलकत्ता	२,३२१
८	दक्षिण-पूर्वी	१-८-१९५५	बंगाल नागपुर रेलवे	कलकत्ता	३,४२४

* Source India 1958, p. 369—370

इस पुनः वर्गीकरण के कई एक लाभ हुए हैं, जैसे कि इससे सीधी गाडियो (Through Trains) का चलना सरल हो गया है। रेल प्रशासन की कुशलता बढ गई है तथा धन व्यवस्था, किराया भाडा, माल की खरीद, मजदूरी का स्तर आदि महत्वपूर्ण बातो मे समान नीति अपनाई जाने लगी है और रेलो की परिभ्रमण पूंजी का अधिक अच्छा उपयोग होने लगा है। परन्तु साथ ही हमे यह भी मानना पडेगा कि पुनः वर्गीकरण से रेलो के खर्चे मे विशेष बचत नही हुई है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेषज्ञो के अनुसार, रेलो के नये क्षेत्र भी बहुत बडे है, जिससे रेलो की देखभाल अच्छी तरह से नही हो पाती है, और अत्यधिक केन्द्रीयकरण के दोष पनप रहे है। तथापि, अन्ततोगत्वा हम यही कहेंगे कि रेलो का यह पुनः वर्गीकरण भारतीय रेलो और रेल यातायात के हित मे ही हुआ है।

रेलों से लाभ तथा हानियां—

भारत म १८५३ मे पहली रेल लाइन का उद्घाटन हुआ था। तब से आज तक देश मे इनका पर्याप्त विकास हुआ है, और अब देश के सभी भागो मे रेले पहुंच गई है। रेलो के इस प्रसार ने हमारे जीवन के सभी पहलुओं—आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक—को अत्यधिक प्रभावित किया है, और इसे इसका वर्तमान स्वरूप प्रदान किया है। नीचे हम रेलो के विभिन्न प्रभावो को इसके लाभो व हानियो के रूप मे पढते हे।

रेलों से लाभ— (1)

(अ) आर्थिक लाभ—कृषि—रेलो ने कृषि के स्वरूप को ही बदल दिया है। पहले खेती जीवन-निर्वाह व स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ही की जाती थी। रेलो ने गावो को मण्डियो और बन्दरगाह नगरो से जोड कर, बाज़ारो का विस्तार बढा दिया है। इससे कृषि का व्यापारीकरण (Commercialisation) हो गया है। अब किसान खाद्य-फसलो के अतिरिक्त, कपास, जूट, गन्ना, तिलहन आदि नकद फसलो (Cash Crops) को भी बढती हुई मात्रा मे बोने लगे है। इससे खेती में विशिष्टीकरण भी बढा है। रेलो के बनने से फलो व सब्जियो, आदि शीघ्रनाशी वस्तुओ का उत्पादन भी देश मे बढ़ा है। इस सब से भारतीय किसानो की आर्थिक दशा सुधरी है, और उनकी जानकारी का क्षेत्र बढा है। वे अब रेलो द्वारा आसानी से लाये जाने वाले नये प्रकार के कृषि-यन्त्रों, मशीनो व उर्वरको आदि को प्रयोग करने लगे है, जिससे कृषि की धीरे-धीरे उन्नति हो रही है। रेलो से सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की ही पृथकता, आत्म-निर्भरता और शिथिलता टूट रही है और वह न केवल राष्ट्रीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का अङ्ग हो कर काम तथा उन्नति करने पर बाध्य हो रही है।

दुर्भिक्ष—रेलो का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लाभ दुर्भिक्षो के क्षेत्र मे हुआ है। रेलें बनने से पूर्व लगभग प्रत्येक वर्ष ही देश के किसी न किसी भाग मे दुर्भिक्ष पडा करते थे, जिसमे मनुष्यो और पशुओ दोनो की अकाल मृत्यु होती थी।

कई बार तो इन मृत्युओं की संख्या कई-कई लाख होती थी। और यह तब होता था, जब देश के अन्य भागों में खाद्यान्न का आधिक्य होता था। रेलों के बनने से देश मे दुर्भिक्षों का प्रकोप लगभग समाप्त हो गया है। अब देश के किसी भाग मे खाद्य-स्वल्पता की स्थिति में खाद्य-आधिक्य वाले क्षेत्रों से वहाँ बडी आसानी और शीघ्रता से खाद्यान्न पहुचाया जा सकता है। अतः अब अकालों का स्वरूप ही बदल गया है। अब अकाल 'खाद्य-अकाल' न रह कर, केवल 'द्रव्य-अकाल' रह गये हैं, अर्थात् लोगो के पास क्रय शक्ति न होने से ही वे अनाज खरीदने में असमर्थ होते हैं, अनाज की कमी के कारण नहीं।

७ उद्योग—रेलो ने आधुनिक उद्योगो की स्थापना मे भी बहुत सहयोग दिया है। रेलें नीची लागत पर और शीघ्रता के साथ कोयला, मशीनें और कच्चा माल औद्योगिक केन्द्रों तक ले जाती हैं, और कारखानों मे बना हुआ पक्का माल देश के विभिन्न भागो मे वितरित करती है। रेलो ने श्रम की गतिशीलता को बढ़ा कर कारखानो मे काम करने के लिये श्रमिको को प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त, रेलो ने कई प्रकार के इन्जीनियरी उद्योगो तथा कोयला उद्योग को प्रत्यक्ष रूप से देश मे प्रोत्साहित किया है, क्योंकि रेलें कोयले तथा कई प्रकार की इन्जीनियरी तथा अन्य वस्तुओं की बहुत बडी उपभोक्ता है। निश्चित ही देश के औद्योगिक विकास के लिये रेलें और रेलो का विकास अनिवार्य है।

८ व्यापार—रेलो ने आन्तरिक और विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार के परिमाण मे बडी वृद्धि की है। यह स्पष्ट ही है।

९ श्रम—रेलो ने देश मे रोजगार की मात्रा को बढ़ाया है। एक तो रेलें स्वयं बडी संख्या मे श्रमिको को रोजगार प्रदान करती है। दूसरे रेलो के कारण देश के जिस बहुमुखी आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिला है, उससे भी रोजगार की मात्रा बढ़ी है। फिर रेलें श्रमिको की गतिशीलता को बढ़ा कर, बेरोजगारी को कम करती हैं।

पूंजी—भारतीय रेलें, विशेषतः निर्माण की प्रारम्भिक दशाओं मे, मुख्यतः विदेशी पूंजी की सहायता से बनाई गई हैं। इससे देश में पूंजी की मात्रा बढ़ी है। वैसे भी रेलो ने देश मे पूंजी-निर्माण मे बड़ा योग दिया है।

१ सरकारी आय—देश मे रेलो के कारण धन के उत्पादन मे जो वृद्धि हुई है, उससे सरकार की कर-आय बढ़ी है। इसके अतिरिक्त, रेलें राज्य उपक्रम होने के कारण, अब सामान्य राजस्व मे भारी योग देती हैं।

अन्य—रेलो के बनने से देश के विभिन्न भागो मे वस्तुओं के मूल्य लगभग एक समान रहने लगे हैं। यह इसलिये क्योंकि रेलो के द्वारा वस्तुओं और उत्पादन साधनों को शीघ्रता व आसानी के साथ कम खर्च पर ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुचाया जा सकता है।

आर्थिक विकास की किसी भी योजना की सफलता भी, एक बड़ी सीमा

तक, रेलो के पर्याप्त विकास पर निर्भर होती है, क्योंकि ऐसी किसी भी योजना में पहले की अपेक्षा कही बड़ी मात्रा मे विभिन्न प्रकार के सामान को ढोने की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये भारत की दोनो पच-वर्षीय योजनाओ मे रेलो के विकास को बहुत महत्व प्रदान किया गया है।

(आ) सामाजिक लाभ—रेलो से भारत मे कई एक सामाजिक लाभ भी प्राप्त हुए है। इनके बनने से लोगो मे छूआछूत की भावना कम हो गई है। रेल के डिब्बे मे विभिन्न जातियो व सम्प्रदायो के लोग बिना किसी भेद-भाव के एक दूसरे से कन्धा रगड़ते हैं। इससे जाति प्रथा की कठोरता कम हुई है। रेलो के द्वारा लोगो की गतिशीलता के बढ़ने से सयुक्त परिवार प्रणाली की सकीर्णता भी दम तोड़ रही है। लोग रेलो के द्वारा देश के विभिन्न भागो मे आते जाते और रहते है। इससे उनमे सामाजिक और सास्कृतिक एकता की भावना जाग्रत हो रही है, वे अपने विचारो मे अब पहले से अधिक उदार हो रहे हैं। गावो मे भी नये जीवन व ज्ञान का प्रकाश फैल रहा है। वहाँ तथा शहरो मे लोगो को जीवन की अधिकाधिक सुविधायें उपलब्ध हो रही हैं। इससे उनका रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठ रहा है।

(इ) राजनीतिक लाभ—रेले देश मे राजनीतिक एकता को बनाये रखने मे भी बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुई है, और हो रही है। भारत जैसे विशाल देश मे, रेलो जैसे यातायात के तीव्रगामी साधन के बिना, एक स्थाई राज्य की स्थापना संभव नही हो सकती। इनकी सहायता से ही देश की सरकार देश के विभिन्न भागों का सफल आन्तरिक प्रशासन कर सकती है, और विदेशी आक्रमण से रक्षा कर सकती है।

रेलो से हानियां—

भारत मे रेलें शुद्ध लाभदाता ही नही रही हैं। इनमे से कुछ निम्नलिखित हानियां भी हुई हैं:—

(१) रेलो के बनने से हमारे देशी कुटीर उद्योगो तथा हस्तकलाओ का ह्रास हो सका है। इससे पहले ये देश मे बडी समृद्धि दशा मे थे। परन्तु रेलो के बनने से इङ्गलैंड तथा अन्य विदेशो का मशीनो से बना सस्ता माल देश के कोने-कोने मे पहुंचने लगा, जिससे देश मे ही हाथ से बने महगे माल की माग कम होती गई, और देशी उद्योगो का पतन हुआ।

इसका एक और दुष्परिणाम यह हुआ कि इन उद्योगो मे लगे कारीगर बेकार हो गये, और वे अपनी जीविका के लिये खेती पर निर्भर हो गये। इससे देश मे खेती पर जन सख्या का भार बढ गया, जोतो का औसत आकार कम हो गया, और फलत खेती की कार्य-क्षमता भी कम हो गई।

(२) रेलो के बनने से, जहां एक ओर मशीनो से बना सस्ता विदेशी माल भारत मे बड़ी मात्रा मे बिकने लगा, वहाँ दूसरी ओर यहा का कच्चा माल बड़ी

मात्रा में विदेशों को निर्यात किया जाने लगा। रेलों ने इस कच्चे माल को एकत्र करने में बड़ी सहायता पहुंचाई। इससे भारत केवल एक कृषि-प्रधान देश व कच्चे माल की विदेशों को पूर्ति करने वाला देश ही रह गया। इसका अपना औद्योगिक विकास न हो पाया।

(३) भारतीय रेलों का निर्माण विदेशी पूंजी से हुआ था। इससे इस पूंजी के लाभ भी विदेशियों को ही मिले। साथ ही, विदेशी पूंजी से भारतीयों को जितनी हानियां हुई हैं, वे सभी हानियां रेलों में लगी पूंजी पर भी लागू होती हैं।

(४) *यह ठीक है कि रेलों के बनने से जाति प्रथा और संयुक्त परिवार* प्रणाली के बन्धन ढीले हुए हैं, परन्तु यह भी तो ठीक है कि मुख्यतः रेलों के बनने से गांवों में पंचायतों की समाप्ति हुई है, जिससे ग्रामीणों में आपसी झगड़े बढ़ गये, और उनके निपटारे के लिये वे शहरों की कचहरियों में आने लगे। इस प्रकार रेलों के बनने से गांव वालों में मुकदमेबाजी की बुराई उत्पन्न हुई व बढ़ी।

परन्तु हमें याद रखना है कि रेलों की ऊपर बतलाई गई हानियां, रेलों के विकास से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध नहीं हैं। बड़ी सीमा तक वे तत्कालीन *विदेशी सरकार की भारत विरोधी नीति की बुराइयां हैं।* यदि देश की सरकार एक उचित नीति अपनाती, तो इन हानियों से बचा जा सकता था अथवा इनकी तीव्रता को कम किया जा सकता था। फिर भी, ऊपर के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि रेलों से लाभ हानियों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। और फिर, अब भारत स्वतन्त्र हो चुका है। अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं बन गये हैं। *इस समय रेलें देश का सबसे बड़ा राष्ट्रीय उपक्रम है। अब हम इन्हें देश के लाभ* के लिये बना व चला सकते हैं, और इसके साथ ही देश के हित में अन्य आवश्यक पद उठा सकते हैं।

रेल-वित्त (Railway Finances)

पिछले १०० वर्षों में रेलों की वित्तीय दशा में कई एक उतार-चढ़ाव आते रहे हैं, और फलस्वरूप रेल वित्त और सामान्य वित्त के बीच सम्बन्ध में कई एक परिवर्तन हुए हैं। नीचे हम इनका अत्यन्त संक्षिप्त विवरण देते हैं।

१९२४-२५ से पूर्व—१९२४-२५ से पहले रेल वित्त केन्द्रीय सरकार के सामान्य बजट या वित्त का ही एक भाग था। अतः सरकार के सामान्य वित्त में उतार-चढ़ाव आने के साथ साथ रेल वित्त और नीति में भी परिवर्तन आते रहते थे। तब तक रेलों के सभी लाभ व हानियां सामान्य वित्त द्वारा उठाये जाते थे, और रेल वित्त का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। रेल-निर्माण के प्रारम्भिक काल में यह आवश्यक भी था। इसी बात से विदित होता है कि १८५८ से १८९८ तक के पहले ४० वर्षों में रेलें सरकार को घाटा ही देती रहीं। इस घाटे की कुल रकम ५८ करोड़ रु० थी। यह इसलिये हुआ क्योंकि पुरानी *गारन्टी नीति* की

गर्तें कुछ ऐसी थीं कि उनके अन्तर्गत निजी रेल कम्पनियों ने रेलों के निर्माण में कोई मितव्ययिता नहीं बरताई, वरन् अपव्यय किया। फिर, आरम्भ में रेलों को ट्रैफिक भी कम मिला। इसके अतिरिक्त, कुछ सामरिक महत्व की रेलों के निर्माण पर लाभ होने का प्रश्न ही नहीं था।

१८९९ के पश्चात् रेलें लाभ कमाने लगीं। १९०८ और १९२१ के केवल दो वर्षों को छोड़ कर, यह स्थिति १९३० तक रही। यह इसलिये हुआ, क्योंकि पंजाब व सिंध में नहरें बनने, और देश का सामान्य आर्थिक विकास होने से रेलों पर यातायात बढ़ गई थी। दूसरे, सरकार ने नई गारन्टी नीति के अन्तर्गत नई रेल कम्पनियों से अधिक अच्छी शर्तों पर ठेके किये थे।

रेल वित्त पृथक्करण समझौता (Railway Finance Separation Convention), १९२४-२५—एक्वर्थ समिति, १९२० की सिफारिश पर १९२४-२५ में एक समझौते (Convention) के द्वारा रेल वित्त को सामान्य वित्त से अलग कर दिया गया। इस समझौते (Convention) का मुख्य उद्देश्य सामान्य वित्त को रेल वित्त में होने वाले उतार-चढ़ावों से बचाना तथा रेलों को ध्यानपूर्वक काम करने की चेतावनी देना था। समझौते (Convention) की निम्नलिखित मुख्य बातें थीं:—

(१) रेलें व्यापारिक रेल लाइनों में लगी हुई पूंजी पर १% तथा पिछले वर्ष के आधिक्य लाभ का $\frac{1}{5}$ भाग प्रति वर्ष सामान्य राजस्व को देंगी। यदि किसी वर्ष रेलों की आय इस निश्चित राशि को देने के लिये अपर्याप्त है, तो यह राशि एकत्रित होती जायेगी और आने वाले वर्षों के लाभ में से सर्वप्रथम इसका भुगतान किया जायेगा।

(२) सामरिक महत्व की रेल लाइनों (Strategic Lines) के निर्माण में लगी हुई पूंजी का ब्याज और उन पर होने वाला घाटा सरकार सहेगी, और यह घाटा सरकार को मिलने वाली राशि में से काट लिया जायेगा।

(३) सरकार को ऊपर बतलाई गई राशि दे चुकने के पश्चात् यदि कुछ आधिक्य बचेगा, तो वह रेलों के सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में जमा कर दिया जायेगा। परन्तु यदि किसी वर्ष यह आधिक्य ३ करोड़ रु० से अधिक है, तो इसका $\frac{1}{3}$ भाग सरकार को मिलेगा, और केवल शेष $\frac{2}{3}$ भाग सुरक्षित कोष में जमा होगा।

(४) रेलों में लगी पूंजी के $\frac{1}{60}$ भाग के बराबर रकम प्रति वर्ष 'घिसाई कोष' (Depreciation Fund) में जमा की जाय।

यह व्यवस्था १९४५-४६ तक चलती रही। १९२९-३० तक तो रेलों को आधिक्य प्राप्त होता रहा, और वे सामान्य राजस्व को निश्चित अंश दान करती रहीं। परन्तु १९३०-३१ से १९३५-३६ के बीच महामन्दी और रेल-मोटर प्रतिस्पर्धा के कारण, लाभ कमाना तो दूर रहा, रेलें ब्याज देने के लिये भी पर्याप्त

आय नहीं कमा पाईं। अतः इन वर्षों में रेलो ने सामान्य राजस्व को पहले तो रेलवे सुरक्षित कोष से रुपया निकाल कर और बाद मे 'घिसाई कोष' से ऋण लेकर अपना अशंदान दिया। तथापि, १९३६–३७ से दशा फिर सुधरी और रेलें फिर लाभ कमाने लगी। १९३९ मे द्वितीय युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध-काल मे रेल-यात्रा के बहुत अधिक बढ जाने और सडक यातायात की प्रतिस्पर्धा के कम हो जाने से, रेलो ने खूब लाभ कमाये। इससे रेलो ने केवल 'घिसाई कोष' की ही कमियो को पूरा किया, और अपने कोषों को भी बढाया, वरन् साथ ही, १९४५–४६ के अन्त तक सामान्य राजस्व को भी १५८ करोड़ रुपये दिये। तत्पश्चात् समझौते (Convention) को स्थगित कर दिया गया, और रेलो द्वारा सामान्य राजस्व को दी जाने वाली रकम प्रति वर्ष ही रेलो के आधिक्य के आधार पर तै की जाने लगी।

रेलवे समझौता (Railway Convention) १९४९:—१९४९ मे पुराने समझौते (Convention) की व्यापक रूप से परीक्षा की गई, और इसके स्थान पर दिसम्बर, १९४९ मे एक नये समझौते (Convention) को स्वीकार किया गया। इसे १९५०-५१ मे ५ वर्षों के लिये लागू किया गया। इस समझौते की निम्नलिखित मुख्य बातें थीः—

(१) रेल वित्त और सामान्य वित्त (राजस्व) को अलग-अलग ही रहना था। परन्तु अब से सामान्य राजस्व को रेलो मे लगी हुई पूंजी पर ४% प्रति वर्ष की दर पर निश्चित लाभांश मिलना था;

(२) रेलवे मूल्य ह्रास कोष (Railway Depreciation Fund) मे कम से कम १५ करोड़ रु० वार्षिक का अंशदान किया जाय;

(३) एक 'रेलवे विकास कोष' (Railway Development Fund) स्थापित किया जाय। इस कोष की धन राशि को यात्रियों की सुख-सुविधाओं, श्रम कल्याण और आवश्यक परन्तु आरम्भ में अलाभप्रद योजनाओं पर व्यय किया जाय। उस समय जो 'सुधार कोष' (Betterment Fund) था, उसे भी इसी कोष मे मिला दिया जाय। परन्तु साथ ही यह शर्त भी लगा दी जाय कि प्रति वर्ष ३ करोड रु० यात्रियो की सुख-सुविधाओ पर अवश्य व्यय किये जायेंगे।

यह नया समझौता (Convention) पुराने समझौते से अधिक अच्छा था, क्योंकि इसके अन्तर्गत सामान्य राजस्व को रेलो से एक निश्चित राशि मिलनी थी और रेलो को भी अपने आधिक्यो को व्यय करने की स्वतंत्रता थी।

रेलवे समझौता (Convention) १९५४:—पूर्व निश्चय के अनुसार १९४९ के समझौते को १९५४ के अन्त में संसद की एक समिति के द्वारा समीक्षा की गई। इस समिति के सुझावों के आधार पर १९५५-५६ से आगामी ५ वर्षों के लिये निम्नलिखित संशोधित समझौता लागू किया गया है.—

(१) सामान्य राजस्व को रेलों में लगी हुई पूंजी पर ४% प्रति वर्ष की

दर पर निश्चित लाभांश दिया जाता रहे। तथापि, नये निर्माण-कार्यों में लगी हुई पूंजी पर लाभांश की दर नीची होनी चाहिये;

(२) रेलवे मूल्य ह्रास कोष में १५ करोड रु० वार्षिक के स्थान पर ३५ करोड रु० वार्षिक जमा किये जाय, बाद में इसे बढ़ा कर ४५ करोड़ रु० कर दिया गया,

(३) तीन लाख रु० से अधिक लागत वाली प्रत्येक अलाभप्रद योजना का सारा खर्चा, और वर्ग (iii) व (iv) के कर्मचारियों के क्वार्टरों का सारा खर्चा 'रेलवे विकास कोष' से लिया जाय। साथ ही, इस कोष में से, पहले की भांति, यात्रियों की सुविधाओं पर प्रति वर्ष ३ करोड रु० का व्यय किया जाता रहे।

(४) रेल वित्त की दशा की ५ वर्ष के पश्चात् फिर से एक संसदीय समिति द्वारा समीक्षा की जाय।

इस समय यही समझौता (Convention) क्रियाशील है।

रेलों की वर्तमान वित्तीय स्थिति—१९५७-५८ के संशोधित बजट के अनुसार, १९५७-५८ में रेलो की वित्तीय स्थिति इस प्रकार थी—

रेलो मे कुल लगभग १,२०६ करोड रु० की पूंजी लगी हुई थी। उनकी कुल यातायात प्राप्ति ३८४.४ करोड रु० की थी—इसमे से २३१ करोड रु० की प्राप्ति माल यातायात से हुई थी। रेलो के क्रियाकरण का कुल खर्चा ३१८.५ करोड रु० था, जिसमे से ४५ करोड रु० रेलवे मूल्य ह्रास कोष को दिये गये थे। इस प्रकार रेलो की विशुद्ध आय ६५.९ करोड रु० थी। इसमे से ४४.२ करोड रु० सामान्य राजस्व को दे दिये गये थे, और २१.७ करोड रु० रेलो का विशुद्ध आधिक्य (Net Surplus) था।

सड़क यातायात
(Road Transport)

महत्व

यातायात के साधनो में सडको का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। एक देश मे सडकें मानव शरीर मे रक्त की नालियो के समान होती हैं। जैसे रक्त की नालियां रक्त के प्रभाव के द्वारा, शरीर को स्वस्थ रखती है, वैसे ही सड़के भी विभिन्न स्थानो के बीच मनुष्यो व वस्तुओ के यातायात के द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था को स्वस्थ तथा प्रगतिशील रखती है।

सडक यातायात की एक मुख्य विशेषता इसका लचीलापन है। रेलें सदा एक निश्चित रेल-मार्ग से बन्धी होती हैं। वे इधर-उधर नही आ-जा सकती। परन्तु सडक पर चलने वाले वाहनों के साथ ऐसी बात नही है। वे मर्जी जिस मार्ग पर आ-जा सकते हैं, और घर-घर से सामान तथा यात्रियों को ले सकते है, तथा उन्हे उतार सकते हैं। अतः उन्हे जहा अधिक यातायात मिलती है, वे वही जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सड़क-वाहनों की पूंजी लागत व क्रियाकरण का खर्चा

भी बहुत कम होता है। अतः यह सस्ता पड़ता है, और थोड़ी सी यातायात होने पर भी चलाया जा सकता है। यह इसलिए भी, क्योंकि यह संभव है कि, यातायात कम होने पर मोटर बसें बारी-बारी सप्ताह में एक-दिन या दो दिन कई एक मार्गो पर चलें। अतः यदि यातायात कम हो और यात्रा अधिक लम्बी न हो, तो सड़क यातायात बड़ी सस्ती और सुविधाजनक रहती है।

भारत, हम जानते हैं कि, छोटे-छोटे गाँवों का देश है। इन सबका आपस में तथा नगरों व मन्डियों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये रेलें नहीं बनाई जा सकती। इन्हें केवल छोटी-छोटी सड़कों के द्वारा ही जोड़ा जा सकता है। गाँवों के तथा खेती के विकास के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। सड़कों के बनने से किसान लोग अधिक मात्रा में व्यापारिक फसलें तथा फल व सब्जियाँ आदि बोने लगने हैं, और सभी प्रकार की कृषि-उपज को गावों में ही नीचे मूल्य पर बेचने के स्थान पर पास की मंडियों में अधिक अच्छे मूल्य पर बेचने के लिये लाने लगते हैं। इससे किसानों की आय बढ़ती है, और वे खेती में ध्याई तथा अन्य सुधार कर इसकी उत्पादकता को बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित होते हैं, और ऐसा करने के योग्य भी होते हैं। वे तब अधिक आसानी से, सस्ती ढुलाई लागत पर, रासायनिक खाद तथा खेती के उन्नत यन्त्र आदि ला पाते हैं। सड़कों के बनने से गावों में कुटीर व लघु उद्योग धन्धों के विकास को भी प्रोत्साहन मिलता है। इनसे खेती में लगी फालतू जनसंख्या वहां से हट कर इन उद्योगों में काम पर जायेगी। भारतीय खेती के सुयुक्तिकरण (Rationalisation) के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

गावों के सर्वांगीन विकास व उत्थान के लिये भी सड़कें बहुत आवश्यक हैं। सड़कों के बनने से गावों का नगरों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इससे गाव वाले भी नगरों में बनी कई एक प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करने लगते हैं। तब नगरों में उपलब्ध शिक्षा, चिकित्सा व मनोरंजन आदि की सुविधायें भी ग्रामीणों को आसानी से उपलब्ध होने लगती हैं। इन सबसे उनका रहन-सहन का स्तर ऊंचा होता है, और उनकी संकीर्णता, अज्ञानता तथा रूढ़िवादिता, आदि दोष कम होते हैं।

देश में उद्योगों के विकास तथा विकेन्द्रीकरण तथा व्यापार के विकास के लिये भी अच्छी तथा पर्याप्त सड़कें आवश्यक हैं। देश की वन-सम्पत्ति के उपयोग के लिये भी वनों में सड़क यातायात का विकसित होना आवश्यक है।

सड़कें रेलों की समृद्धि के लिये भी आवश्यक हैं, क्योंकि ये उनकी सहायक (Feeders) का काम करती हैं। ये गाँव-गाँव से माल तथा सवारियां रेलवे स्टेशन तक लाती है, और रेल द्वारा लाया गया माल तथा सवारियां गाँव-गाँव में पहुंचाती हैं।

सड़कों के निर्माण से जब इस प्रकार देश का सर्वांगीन आर्थिक विकास बढ़ता है, तो इससे रोजगार की मात्रा भी बढ़ती है। साथ ही, नई सड़कों के निर्माण

व पुरानी सड़को की मरम्मत मे व मोटर यातायात मे प्रत्यक्ष रूप से बड़ी संख्या में लोगो को काम मिलता है।

देश की सुरक्षा के दृष्टिकोण से, सफल प्रशासन व राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के दृष्टिकोण से, और डाक व तार, आदि की सुविधाओ के दृष्टिकोण से भी सड़क यातायात का विकसित होना बड़ा आवश्यक है।

इस प्रकार किसी राष्ट्र की आर्थिक व सामाजिक प्रगति, बहुत कुछ, उसकी सड़को पर निर्भर होती है।

भारत में सड़के

यद्यपि किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था मे सड़को का इतना अधिक महत्व है तथापि अभी तक भी भारत मे सड़को का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है।

एक तो भारत मे सड़कें बहुत कम हैं। प्रथम योजना के अन्त मे (३१ मार्च, १९५६) देश मे कुल ३,२०,५२७ मील लम्बी सड़कें थीं। इनमे से १,२२,१७० मील लम्बी सड़कें पक्की और शेष कच्ची थीं। भारत के विशाल क्षेत्रफल (१२,२१,६४० वर्ग मील), बहुत बड़ी जनसंख्या (१९५६ के आरम्भ मे लगभग ३८ करोड़) और ५.५ लाख से भी अधिक गावो को देखते हुए, सड़को की यह लम्बाई अत्यधिक अपर्याप्त है। भारत मे प्रति वर्ग मील केवल ०·२६ मील लम्बी सड़कें हैं, जबकि इङ्गलैंड मे प्रति वर्ग मील इससे १० गुना तथा सं० रा० अमरीका मे ५ गुना अधिक सड़के हैं। फलस्वरूप भारत मे अभी तक भी बहुत बड़ी संख्या मे ऐसे गाव हैं, जिनका किसी नगर, मंडी या रेलवे स्टेशन से किसी सड़क के द्वारा सम्बन्ध नही है।

दूसरे, भारत में सड़कों की दशा अच्छी नहीं है। मुख्य सड़को की दशा अवश्य काम चलाने योग्य है, परन्तु देहाती सड़को की हालत बहुत खराब है। कच्ची होने के कारण, ये केवल अच्छे मौसम मे ही काम देती हैं। वर्षा के आरम्भ होने ही, वे कीचड़ होने से बेकार हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, भारत मे सड़को पर स्थाई पुलो की भी कमी है।

तीसरे, भारत में बहुत सी सड़कें रेल लाइनों के समानान्तर हैं, और इनमे १० मील के अन्तर के बीच ही हैं। इसने सड़को को रेलों का सहायक (Feeder) बनाने के स्थान पर प्रतियोगी बना दिया है, और रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा की समस्या को जन्म दिया है। इनसे यातायात-सुविधाओ का अनावश्यक द्विगुणन भी हुआ है।

चौथे, पक्की सड़कों की कमी के कारण मोटर बसों व ट्रकों आदि द्रुतगामी सड़क वाहनो का देश मे कम प्रयोग होता है। गाव वालो के लिये अभी भी धीमी गति से चलने वाली बैलगाड़ी ही यातायात का मुख्य साधन है। बहुत से गावों में बरसात में इन बैलगाड़ियो के चलने योग्य भी सड़कें न होने के कारण किसानो व अन्य ग्रामीणो को बड़ी हानि होती है, और इन गावो का विकास नहीं हो पाता।

अत देश के विकास के लिये आवश्यक है कि यहा एक तो शीघ्रातिशीघ्र नई व पक्की सड़कें बनाई जायं, और पुरानी सड़कों की दशा को सुधारा जाय, और

साथ ही आवश्यकतानुसार, स्थाई पुल बनाये जायं। देश के आर्थिक विकास की किसी भी योजना, और विशेषत: खेती के पुनर्गठन व ग्रामो के उत्थान की किसी भी योजना की सफलता के लिये ऐसा होना अत्यन्त आवश्यक है। नई सडको के बनाते समय इनके उचित नियोजन की भी आवश्यकता है, जिससे कि सडकें एक सगठित यातायात प्रणाली की अङ्ग हो, और वे रेलो की प्रतिस्पर्धी होने के स्थान पर उनकी पूरक हो।

भारत में सड़कों का विकास

भारत मे वर्तमान सडकें प्राचीन मुगल तथा दूसरी सडको के ऊपर खडी हुई एक इमारत के समान हैं। वर्तमान काल मे इनके विकास का कार्य सौ से कुछ अधिक वर्ष पूर्व भारत सरकार द्वारा आरम्भ किया गया था। परन्तु इसके शीघ्र ही पश्चात् देश मे रेलों का निर्माण आरम्भ हो गया। इससे भारत सरकार ने सडकों की ओर ध्यान देना कम कर दिया, और दुर्भाग्यवश उन्हे केवल स्थानीय महत्त्व की ही वस्तु गिना जाने लगा। १६१६ मे हुए सुधारो के अधीन, सड़कें प्रान्तीय विषय बना दी गईं, और केन्द्रीय सरकार का सडकों से कोई सम्बन्ध न रहा। प्रान्तीय सरकारों ने अपनी ओर से यह काम स्थानीय निकायो (Local Bodies) को सौंप दिया, और अपने ऊपर केवल कुछ ही बहुत महत्त्वपूर्ण सडको के निर्माण व मरम्मत का भार लिया। परन्तु स्थानीय निकायो के वित्तीय साधन इस काम के दृष्टिकोण से अत्यन्त सीमित थे। उधर, युद्धोत्तर काल मे देश मे मोटर बसों की संख्या बढने से सडकों पर यातायात का भार बढ गया, और उनकी टूट-फूट व मरम्मत का खर्चा भी बढ गया। साथ ही, नई सडको के निर्माण की माग भी बढी।

सड़क समिति १६२७—ऐसी परिस्थिति मे, सडको के विकास व उनकी वित्तीय व्यवस्था की जाच करने के लिये, भारत सरकार ने नवम्बर, १६२७ मे डा० जयाकर की अध्यक्षता मे एक 'भारतीय सडक विकास समिति' की नियुक्ति की। समिति ने अगले वर्ष अपनी रिपोर्ट मे सिफारिश की कि क्योंकि सडको का विकास स्थानीय निकायो व प्रान्तीय सरकारो की शक्ति के बाहर हो गया है, अत: राष्ट्रीय महत्त्व की सड़को का विकास केन्द्रीय सरकार को अपने हाथ मे ले लेना चाहिये। यह इसलिये भी होना चाहिये, क्योंकि पैट्रोल और मोटर गाडियो पर लगे सीमा व उत्पादन शुल्को की आय केन्द्रीय सरकार को ही होती है। इस आय को सडको पर व्यय किया जाना चाहिये। समिति ने सडको के निर्माण व विकास के लिये अलग से एक 'सड़क कोष' बनाने की भी सिफारिश की।

सड़क कोष (Road Fund)—समिति की सिफारिशो पर केन्द्रीय सरकार ने १६३० मे एक 'केन्द्रीय सड़क विकास कोष' की स्थापना की। इसके लिये पैट्रोल पर लगे शुल्क मे दो आना प्रति गैलन की दर पर वृद्धि कर दी, और इसके आगम को सड़क कोष में जमा किया जाने लगा। इस कोष मे से $\frac{1}{5}$ भाग विशिष्ट अनुदानों के

लिये रखने के पश्चात्, शेष रकम में से विभिन्न प्रान्तों को उनके द्वारा उपभोग किये जाने वाले पेट्रोल की मात्रा के अनुपात में अनुदान दिये जाते थे। आरम्भ में यह कोष केवल ५ वर्षों के लिये बनाया गया था। परन्तु १९३४ से इसे स्थाई रूप दे दिया गया है। पहले इसमें प्रतिवर्ष लगभग १.१ करोड़ रु० जमा होते थे। १९४७-४८ तक इसमें २८.३ करोड़ रुपये जमा हो चुके थे। आजकल इसमें लगभग ५ करोड़ रु० वार्षिक जमा होते हैं। यह आय पैट्रोल, गाड़ियों, मोटर मोटर के पुर्जों और टायरों पर जमे शुल्क से प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह कोष देश में सड़क विकास के दीर्घकालीन नियोजन के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है।

भारतीय सड़क कांग्रेस, १९३४—सड़क-निर्माण कार्य के सम्बन्ध में व्यवसायिक ज्ञान व अनुभव संग्रह करने के लिये भारत सरकार ने १९३४ में 'भारतीय सड़क कांग्रेस' के नाम से एक अर्ध सरकारी संस्था की स्थापना की। सड़कों से सम्बन्धित सभी इंजीनियर इस कांग्रेस के सदस्य बन सकते हैं। १९३४ में केवल ७४ सदस्यों से यह संस्था आरम्भ हुई थी। अब इस कांग्रेस के लगभग १२५० इंजीनियर सदस्य हैं। इस संस्था ने देश में सड़क निर्माण-कार्य में काफी सराहनीय योग दिया है।

द्वितीय विश्व युद्ध—जब दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हुआ, तो सड़कों के निर्माण का कार्य प्रान्तीय सरकारों के हाथों में था। युद्धकाल में सामरिक महत्व की कई एक नई सड़कें बनानी पड़ी, और पुरानी सड़कों पर भी यातायात का भार बढ़ जाने से, उनकी मरम्मत पर अधिक रुपया व्यय करने की आवश्यकता पड़ी। परन्तु प्रान्तीय सरकारों के पास इस भार को उठाने के लिये पर्याप्त साधन नहीं थे। अतः सुरक्षा कोष (Defence Estimates) में से इस कार्य के लिये अनुदान दिये गये, और केन्द्रीय सरकार ने यह अनुभव किया कि राष्ट्रीय महत्व की सड़कों के निर्माण का कार्य उसे अपने हाथों में लेना चाहिये।

नागपुर योजना (Nagpur Plan) १९४३

तदनुसार, १९४३ में केन्द्रीय सरकार ने देश में सड़कों के विकास पर विचार करने के लिये नागपुर में प्रान्तीय मुख्य इन्जीनियरों का एक सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में सड़कों के विकास की एक १० वर्षीय योजना बनाई गई, जो कि 'नागपुर योजना' के नाम से प्रसिद्ध है।

योजना के अन्तर्गत सड़कों को पांच वर्गों में बाँटा गया है—(१) राष्ट्रीय राजमार्ग (National Highways), (२) प्रान्तीय राजमार्ग (Provincial or State Highways), (३) बड़ी जिला सड़कें (Major District Roads) (४) छोटी जिला सड़कें (Minor District Roads) और (५) ग्रामीण सड़कें (Village Roads)।

राष्ट्रीय राजमार्ग वर्तमान मुख्य सड़कें ही कहलायेंगी। वे प्रान्तीय राजधानियों, बन्दरगाहों और बड़े नगरों को आपस में मिलायेंगे और देश में सड़क यातायात का मुख्य आधार होंगे। ये सड़कें देश का पड़ोसी देशों जैसे बर्मा, नेपाल, तिब्बत,

आदि से भी सम्बन्ध स्थापित करेंगी। सामरिक महत्व (Strategic Importance) की सड़कें भी इसी श्रेणी में शामिल होंगी। इन सड़कों का निर्माण व देख-रेख केन्द्रीय सरकार करेगी। विभाजन से पूर्व इन सड़कों की कुल लम्बाई लगभग १८ हजार मील थी। विभाजन के पश्चात् भारत संघ में इनकी लम्बाई १२.६ हजार मील थी।

प्रान्तीय राजमार्ग प्रान्त अथवा राज्य की मुख्य सड़कें हैं। ये सड़कें राज्य के अन्दर व्यापार तथा उद्योग की जान हैं। ये जिला के मुख्य स्थानों व महत्वपूर्ण नगरों को राष्ट्रीय राजमार्गों से मिलाती हैं। इनकी देख-रेख की जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकारों पर है।

जिला सड़कें देश के आन्तरिक भागों में पहुंचती हैं। ये उत्पादन केन्द्रों तथा मण्डियों को आपस में तथा राजमार्गों या रेलों से मिलाती हैं। पड़ोसी जिलों के बीच भी ये एक सूत्र के रूप में कार्य करती हैं। ये सड़कें जिला मण्डलों (District Boards) के आधीन हैं।

ग्रामीण सड़कें ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। ये सड़कें गांवों को एक दूसरे से अथवा पास की जिला सड़कों या राजमार्गों या रेलों से मिलाती हैं। इनकी देखभाल का दायित्व स्थानीय निकायों (Local Bodies) पर है।

योजना का उद्देश्य सभी प्रकार की सड़कों का सन्तुलित विकास करना था, जिससे विकसित कृषि-क्षेत्र में कोई भी गाव मुख्य सड़क से ५ मील से अधिक की दूरी पर और अविकसित क्षेत्र में कोई भी गाव २० मील से अधिक की दूरी पर न रहे। साथ ही, किसी सड़क का विचार केवल उसी सड़क की दृष्टि से नहीं वरन्, देश भर में सड़कों के एक जाल-सूत्र (Network) के एक अंग की दृष्टि से होना चाहिये।

योजना मे भारतीय संघ के लिये सड़कों की लम्बाई के निम्नलिखित लक्ष्य रखे गये थे—

राष्ट्रीय राजमार्ग	१६,६०० मील
राष्ट्रीय सामान्य मार्ग (Trails)	४,१५० ,,
प्रान्तीय राजमार्ग	५३,६५० ,,
बड़ी जिला सड़कें	४६,८०० ,,
छोटी जिला सड़कें	८३,००० ,,
ग्रामीण सड़कें	१,२३,५०० ,,
योग	३,३१,०००

इन ३,३१,००० मील लम्बी सड़कों में से १,२३,००० मील लम्बी सड़कें पक्की, और शेष (२,०८,००० मील) कच्ची होनी थीं।

मूल योजना के अनुसार, ऊपर लिखे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये ३७२ करोड़ रु० व्यय किये जाने थे। परन्तु युद्धोत्तर काल में मूल्य-स्तर के बहुत अधिक बढ़ जाते

के कारण बाद मे यह अनुमान लगाया गया कि योजना को पूर्ण करने के लिये ७४ करोड रु० व्यय करने पडे गे।

योजना पर १ अप्रैल, १९४७ से काम आरम्भ हुआ। तब से राष्ट्रीय राजमार्गों का सम्पूर्ण वित्तीयदायित्व केन्द्रीय सरकार ने सभाल लिया हैं। देश के नये विधान के अन्तर्गत, राष्ट्रीय राजमार्ग केन्द्रीय विषय हैं। प्रान्तीय राजमार्ग राज्यो के 'सार्वजनिक कार्य विभागो' (P. W. D.) के अधीन हैं। अत इन दोनो प्रकार के राजमार्गों की दशा अच्छी है। परन्तु जिला व ग्रामीण सडको की दशा बहुत खराब है, क्योकि ये सडकें स्थानीय निकायो के अधीन है, और इन निकायो के वित्तीय साधन अत्यन्त सीमित है।

इस योजना के कार्यकरण के पहले तीन वर्षों मे अर्थात् ३१ मार्च, १९५० तक सडक विकास पर कुल २७·११ करोड रु० व्यय हुये थे।

प्रथम योजना के अन्तर्गत सडक-विकास

प्रथम योजना के आरम्भ के समय भारत मे लगभग ९८,००० मील लम्बी पक्की सडके तथा १,५१,००० मील लम्बी कच्ची सडकें थी। योजनाकाल मे सडको तथा सडक यातायात के विकास पर लगभग १५६ करोड रु० (केन्द्रीय सडक कोष के अनुदानो को मिलाकर) व्यय किये गये। इस काल मे लगभग २४,००० मील लम्बी नई पक्की सडकें तथा ४७,००० मील लम्बी नई कच्ची सडकें बनाई गई। इनमे सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार योजनाओ के अन्तर्गत बनाई गई सडके भी शामिल हैं। इस प्रकार योजना के अन्त मे देश मे सडकों की कुल लम्बाई २४९,००० मील से बढकर ३,२०,००० मील हो गई थी। यह लम्बाई नागपुर योजना के लक्ष्य (३,३१,००० मील) से ११,००० मील कम है— प्रथम योजना के अन्त मे, नागपुर योजना के लक्ष्यो के तुलना मे १,००० मील पक्की सडकें तथा १०,००० मील कच्ची सडके कम थी। आशा है कि दूसरी योजना में यह कार्य भी पूरा हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त योजनाकाल मे सडको की मरम्मत तथा पुलो का निर्माण भी किया गया है। उदाहरणार्थ, १ अप्रैल, १९४७ को जब केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय राजमार्गों के विकास का वित्तीय भार अपने ऊपर लिया, तब कई एक मार्गों पर कुल मिलाकर लगभग १६०० मील की लम्बाई की सन्धि सडकों (Road Links) का अभाव था, महत्वपूर्ण स्थानो पर सैंकडो छोटे-बडे पुल नही थे, और लगभग ९,००० मील लम्बी सडक नीचे दर्जे की थी। इस दिशा मे कुछ सुधार, प्रथम योजना के आरम्भ से पहले हुआ था। प्रथम योजना के अन्त तक लगभग ३४ करोड रु० की लागत पर ७३६ मील लम्बी सन्धि सडको और ३३ बडे पुलो को बनाया गया, लगभग ५,००० मील की लम्बाई मे राष्ट्रीय सडको को सुधारा गया, और लगभग ४०० मील की लम्बाई मे इन सड्कों को चौड़ा कर दोराही (Two-lane Carriage-way) बनाया गया।

संख्या फिर बढने लगी। उदाहरणार्थ, १९४५ मे देश में लगभग १'४२ लाख गाडिया थी ; १९४८ मे इन की संख्या बढ कर २'७८ लाख हो गई थी।

वर्तमान स्थिति—१९५४–५५ के अन्त मे देश मे लगभग ३'७६ लाख मोटर गाडियां थी। इनमें से १'७१ लाख निजी कारें, ५६ हजार सार्वजनिक सेवा गाडिया, १ लाख ४ हजार माल गाड़ियां, ३३ हजार मोटर साइकलें, और शेष लगभग १२ हजार मिली-जुली प्रकार की मोटर गाड़ियां थी। तथापि, देश की जनसंख्या और आकार को देखते हुए अभी भी यहा मोटर गाडियो की संख्या बहुत कम है। भारत मे प्रति १,३५० व्यक्तियों के पीछे एक मोटर गाड़ी है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका मे प्रति ३ व्यक्तियों, इङ्गलैंड मे प्रति १५ व्यक्तियो, और फ्रास में प्रति १६ व्यक्तियो के पीछे एक मोटर गाड़ी है। १९५२ मे प्रति १,००० मील के पीछे भारत मे ८२९, इङ्गलैंड मे १२,१४६ और सं० रा० अमरीका मे १४,८७४ मोटर गाडिया थी। इसके अतिरिक्त, भारत मे मोटर गाडियो का उत्पादन, यहां के कुल उपभोग से बहुत कम है, और हम अपनी आवश्यकता का केवल लगभग १०% पेट्रोल ही देश मे उत्पन्न करते हैं, शेष विदेशो से आयात किया जाता है। अतः उन्नत देशो की तुलना मे हम, अन्य क्षेत्रो की भांति, मोटर यातायात के क्षेत्र मे भी पिछड़े हुए हैं, और आत्म-निर्भर नहीं हैं।

मोटर यातायात के क्षेत्र मे निजी चालक (Private operators) और राज्य सरकारें, दोनो ही काम कर रहे हैं। राज्य सरकारो ने १९४६ के पश्चात् से मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण आरम्भ किया था। इस समय सवारी मोटर यातायात का लगभग ⅓ भाग सार्वजनिक क्षेत्र मे है ; शेष ⅔ भाग निजी चालको के हाथो में है। माल यातायात लगभग पूर्णतया ही निजी चालको के कब्जे मे है। द्वितीय योजना काल मे सड़क यातायात मे सार्वजनिक क्षेत्र के प्रसार होने पर भी, सड़क यातायात का अधिकांश भाग निजी चालको के हाथो मे ही रहेगा।

इस समय देश मे मोटर यातायात चालको की संख्या लगभग ४८,००० है। इनमें से ४६,००० से भी अधिक छोटे चालक हैं, जिनमे से प्रत्येक के पास ५ या इससे कम गाड़ियां हैं। इन निजी चालको को इस बात के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है कि वे मिल कर आर्थिक इकाइयां बना लें। सड़क यातायात निगम अधिनियम (Road Transport Corporations Act), १९५० के अन्तर्गत राज्य सरकारों, रेलों और निजी चालको को मिला कर परिनियत (Statutory) यातायात निगम बनाये जा रहे हैं।

देश मे पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ के परिणाम के बढ़ने से, यातायात सेवाओ की आवश्यकता बढती जा रही है। रेले इस सभी यातायात का भार उठाने मे समर्थ नहीं हैं। अतः रेलो के सहायक के रूप मे, मोटर सड़क यातायात के विकास की आवश्यकता है। परन्तु हाल ही के वर्षों मे यह देखा गया है कि देश की इस बढती हुई यातायात आवश्यकताओ की दृष्टि से सड़क

यातायात का विकास पर्याप्त रूप से नही हो रहा है। इस बात के कई कारण हैं, जैसे कि राष्ट्रीयकरण का भय, मोटर यातायात पर लगे ऊचे कर, अन्तर्राज्यीय (Inter-state) सेवाओ पर लगे प्रतिबन्ध और कुछ राज्यो मे बहुत छोटी अवधि के लिये लाइसैंस देने की नीति आदि। इन कारणो को दूर करने के लिये विभिन्न प्रकार के पद उठाये जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, योजना आयोग ने १९५४ मे ही राज्य सरकारो को यह सिफारिश की थी कि दूसरी योजना के अन्त तक उन्हे माल यातायात सेवाओ का राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहिये, सवारी सेवाओ का राष्ट्रीयकरण धीरे-धीरे और ध्यान से होना चाहिये, कि निजी चालको को लाइसैंस देने की नीति को अधिक उदार बना देना चाहिये, और कि इन निजी चालको को मिलकर बडी आर्थिक इकाइया बनाने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। राज्य सरकारो को यह भी कहा गया है कि वे मोटर गाडियों पर लगे करो का सुयुक्तिकरण (Rationalisation) करे, जैसे कि दोहरे करारोपण (Double Taxation) से बचे, मोटर गाडियो पर लगे विभिन्न करो को एक ही कर मे मिला दे, और कर की दर को यथासम्भव कुछ कम कर दें, इत्यादि।

मोटर गाडियाँ (सशोधन) अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत, अन्तर्राज्यीय (Inter-state) मार्गों पर सडक यातायात का विकास, समन्वय और नियमन करने के लिये एक 'अन्तर्राज्यीय यातायात आयोग' ('Inter-state Transport Commission') की स्थापना की व्यवस्था की गई है। अधिनियम के अन्य प्रावधानो के अनुसार, यदि अनुमति-पत्र-धारको (Permit Holders) के अनुमति-पत्र रद्द किये जाते है, या उनकी शर्तें बदली जाती है, तो उन्हे मुआवजा दिया जाय, मोटर गाडियो के अनुमति-पत्रो की अवधि को बढाया जाय, क्षेत्रीय यातायात अधिकारियो का पुनर्गठन किया जाय, कन्डक्टरो को भी लाइसैंस दिये जायं, १९३९ के अधिनियम के अन्तर्गत किये गये अपराधो की सजा मे वृद्धि, इत्यादि। अधिनियम के अधिकाश प्रावधानो को लागू किया जा चुका है।

आशा है इन सब पदो के उठाने से, देश मे सडक यातायात का आवश्यकतानुसार पर्याप्त विकास होगा, और उचित तेजी से होगा।

रेल सड़क स्पर्धा व सामंजस्य

(Rail Road Competition and Co-ordination)

रेल सड़क प्रतिस्पर्धा—यातायात के विभिन्न साधनों के बीच स्पर्धा की समस्या तभी उत्पन्न होती है, जब यातायात के कुछ साधन अपने क्षेत्र से बढ जाते हैं, और परिवहन के अन्य साधनो की यातायात अपनी ओर खीचने लगते है। भारत मे पिछले वर्षो मे रेलो तथा मोटर सडक यातायात के बीच इसी प्रकार की स्पर्धा रही है, जिसमे एक समय तो रेलो को इससे बडी हानि उठानी पड़ी थी।

रेले लम्बे फासले और भारी सामान को ढोने के लिये यातायात का बहुत

सस्ता साधन है। परन्तु छोटे फासलो तथा हल्की व मूल्यवान वस्तुओं के ढोने के लिए, मोटर यातायात अधिक सस्ती पडती है। यह इसलिये क्योंकि रेलें भाडे की दरें 'सेवा के मूल्य' ('Value of Service') सिद्धांत के अनुसार निश्चित करती हैं, जबकि मोटर यातायात में भाडे की दरें 'सेवा की लागत' ('Cost of Service') सिद्धान्त के अनुसार निश्चित की जाती हैं। पहले सिद्धांत के अधीन लम्बे फासलों के लिये भारी परन्तु कम मूल्य की वस्तुओं का ढोना तो सस्ता पड़ता है, परन्तु छोटे फासलो पर और विशेषत हल्की परन्तु मूल्यवान यातायात पर भाड़े की दर ऊंची पडती है। दूसरे सिद्धांत के अधीन, इस दूसरी प्रकार की यातायात पर भाड़े की दर अपेक्षाकृत नीची रहती है। अत. मोटर यातायात छोटे फासलो पर, रेलों की हल्की व मूल्यवान् यातायात अपनी ओर खींच ले जाती हैं, और उनके लिये भारी परन्तु सस्ती यातायात छोड देती हैं। दूसरे शब्दों में वे यातायात का मक्खन स्वयं हड़प कर जाती है, और शेष रेलो के लिये छोड देती है। स्पष्ट ही इससे रेलो की आय कम हो जाती है। दूसरे, रेलें अपने निश्चितमार्ग से बन्धी होती हैं। अत उनकी सेवाओं का प्रयोग करने के लिए उनके स्टेशनो तक जाना पड़ता है। इसके विपरीत, मोटर गाडियां किसी निश्चित मार्ग से बन्धी नही होती, और अस्थल होने के कारण, द्वार-द्वार पर जाकर यातायात सेवा प्रदान कर सकती हैं। यातायात सेवाओं के उपभोक्ताओं के लिये यह बड़ा सुविधा-जनक भी होता है, और उनका रेलवे स्टेशन तक आने जाने का या सामान लाने ले जाने का खर्चा भी बच जाता है। मोटर यातायात को रैलो की तुलना में एक और लाभ यह होता है कि रेलों को अपना मार्ग स्वयं बनाना पड़ता है और उसके संरक्षण व मरम्मत आदि पर भी उन्हें भारी रकम खर्च करनी पड़ती है, जब कि मोटर गाडियों के चलने के लिए सड़कें सरकार द्वारा बनाई तथा सुधारी जाती हैं। यह ठीक है कि बहुधा इसी कारण से सरकार मोटर गाडियों पर कई प्रकार के कर लगाती है। परन्तु फिर भी मार्ग का खर्चा मोटर गाडियों पर अपेक्षाकृत कम पडता है। अतः छोटे फासलो पर और विशेषतः हल्की तथा मूल्यवान यातायात के लिये मोटर यातायात रेलो से स्पर्धा करती है।

भारत में इस प्रकार की स्पर्धा का जन्म तो १९२० के पश्चात् ही हो गया था। तथापि, इसने उग्र रूप १९३० के पश्चात् से धारण किया था। उन दिनो विश्वव्यापी मन्दी के कारण भारत मे भी रेलो पर यातायात का परिमाण कम हो गया था, जिससे उनकी आय गिर रही थी। तब तक देश में मोटर गाडियों की संख्या भी काफी बढ़ चुकी थी, और रेलो ने पाया कि उनकी मूल्यवान यातायात का एक बड़ा भाग ये मोटर गाडियां खींच रही हैं। परिस्थिति का सामना करने के लिए रेलों ने अपनी दरो में कमी की। उत्तर में मोटर-चालकों ने भी अपनी दरें कम कर दीं। इस प्रकार से दोनो में एक प्रकार की होड़ सी लग गई और रेल-सड़क स्पर्धा दोनो प्रकार की यातायात के लिए ही एक गम्भीर समस्या बन गई।

इस स्पर्धा से दोनो प्रतिपक्षियो को ही हानि हुई । रेलो की यह हानि लगभग ३·७५ करोड़ रु० वार्षिक थी ।

परन्तु इस स्पर्धा को इसी प्रकार चलता नही रहने दिया जा सकता था, क्योकि इससे देश मे यातायात के साधनो के विकास को भारी ठेस पहुचती । यह राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध होता ; वैसे भी रेले राष्ट्रीय उपक्रम है, उन मे सामान्य करदाता की पूंजी लगी हुई है । रेलो की हानि का भार भी उन्ही पर पडता है । अतः इस स्पर्धा से रेलो की रक्षा करना आवश्यक था । इसके अतिरिक्त यह स्पर्धा एक दृष्टिकोण से अनुचित भी थी, क्योकि जहा रेलो पर कई प्रकार की पाबन्दिया और नियमन लागू होते हैं, वहा १९३३ से पहले मोटर यातायात पर किसी प्रकार का अनुशासन नही था ।

रेल-सडक स्पर्धा की इस समस्या पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने १९३२ मे एक समिति मिचेल कर्कनेस समिति (Mitchell-Kirkness Committee) की नियुक्ति की । इस समिति ने सिफारिश की कि इस स्पर्धा से रेलो की रक्षा करने के लिये मोटर यातायात का नियमन करना आवश्यक है । उसने एक *केन्द्रीय सचार मण्डल (Central Board of Communications)* की स्थापना की भी सिफारिश की । समिति के सुझावो पर विचार करने के लिये १९३३ मे भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारो के प्रतिनिधियो का एक रेल-सडक सम्मेलन बुलाया । सम्मेलन ने रेल-सडक सामजस्य पर जोर दिया । सम्मेलन के सुझाव पर ही १९३३ का रेलवे अधिनियम पास किया गया, जिसके अधीन रेले रेल की लाइनो के समानान्तर सडको पर अपनी मोटर गाडिया चला सकती है । १९३५ मे प्रान्तो मे 'यातायात परामर्शदातृ समितिया' स्थापित की गई और एक केन्द्रीय यातायात परामर्शदातृ परिषद् भी स्थापित की गई ।

१९३६ की वेजवुड समिति ने भी रेल-सडक स्पर्धा की समस्या पर विचार किया । समिति ने सिफारिश की कि मोटर यातायात को नियमित करने के लिये मोटर-चालको को अनुमति-पत्र दिये जाय ; रेले स्वय अपनी मोटर गाडिया चलायें, और साथ ही, रेले यात्रियों को पहले से अधिक अच्छी सुविधाएं दे और अपना किराया-भाडा कम करे ।

१९३९ मे केन्द्रीय सरकार ने मोटर यातायात को नियमित करने के लिये मोटर गाड़ी अधिनियम पास किया । इस अधिनियम के अधीन प्रान्तो में 'क्षेत्रीय यातायात अधिकारियों' (Regional Transport Authorities) की नियुक्ति की गई जिनका कार्य मोटर यातायात को नियत्रित करना है । अधिनियम के अधीन मोटर गाडियों के लिये सरकार से अनुमति-पत्र (License) लेना अनिवार्य कर दिया गया, और मोटर गाड़ियो मे सवारियो की सख्या, उनकी रफ्तार की सीमा, उनके चलने के निश्चित समय, माल का लदान, कर्मचारियो के काम के घटे व काम की दशायें, आदि निश्चित कर दिये गये । उक्त बातो का उल्लघन करने वालो को

सजा देने की व्यवस्था की गई। १९४६ से इसी अधिनियम के अन्तर्गत सभी मोटर गाडियों का बीमा कराने को अनिवार्य कर दिया गया है। १९२६ मे इस अधिनियम में किये गये एक संशोधन के अधीन, अन्तर्राज्यीय (Inter-state) मार्गों पर सड़क यातायात का विकास, समन्वय और नियमन करने के लिये एक 'अन्तर्राज्यीय यातायात आयोग' की स्थापना, क्षेत्रीय यातायात अधिकारियो के पुनर्गठन, कन्डक्टरों को भी लाइसेंस दिये जाने, १९३९ के अधिनियम के अन्तर्गत किये गये अपराधों की सजा मे वृद्धि, आदि की व्यवस्था की गई है।

रेल सड़क स्पर्धा को कम करने की दिशा मे सरकार द्वारा उठाया गया एक और पग 'सड़क यातायात निगम अधिनियम, १९५०' है। इस अधिनियम के अधीन राज्यों मे राज्य सरकारो, रेलो और निजी मोटर-चालकों की साझेदारी से परिनियत (Statutory) सड़क यातायात निगम बनाये जा रहे हैं। दूसरी पच वर्षीय योजना की रेल योजना में १० करोड रु० इसीलिये रखा गया है, जिससे कि रेलें इन निगमों के गठन मे भाग ले सकें। ये निगम रेलो और मोटर यातायात मे अनुचित स्पर्धा को रोकने में सफल होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

रेल-सड़क सामंजस्य (Rail-Road Co-ordination)— तथापि, हमें ध्यान रखना है कि सामजस्य का अर्थ केवल प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर देना नहीं है। इसका अभिप्राय विभिन्न प्रकार की यातायात सुविधाओं का जनता की आवश्यकताओं से उचित समायोजन करना है जिससे किसी भी प्रकार का अपव्यय न हो। किसी भी समुन्नत यातायात प्रणाली मे रेलो और मोटर यातायात तथा अन्य प्रकार की यातायात सुविधाओं का भी होना आवश्यक है। तब विभिन्न प्रकार की यातायात सुविधाओं का विकास इस प्रकार होना चाहिए, जिससे कि वे एक दूसरे की प्रतियोगी होने के स्थान पर यथा संभव सहयोगी हों। साथ ही, प्रत्येक प्रकार के यातायात-साधन की अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं। अतः उसे उसी प्रकार के काम में लाना चाहिए, जिस काम के लिये वह सबसे अधिक उपयोगी है। इस दृष्टि से सड़क यातायात को रेलो की पूरक के रूप मे कार्य करना चाहिए। मोटर गाडिया गांव-गाव मे यातायात-सुविधाओ को पहुचायें, जबकि रेलें मुख्यतः नगरों और मंडियो, आदि को यातायात सुविधायें पहुचायें। भारत के गांवों मे यातायात-सुविधाओं का बहुत अधिक अभाव है। मोटर गाडिया वहा से यातायात प्राप्त करें, और उसे रेलो तक पहुंचायें। उधर से वे रेलो से लाये गये सामान व सवारियो को गांव-गांव मे पहुंचायें। इससे रेलों और मोटर-चालकों और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था सभी को लाभ होगा।

भारत में ऐसा न हो कर आपसी प्रतिस्पर्धा की स्थिति इस लिये उत्पन्न हुई, क्योंकि यहां रेलो और सडकों का निर्माण किसी नियोजित ढंग से नहीं हुआ। यहां अधिकांश सड़कें गांवों को रेलवे स्टेशनो से जोड़ने के स्थान पर, बहुधा रेल की लाइनों के ही समानान्तर दस मील की दूरी के ही भीतर, बनी हुई हैं। अतः वे

रेलों को यातायात ला कर देने के स्थान पर उनकी यातायात छीनती हैं, जिससे प्रतिस्पर्धा का जन्म होता है। अत भविष्य मे नई सडको को रेलवे लाइनो के समानान्तर बनाने के स्थान पर समकोण (Right Angles) पर बनाया जाना चाहिए, और साथ ही, उनके द्वारा देश के सभी गाँवो का पास के रेलवे स्टेशनो मे सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। ऐसा होने मे जहा गावो को पर्याप्त यातायात सुविधायें मिलेगी, वहा रेलवो और मोटर गाडियो को पर्याप्त यातायात (Traffic) मिलेगा।

सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Road Transport)

पृष्ठभूमि—ऊपर हम रेल सडक स्पर्धा के बारे मे पढ आये हैं, जिससे रेलो को, और मोटर मालिकों को भी, काफी हानि हुई। देश मे मोटर यातायात के अनियन्त्रित विकास का यह एक दुष्परिणाम था। इसका एक और दुष्परिणाम मोटर-मालिकों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा भी हुआ। इससे जहा देश मे मोटर यातायात के समुचित विकास को आघात पहुचा, वहां मोटर-मालिको द्वारा उनके कर्मचारियो का और मोटर-गाडियो के यात्रियो का कई प्रकार से शोषण भी हुआ। अत मोटर यातायात की अनुचित स्पर्धा से रेलो की रक्षा करने और स्वय मोटर यातायात को आत्म-हत्या से बचाने के लिये सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। फलस्वरूप देश मे मोटर यातायात को नियन्त्रित करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने १६३६ मे मोटर गाडी अधिनियम पास किया। इसका वर्णन हम पहले ही ऊपर कर आये हैं। तभी दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें यातायात का परिमाण बढ जाने और नागरिक यातायात के लिए मोटर-गाडियो की संख्या मे वृद्धि सम्भव न हो सकने के कारण, युद्धकाल के लिये रेल-सडक स्पर्धा की समस्या समाप्त सी हो गई। परन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इसके पुनर्जन्म का भय था। अत १६४५ में ही 'रेल मण्डल' (Railway Board) की सलाह से केन्द्रीय सरकार ने यह सुझाव दिया कि प्रत्येक प्रान्त मे वहा की प्रान्तीय सरकार, रेलो और निजी मोटर-मालिको की साझेदारी से एक एक त्रिदलीय (Tripartite) निगम स्थापित किया जाय। यह निगम उस प्रान्त मे, रेलो के सहयोग से, सडक यातायात का सचालन करे, *जिससे रेल सडक स्पर्धा समाप्त हो, और जनता को कम मूल्य पर उत्तम यातायात-*सुविधायें प्राप्त हो। इस निगम के अशो को तीनो दलो मे इस प्रकार बाटा जाना था: ३०% से ३३ प्रतिशत तक अंश रेलो के, ३० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत तक अश प्रांत निजी मोटर मालिको के। निजी मालिको की जो मोटर गाडियां अच्छी दशा प्रान्तीय सरकारो के, और शेष अश निजी मोटर मालिको के। निजी मालिको की जो मोटर गाडियाँ अच्छी दशा में होती, उन्हे निगम ने उचित मूल्य देकर खरीद लेना था। इस त्रिदलीय योजना का लगभग सभी क्षेत्रो में स्वागत हुआ। परन्तु निजी मालिक इसमें भाग लेने को राजी न हुए। उन्हे भय था कि ऐसे निगम में उनका

अपना पक्ष रेलो के पक्ष की तुलना में कमजोर रहेगा क्योंकि प्रान्तीय सरकारें भी सामान्यतः रेलों का ही पक्ष लेंगी। साथ ही, उन्हें यह भी भय था कि उनकी मोटर गाड़ियों का उन्हें उचित मूल्य नहीं मिलेगा।

राष्ट्रीयकरण—ऐसी परिस्थिति में रेल सड़क सामंजस्य करने और अपने बढ़ते हुए व्यय को पूरा करने के लिये आय कमाने के उद्देश्य से विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने सड़क यातायात का धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण करना ही उचित समझा। निजी मोटर-मालिकों ने इसका घोर विरोध किया, और इसे रोकने के लिये न्यायालयों की भी शरण ली। परन्तु राज्य सरकारों ने उचित पद उठाकर उनकी आपत्तियों को निर्मूल कर दिया।

अब अधिकांश राज्यों, जैसे उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बम्बई, मद्रास, मैसूर, केरल, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली आदि में राज्य सरकारों द्वारा राष्ट्रीयकृत यात्रि-मोटर यातायात सेवायें चल रही हैं। इनमें लगभग १५ करोड़ रु० की पूंजी लगी हुई है। प्रथम योजना के अन्त में इस सार्वजनिक सड़क यातायात क्षेत्र में ११,००० से भी अधिक मोटर गाड़ियाँ थीं, जिनमें से, लगभग १२ करोड़ रु० की लागत पर, ३,००० मोटर गाड़ियाँ प्रथम योजनाकाल में ही खरीदी गई हैं। तथापि, तब भी प्रथम योजना के अन्त में यात्री-यातायात का केवल ⅙ भाग ही सार्वजनिक क्षेत्र में था, और शेष निजी मोटर-मालिकों के हाथों में था। यह इसलिये क्योंकि विभिन्न राज्यों में केवल कुछ ही मार्गों पर मोटर-यातायात का राष्ट्रीयकरण किया गया है; शेष मार्गों पर अभी भी निजी मोटर-चालकों की गाड़ियां चलती हैं। माल-यातायात अभी भी लगभग पूर्णतया ही निजी मोटर-चालकों के हाथों में ही है।

इधर १९५० में केन्द्रीय सरकार ने 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' (Road Transport Corporations Act) पास किया, जिसके अधीन राज्यों में राज्य सरकारों, रेलों और निजी मोटर-चालकों की साझेदारी से परिनियत (Statutory) सड़क यातायात निगम बनाये जा रहे हैं। ये निगम मोटर सड़क यातायात का संचालन तथा नियन्त्रण करेंगे। दूसरी पंचवर्षीय योजना की रेल योजना में १० करोड़ रु० इसीलिये रखा गया है, जिससे कि रेलें इन निगमों के गठन में भाग ले सकें।

योजना आयोग की सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के प्रति वर्तमान नीति—१९५३ में यह अनुभव किया गया कि देश की बढ़ती हुई यातायात आवश्यकताओं को देखते हुए, सड़क यातायात का पर्याप्त विकास नहीं हो रहा है। अतः यातायात मन्त्रालय की सलाह से योजना आयोग ने सड़क यातायात के विकास की समस्याओं का एक 'विशिष्ट दल' से अध्ययन कराया। इस दल के अध्ययन के आधार पर योजना आयोग ने १९५४ में राज्य सरकारों को निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें कीं—

ने से,

(१) द्वितीय योजनाकाल मे माल यातायात सेवाओ ५ किया जाना चाहिये.

(२) यात्रि यातायात सेवाओ का राष्ट्रीयकरण बहुत स चरणबद्ध (Phased) विधि से होना चाहिये.

(३) जिन क्षेत्रो मे राज्य सरकारे अपनी मोटर गाडिया चलाना चाहती, वहा निजी मोटर चालको का आज्ञा-पत्र देने की शर्तो को अधिक उदार बना देना चाहिये, और उन्हे अपेक्षाकृत अधिक लम्बी अवधि के लिये आज्ञा-पत्र दिये जाने चाहिये,

(४) निजी मोटर चालको को आपस मे मिलकर आर्थिक इकाइया बनाने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण का पक्ष तथा विपक्ष

पक्ष—निजी मोटर यातायात की तुलना मे सरकारी मोटर यातायात के निम्नलिखित मुख्य लाभ बताये जाते है—

यात्रियो को लाभ—सरकारी मोटर यातायात के अधीन यात्रियो को निम्नलिखित कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते है– **(अ) समय की बचत**– सरकारी बसो का किसी स्थान से चलने, तथा अगले स्टेशनो पर पहुचने और वहा ठहरने का समय पूर्व निश्चित होता है, चाहे बस छूटने के समय तक बस पूरी तरह भर चुकी हो या नही । इससे यात्रियो के समय की बडी बचत होती है। निजी बसे समय-सूची का इतना कडा पालन नही करती, जिससे यात्रियो का समय बहुत बर्बाद होता है। साथ ही, सरकारी बसो की चालू दशा अच्छी होती है, जिससे वे मार्ग मे ही खराब होकर यात्रियो का समय बहुत कम बर्बाद करती है। **(आ) यात्रियो की निश्चित सख्या**—सरकारी बसो मे यात्रियो की सख्या निश्चित होती है, जिससे उनमे भीड नही हो पाती, और यात्रियो को भीड से होने वाली तकलीफ नही उठानी पडती । निजी बसे, निजी लाभ से प्रेरित होकर, बहुत बार, कानून के विरुद्ध भी, निर्धारित सख्या से अधिक सवारिया बिठला लेती है, जिससे सभी यात्रियो को असुविधा होती है । **(इ) किराये भाडे में निश्चितता**—सरकारी बसों के किराये-भाडे पूर्णतया निश्चित होते हैं। अत यहा यात्रियो के शोषण की गुजाइश नही होती । परन्तु निजी बस मालिक, समय व परिस्थिति के अनुसार, किराये भाडे में हेर-फेर करदेते है, और कई बार यात्रियो से उचित से अधिक किराया वसूल कर लेते है। **(ई) अन्य सुविधायें**—सरकारी रोडवेज के अधीन यात्रियो की हर प्रकार की सुविधा का ध्यान रखा जाता है। उदाहरणार्थ, बसो की सामान्य दशा अच्छी होती है, उनमे लगी सीटे अधिक आरामदायक होती है, बस स्टेशनो पर प्रतीक्षालयो, टिकट घरो, भोजनालयो, शौचालयो, पीने का पानी आदि सुविधाओ का अच्छा प्रबन्ध होता है। निजी रोडवेज मे इन सुविधाओ का इतना अच्छा प्रबन्ध नही होता है।

(२) **कर्मचारियों को लाभ** - सरकारी मोटर यातायात में काम करने वाले कर्मचारियो को भी, अन्य सरकारी कर्मचारियो की भांति, कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते है। उदाहरणार्थ, उन्हे उचित वेतन मिलता है, उनका वेतन-क्रम (Pay Scale) निश्चित होता है, जिसमे उन्हे नियमानुसार उन्नति मिलती रहती है, उनके काम के घटे और छुट्टियो की सख्या निश्चित होती है, उन्हे नौकरी की सुरक्षा प्राप्त होती है, उन्हे भविष्य निधि अथवा पेंशन, आदि का लाभ प्राप्त होता है, आदि आदि। निजी मोटर मालिको के अधीन कर्मचारियो को ये सब लाभ उपलब्ध नही होते। निजी लाभ से प्रेरित होकर निजी मालिक अपने कर्मचारियो का कई प्रकार से शोषण करते हैं।

(३) **मोटर यातायात की कार्यक्षमता में वृद्धि**—निजी-मोटर मालिको की तुलना मे सरकार के वित्तीय साधन कही बडे होते हैं। वह बडी सख्या मे नई मोटर गाडिया खरीद सकती हैं, और उनकी मरम्मत व नियमित सफाई आदि के लिये वर्कशापो की व्यवस्था करती है। वह उचित वेतन देकर प्रशिक्षित कर्मचारियो की सेवायें प्राप्त करती हैं। इस सबसे निजी रोडवेज की तुलना मे सरकारी रोडवेज की कार्यक्षमता, कही अधिक होती है। इससे भी यात्रियो को बडा लाभ होता है।

(४) **रेल सड़क स्पर्धा तथा सड़क यातायात की आन्तरिक स्पर्धा की समाप्ति**—सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण से, रेल-सडक-स्पर्धा को समाप्त करना सरल हो जाता है, क्योकि तब रेलें और सडक यातायात दोनो ही सरकारी उपक्रम हो जाती हैं। सडक यातायात के निजी हाथो मे होने से निजी मोटर-मालिको मे जो आपसी स्पर्धा होती है, सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण से वह भी समाप्त हो जाती है।

(५) **अलाभकारी मार्गों पर भी बसों का चलना**—निजी मालिको का उद्देश्य निजी लाभ कमाना होता है। अत: वे केवल उन्ही मार्गों पर बसे चलाते हैं, जहा उन्हे अधिक लाभ कमाने की आशा होती है। इससे कुछ लाभदायक मार्गों पर तो आवश्यकता से अधिक मोटर गाडिया चलने लगती हैं, जिससे वहा आपसी प्रतिस्पर्धा का विष फैलता है, और अन्य कम लाभदायक मार्गो पर यातायात सुविधाओ का अभाव सा रहता है। सरकारी मोटर यातायात प्रणाली के अधीन ऐसा नही होता। सरकार का उद्देश्य लाभ कमाना नही, वरन् जनता की सेवा करना होता है। अत सरकार पिछडे क्षेत्रो व कम लाभदायक मार्गों पर भी ध्यान रखती है और ऐसे मार्गों पर मोटर गाडिया चलाने से होने वाली हानि को अधिक लाभप्रद मार्गों के लाभो से पूरा कर लेती है।

(६) **सड़क निर्माणकर्ता तथा सड़क प्रयोगकर्ता के भेद की समाप्ति**—सडकें सरकार द्वारा बनाई जाती हैं, और उनकी मरम्मत तथा देख-भाल भी वही करती है। सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण से, उनकी मुख्य उपभोक्ता भी वही हो जाती है। सडक यातायात के निजी हाथो मे रहने से सडक निर्माणकर्ता तथा सडक प्रयोगकर्ता मे भेद बना रहता है। तब सडक-निर्माण तथा मरम्मत के व्यय का भार निजी मोटर-चालको पर डालने की समस्या भी बनी रहती है।

(७) **सरकारी आय का स्रोत**—सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण होने से, सड़क यातायात के कार्यकरण का जो वित्तीय लाभ होता है, वह सरकार को मिलता है। इससे सरकार की आय बढती है, और वह देश के आर्थिक विकास तथा जनता के आर्थिक कल्याण पर अधिक व्यय कर पाती है।

विपक्ष—तथापि, विभिन्न राज्यो मे सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण का वास्तविक अनुभव इन सभी बातो को सत्य सिद्ध नही करता है। निजी मोटर-चालको का कहना है कि सरकारी मोटर यातायात के लाभ आवश्यकता से अधिक बढा-चढा कर कहे जाते है। उनके अनुसार, सडक यातायात का इस समय राष्ट्रीयकरण उनके प्रति एक अन्याय है, क्योकि उन्होने पिछले ३०–४० वर्षो मे एक नये तथा जोखिमपूर्ण व्यवसाय मे पूजी लगाई है, और इस काल मे काफी कठिनाइया तथा हानिया भी उठाई है। अब जब वे कुछ लाभ कमाने लगे है, तो इस व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करना अन्याय नही तो और क्या है? इसके अतिरिक्त, मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे निम्नलिखित बाते कही जाती है—

(१) **यात्रियो को हानियाँ**—सरकारी रोडवेज मे यात्रियो को कई प्रकार की हानियाँ तथा असुविधाये उठानी पडती हैं। एक तो यही कि सरकारी बसे केवल निश्चित स्थानो पर ही रुकती है वे इन स्थानो के बीच मे कही रुक कर सवारियो को नही उतारती। इससे यात्रियो को कई बार अनावश्यक रूप से उसी मार्ग पर आगे अथवा पीछे जाना पडता है, और मोटर यातायात की अस्थूलता का लाभ समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत, निजी बसे सवारियो को मार्ग मे उनके इच्छित स्थान पर उतार देती है। दूसरे, सरकारी बसो के किराये भाडे की दरे अपेक्षाकृत ऊंची है, क्योकि उन्हे अधिक कर्मचारियो तथा कई प्रकार के अनावश्यक प्रशासनात्मक खर्चो को उठाना पडता है। इससे बस यात्रियो पर अनावश्यक भार पडता है। तीसरे, सरकारी रोडवेज के कर्मचारी यात्रियो से उसी प्रकार का अच्छा बर्ताव नही करते, जिस प्रकार का कि निजी बसो के कर्मचारी करते है।

(२) **सरकार कर्मचारी संघर्ष**—यह देखा गया है कि सरकारी कर्मचारियो मे असतोष की भावना अधिक ह। वे छोटी-छोटी बातो को मनवाने के लिये भी हडताल की धमकी देते हैं। इससे सरकार व उसके कर्मचारियो मे अच्छे सम्बन्ध नही रहते।

(३) **कार्यक्षमता का ह्रास**—किसी भी व्यवसाय की कार्यक्षमता को बनाये रखने अथवा उसमे वृद्धि करने के लिये प्रतियोगिता का होना आवश्यक है। सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण से यह प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है जिससे कार्यक्षमता बढने के स्थान पर कम होती है। वैसे भी सरकारी कार्यो मे अपव्यय अधिक तथा कार्यक्षमता कम होती है।

(४) **रेल-सडक समन्वय का अभाव**—सडक यातायात के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे एक तर्क यह दिया जाता है कि इससे रेल-सडक स्पर्धा का अन्त होगा।

परन्तु यह धारणा ठीक नही है। रेलें केन्द्रीय सरकार के अधीन हैं, जबकि सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण राज्य सरकारें कर रही है। अतः केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारो के बीच किसी भी बात को ले कर मत भेद हो सकता है, जिससे आवश्यक रेल-सड़क समन्वय न हो पाये।

(५) बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता—राष्ट्रीयकरण करने के लिये राज्य सरकारो को बडी मात्रा मे पूंजी की आवश्यकता पडेगी—एक तो निजी मोटर मालिको को मुआवजा देने के लिये, और दूसरे, नई मोटर गाड़ियां खरीदने तथा वर्कशापो की व्यवस्था, आदि करने के लिये। राज्य सरकारो के पास पहले ही वित्तीय साधनो की कमी है। अतः इन सीमित साधनो को सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण मे लगाने की अपेक्षा, नये उद्योगो मे लगाना कही अधिक अच्छा है।

(६) राष्ट्रीयकरण अनावश्यक—निजी मोटर चालको का यह भी कहना है कि मोटर यातायात के केवल नियमन के लिये इस का राष्ट्रीयकरण इतना आवश्यक भी नही है, क्योंकि सरकार इस उद्देश्य को मोटर गाडी अधिनियम, १९३९ की विभिन्न धाराओं के द्वारा अथवा इसी प्रकार का कोई और अधिनियम पास कर के भी प्राप्त कर सकती है।

तथापि, राष्ट्रीयकरण के विपक्ष के भी सभी तर्कों मे बल नही है। वास्तव मे, सड़क यातायात का तुरन्त ही पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण आवश्यक नही है। इसीलिये, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, योजना आयोग ने भी राज्य सरकारो को इस दिशा मे 'धीरे चलने' की सलाह दी है।

जल यातायात
(Water Transport)

प्राक्कथन

जल यातायात परिवहन का बहुत पुराना तथा सब से सस्ता साधन है। इसके सस्तेपन के दो मुख्य कारण है—एक तो यह कि जल यातायात मे मार्ग प्राकृतिक होता है, और उसके बनाये रखने मे कोई खर्चा नही होता, जबकि रेल व सड़क यातायात मे मार्ग-निर्माण व उस की मरम्मत आदि मे बडी मात्रा मे पूंजी लगानी पडती है। यह ठीक है कि आन्तरिक नौचालन के लिये नहरो के बनाने व आवश्यक उपकरणो को लगाने आदि मे भी पूंजी लगानी पडती है। परन्तु अन्य यातायात-साधनो के मार्ग-निर्माण व मरम्मत आदि के खर्चे की तुलना मे यह खर्चा बहुत कम होता है। उधर यह भी कहा जा सकता है कि वायु यातायात मे भी, जल यातायात की भांति मार्ग (वायुपथ) प्राकृतिक होता है। अतः वह भी सस्ती होनी चाहिये। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है, क्योंकि वायु यातायात के लिये एक तो भूमि पर सप्रबन्ध पर काफी खर्चा होता है, और दूसरे, वायुयान कम सवारियो अथवा सामान को ले जा सकता है, अतः वह अभी तक यातायात का सबसे महगा साधन है। जल यातायात के सस्ते होने का दूसरा मुख्य कारण यह है कि पानी का प्रति-

रोध (Resistance) बहुत कम होता है, जिससे ईंधन का खर्चा भी कम पड़ता है। सस्तेपन के इस गुण के साथ, जल यातायात में एक और गुण यह है कि एक जलयान पर ही बार में बडी मात्रा में सामान ले जा सकता है। अतः भारी, सस्ते और बडे सामान की यातायात के लिये यह परिवहन का बड़ा उपयुक्त साधन है। फिर, देश की सुरक्षा के लिए भी यह ■ वश्यक है। अत भारत में रेलों और सडक यातायात के साथ-साथ जल यातायात का भी पर्याप्त विकास करना आवश्यक है।

तथापि, यहा हमें जल यातायात के कुछ दोष भी जान लेने चाहिये। इसका एक बडा दोष इसकी धीमी गति है। आज के द्रुत गति के युग में यह एक बडा दोष है। अतः इसका प्रयोग उसी प्रकार की यातायात के लिये किया जाता है, जिसमें अधिक समय लगने से कोई हानि न होती हो। दूसरे, आन्तरिक जल यातायात के लिये पूरा वर्ष बहने वाली बडी नदियां आवश्यक हैं, जो कि मैदानों में से बहती हों। इनमें नौचालन के लिये नहरें भी निकाली जा सकती है। यदि सूखी ऋतु में इन नदियों या नहरों में पानी सूख जाता है या कम हो जाता है या शीत ऋतु में यदि पानी जम जाता है, तो स्पष्ट है कि जल यातायात सम्भव नहीं रहती।

जल यातायात को बहुधा दो भागों में बांटा जाता है:—(i) आन्तरिक जल यातायात, और (ii) समुद्री यातायात।

भारत में आन्तरिक जल यातायात (Inland Water Transport in India)

आन्तरिक जल यातायात के दो मुख्य साधन है —नदियां और नहरें। उत्तरी भारत में पूरा वर्ष बहने वाली बडी बडी नदियां हैं। ये मैदानों में से बहती है। इनमें नौचालन हो सकता है। नौचालन के लिए इन से नहरें भी निकाली जा सकती है। दक्षिणी भारत में यह सुविधा अपेक्षाकृत कम हैं, क्योंकि वहां की नदियां पूरा वर्ष बहने वाली नहीं है, और बहुत स्थानों पर भूमि पथरीली है। इस समय नौचालन गंगा, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी और कृष्णा नदियों में तथा केरल की नहरों, बकिंघम नहर, मद्रास और आन्ध्र राज्यों की पश्चिमी तटीय नहरों, उड़ीसा में महानदी की नहरों और उत्तर प्रदेश में गंग नहर व शारदा नहर में होता है। अनुमान है कि भारत में मशीनों से चलने वाली नावों के योग्य जल मार्गों की लम्बाई ५,००० मील है। परन्तु भारत में अभी तक नदियों में मशीनों से चलने वाली नावों से १,५५७ मील की लम्बाई में और वहीं देशी नावों से ३,५८७ मील की लम्बाई में ही नौचालन हो सकता है। विशेषज्ञों का मत है कि कम गहरे पानी के स्थानों पर जल मार्ग को गहरा करके या मिट्टी साफ करके या वहां कम पानी में चल सकने वाली नावों का प्रयोग करके नौचालन हो सकता है। जल मार्ग को गहरा करना या वहां से मिट्टी साफ करना बडा खर्चीला काम है। अतः आजकल कम पानी में चलने योग्य विशेष प्रकार की नावों के बनाने पर ही अधिक जोर दिया जा रहा है। इसका हम आगे भी जिक्र करेंगे।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत मे आन्तरिक जल यातायात बडी पिछडी दशा मे है। तथापि, हमे जान लेना चाहिये कि यह सदा ही ऐसी दशा मे नही रहा है। पिछली शताब्दी के मध्य तक देश मे इस आन्तरिक जल यातायात का बडा महत्त्व था। देश का बहुत सा वाणिज्य-व्यापार इसी के द्वारा होता था। इसीलिये अधिकाश बडे-बडे नगर भी नदियो के किनारों पर ही बसे हुये थे। परन्तु पिछली शताब्दी के मध्य के पश्चात् से आन्तरिक जल यातायात का ह्रास होने लगा। इसके कई एक कारण थे। इनमे से एक मुख्य कारण देश मे रेलों का विकास था। रेले यातायात का द्रुतगामी साधन हैं। अतः लोग धीमी गति वाले आन्तरिक जल यातायात को छोड कर तेज गति वाली रेलो की ओर आकर्षित होने लगे। देश की अंग्रेजी सरकार ने भी इस प्रवृत्ति को यथा सम्भव प्रोत्साहित किया। उसने रेल कम्पनियो को कई प्रकार की सहायता दी, जब कि आन्तरिक जल यातायात की ओर बिल्कुल भी ध्यान नही दिया। इसके अतिरिक्त एक और कारण यह भी था कि नदियो से सिचाई के लिये नहरें निकाली जाने लगी, जिससे नदियो मे पानी कम रहने लगा, और उनमे नौचालन कठिन हो गया। नहरो में नौचालन की सुविधा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इन बातो तथा अन्य कारणों से देश मे धीरे-धीरे आन्तरिक जल यातायात का ह्रास होता चला गया।

यह दशा वर्तमान शताब्दी मे भी दूसरे विश्व युद्ध के आरम्भ तक चलती रही। दूसरे विश्व युद्ध काल मे पहली बार भारत सरकार का ध्यान आन्तरिक जल यातायात के विकास की ओर गया। यह इसलिये क्योकि युद्ध काल मे यातायात के परिमाण के बहुत अधिक बढ जाने से रेलो और सडकों पर यातायात का भार बहुत बढ गया था, और अत स्थिति सुधारने के लिये यातायात के वैकल्पिक साधनो के विकास की आवश्यकता थी। अतः भारत सरकार ने देश मे आन्तरिक जल यातायात के नियोजित ढंग पर विकास के काम को संभालने के लिये १९४५ मे 'केन्द्रीय जल मार्ग सिंचाई और नौचालन आयोग' ('Central Waterways Irrigation & Navigation Commission') की नियुक्ति की। इस आयोग को अब 'केन्द्रीय सिंचाई तथा शक्ति आयोग' (Central Irrigation & Power Commission) कहा जाता है। यह आयोग, अन्य कार्यो के साथ, देश मे वर्तमान जल मार्गो को सुधारने व साफ करने, नये जल मार्गो के निर्माण तथा नदियो के जल के बहु-उद्देशीय प्रयोग की व्यवस्था आदि का कार्य करता है। तदनुसार, देश मे जो बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजना चल रही है, उनमे से कई एक मे नौचालन की सुविधाओ की व्यवस्था भी की गई है। उदाहरणार्थ, दामोदर घाटी योजना मे रानीगंज से कलकत्ता तक ८७ मील की लम्बाई मे नहर मे नौचालन होगा। हीराकुण्ड योजना के अधीन, हीराकुण्ड से लेकर समुद्र तक ३०० मील से भी अधिक के भाग मे नौचालन सम्भव हो जायगा।

नदियो मे नौचालन की समस्या का अध्ययन करने के लिये पूना मे एक

'नदी अनुसंधान संस्था' ('River Research Institute') की स्थापना भी की गई है। गंगा, ब्रह्मपुत्र और इन दो बड़ी नदियों की सहायक नदियों में जल यातायात के विकास का समन्वय करने के लिये १९५२ में 'गंगा, ब्रह्मपुत्र जल यातायात मण्डल' की स्थापना की गई है। प्रथम योजना काल में कम गहरे जल में विशिष्ट प्रकार से बनाई गई नौकाओं का प्रयोग कर के नौचालन के विकास का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 'गंगा ब्रह्मपुत्र जल यातायात मण्डल' ने प्रयोग के रूप में तीन योजनाओं को प्रारम्भ किया।

दूसरी योजना में आन्तरिक जल यातायात के विकास के लिये ३ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इसमें से १ करोड़ १५ लाख रु० दक्षिण में बकिंघम नहर को चौड़ा तथा गहरा करने पर तथा इसे मद्रास की बन्दरगाह से जोड़ने पर और ४३ लाख रु० पश्चिमी तट की नहरों के विकास पर व्यय किया जायगा। शेष (१४२ लाख रु०) गंगा ब्रह्मपुत्र मण्डल को 'गंगा ब्रह्मपुत्र क्षेत्र' में जल यातायात के विकास के लिए उपलब्ध होगा। मण्डल के विकास कार्यों में महत्वपूर्ण जल मार्गों को गहरा करना, तथा नौचालन को सहायता देने की व्यवस्था, जैसे रेडियो, टेलीफोन, स्वचालित आकाशदीप (Beacons), और चुने हुये स्थानों पर आन्तरिक बन्दरगाहों की सुविधाओं का विकास करना, आदि आदि कार्य शामिल किये गये हैं।

समुद्री यातायात (Oceanic Transport)

समुद्री यातायात को दो भागों में बाँटा जा सकता है, (i) तटीय (Coastal) यातायात, और (ii) समुद्र पार (Overseas) की यातायात। भारत एक उप-महाद्वीप है। इसके तीन ओर समुद्र है, और समुद्र तट की लम्बाई लगभग ३४०० मील है। यह पूर्वी गोलार्ध (Eastern Hemisphere) के केन्द्र में स्थित है। यहाँ से पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के देशों को समुद्री मार्ग जाते हैं, और भारत का इन सभी देशों से व्यापार सम्बन्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भारत पहले ६ महत्वपूर्ण देशों में से एक है। इस प्रकार भारत की तटीय और समुद्र पार की यातायात का परिमाण काफी बड़ा है। देश की रक्षा के दृष्टिकोण से भी वाणिज्य समुद्री यातायात बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योंकि युद्धकाल में यह आवश्यक वस्तुओं का वहन करती है, और शिक्षा-सुविधाओं तथा अन्य कई प्रकार से जल सेना को सहायता देती है। अतः आवश्यक है कि भारत में समुद्री यातायात अथवा जहाज-रानी (Shipping) भी, देश की आवश्यकताओं के अनुसार, अच्छी प्रकार से विकसित हो।

प्राचीनकाल में भारत इस दिशा में बहुत उन्नत था। यहाँ के लोग जहाज बनाने में बड़े दक्ष थे, और जहाज निर्माण यहाँ का एक महत्वपूर्ण उद्योग था। इतिहास से इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि भारत के मध्य पूर्व, यूनान तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे, और कि वस्त्र,

मसालों तथा अन्य वस्तुओं से भरे हुए जहाज भारत से इन देशों को जाया करते थे। मुस्लिम काल में भी भारतीय जहाजरानी जगत प्रसिद्ध थी। यह दशा १८ वी शताब्दी के अन्त तक रही। तत्पश्चात इसका धीरे-धीरे पतन आरम्भ हो गया। इस पतन के मुख्य कारण निम्नलिखित थे.—

(१) भारतीय केवल लकडी के जहाज बनाने मे दक्ष थे, जबकि १८ वी शताब्दी के अन्त मे भाप शक्ति से चलने वाले जहाज (Steamships) चलने आरम्भ हो गये थे, जिनकी गति के सामने भारतीय लकडी के जहाज टिक न सके,

(२) १९ वी शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत मे रेलें बनने लगी. और तटीय यातायात को इनकी स्पर्धा का सामना करना पड़ा

(३) सबसे महत्वपूर्ण कारण विदेशी, विशेषत अंग्रेजी, जहाजी कम्पनियो का भारत के समुद्री यातायात मे पदार्पण था। भाप से चलने वाले जहाजों की सहायता से इन कम्पनियो ने शीघ्र ही भारत के समस्त समुद्री यातायात पर अपना एकाधिकार जमा लिया। भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण इस एकाधिकार स्थापना को बहुत सहायता मिली। उधर आरम्भ में भारतीयो ने स्वयं इस ओर विशेष ध्यान नही दिया। बाद मे जब भारतीयो ने जहाजी कम्पनिया स्थापित करने के प्रयत्न किये, तो उन्हे विदेशी कम्पनियो की घातक प्रतियोगिता का शिकार बनना पड़ा। विदेशी कम्पनियो के पास इस घातक प्रतियोगिता के दो मुख्य हथियार थे. एक तो भाडा युद्ध (Rate war), और दूसरा, विलम्बित कटौती प्रथा (Deferred Rebate System)। भाडा युद्ध के अधीन विदेशी कम्पनिया माल ले जाने के भाडे की दरो को कुछ समय के लिये इतना कम कर देती थी, जिससे कि नई स्थापित कम्पनी को भारी हानि हो, और वह शीघ्र ही अपना काम बन्द कर दे। उदाहरणार्थ, सन १८९३ मे जब जमशेद जी टाटा ने चीन से सूत का व्यापार करने के लिये एक जहाजी कम्पनी चलाने का निश्चय किया, तो पी० एन्ड ओ० कम्पनी (P. & O. Company) ने अपना भाडा १९ रु० प्रति टन से घटा कर १½ रु० प्रति टन कर दिया। टाटा कम्पनी इतनी घातक प्रतियोगिता न सह सकी, और बन्द हो गई। विदेशी कम्पनियो ने अपना भाडा पुन. १½ रु० से बढा कर १७ रु० प्रति टन कर दिया। सन १८६० और १९२५ के बीच इसी प्रकार एक-दो नही, वरन् १०२ जहाजी कम्पनिया खुली। परन्तु सभी ने अंग्रेजी जहाजी कम्पनियो के एकाधिकार के सामने घुटने टेक दिये। विलम्बित कटौती प्रथा के आधीन विदेशी कम्पनिया व्यापारियो से जितना भाडा लेती थी, उस पर चार या छ. महीने के पश्चात कुछ कटौती (१०%) इस शर्त पर देती थी कि आगे भी वे अपना माल इन्ही कम्पनियो द्वारा ही भेजेंगे। इस प्रकार अंग्रेजी कम्पनियों ने भारत के तटीय व समुद्र पार के व्यापार पर पूरा एकाधिकार प्राप्त कर लिया था। वे ऊंचा भाडा वसूल करती थी और खूब लाभ कमाती थी।

रा० अमरीका की टनेज इस कुल की १७·३% और जापान की टनेज इस कुल की ८·१% थी।

द्वितीय युद्धकाल मे सरकार ने पहली बार देश की रक्षा और खाद्यान्न, आदि आवश्यक वस्तुओं की आयात के लिये भारतीय जहाजरानी की कमी को, और इस कमी को दूर करने की आवश्यकता को अनुभव किया। अतः इस समस्या पर विचार करने के लिये उसने १९४५ मे ही सर सी० पी० रामास्वामी ऐयर की अध्यक्षता मे एक जहाजरानी नीति समिति की नियुक्ति की। समिति ने १९४७ मे अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमे उसने सरकार की पुरानी नीति की कडी आलोचना की, और एक नई नीति की सिफारिश की। इस नीति के अधीन उसने सिफारिश की कि आगामी ५ ७ वर्षों के भीतर भारतीय जहाजरानी को (i) भारत के तटीय व्यापार का १००%, (ii) बर्मा, लका तथा अन्य पडोसी देशो से होने वाले व्यापार का ७५% (iii) दूर के देशो से सामु- द्रिक व्यापार का ५०%, तथा (iv) पूर्व मे पहले जर्मनी, इटली और जापान के जहाजो द्वारा किये जाने वाले व्यापार का ३०% भाग प्राप्त करना चाहिये। इसके लिये देश मे जहाजो की कुल टनेज कम से कम २० लाख होनी चाहिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इङ्गलैंड व अमरीका से जहाज खरीदे जाने चाहियें तथा देश मे भी जहाज निर्माण उद्योग का विकास किया जाना चाहिये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्—१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया। देश की राष्ट्रीय सरकार ने उक्त समिति की सिफारिशो को मान लिया। तब से उसने समिति के द्वारा सुझाये गये लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये और भारतीय जहाजरानी के विकास के लिये कई एक पद उठाये हैं। नीचे हम सक्षेप मे उनका विवरण देते हैं।

तटीय यातायात—अगस्त, १९५० मे भारत सरकार ने तटीय व्यापार को पूर्णतया भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित रखने की नीति की घोषणा की, और अगस्त, १९५१, तक इस लक्ष्य की प्राप्ति भी कर ली। इसके लिये उसने जनवरी, १९५१ मे अंग्रेजी प्रभुत्व के जहाजी सम्मेलन के स्थान पर 'भारतीय तटीय सम्मेलन' की स्थापना की। फलस्वरूप अब भारत का सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजों द्वारा ही किया जाता है।

समुद्र-पार (Overseas) को यातायात—जहाजरानी निगम—समुद्र-पार के व्यापार को यातायात प्रदान करने के लिये सरकार ने १९४७ मे ही विभिन्न जल मार्गों के लिये १०-१० करोड रु० की अधिकृत पूंजी के तीन 'जहाजरानी निगम' ('Shipping Corporations') बनाने का विचार रखा था। परन्तु वित्तीय कठिनाई के कारण शीघ्र ही ऐसा न हो सका। सर्वप्रथम, १९५२ मे सरकार ने १० करोड रु० की अधिकृत पूंजी का एक निगम 'पूर्वी जहाजरानी निगम' ('Eastern Shipping Corporation') स्थापित किया। यह निगम आस्ट्रेलिया, सुदूर पूर्व और पश्चिमी एशिया के साथ भारत के व्यापार को समुद्री यातायात

प्रदान करता है। आरम्भ मे इस निगम का प्रबन्ध सिंधिया कम्पनी को सौंपा गया था। अगस्त, १६५६ से सरकार ने निगम का प्रबन्ध अपने हाथो मे ले लिया है।

जून, १६५६ मे सरकार ने १० करोड रु० की अधिकृत पूंजी का एक और निगम, 'पश्चिमी जहाजरानी निगम' (Western Shipping Corporation) के नाम से रजिस्टर करवाया है। यह निगम भारत-फारस की खाडी, भारत-लाल सागर तथा भारत पोलैण्ड के जल-मार्गो पर कार्य करेगा। इस निगम के लिये जहाज बनाये जा रहे है।

भारत-सोवियत व्यापार समझौते के अन्तर्गत आने-जाने वाली वस्तुओ की यातायात के लिये अप्रैल, १६५६ से भारत और रूस के बीच भी एक जहाजी सेवा आरम्भ कर दी गई है। इसी प्रकार का समझौता पोलैण्ड की सरकार से भी किया गया है।

जहाज-निर्माण—जहाजरानी के विकास के लिये देश मे जहाजो के निर्माण के कारखानो का होना आवश्यक है। भारत मे इस समय इस प्रकार का केवल एक कारखाना विशाखापत्तनम् (आंध्र प्रदेश) मे है। इसकी स्थापना सिंधिया कम्पनी ने १६४१ मे की थी। मार्च, १ ५२ मे भारत सरकार ने इसे खरीद लिया, और इसका प्रबन्ध हिन्दुस्तान शिपयार्ड, लिमिटिड' को सौप दिया। 'हिन्दुस्तान शिपयार्ड' कम्पनी मे दो तिहाई पूंजी सरकार की और एक-तिहाई पूंजी सिंधिया कम्पनी की लगी हुई है। सरकार द्वारा साझेदारी करने के पश्चात् से इस कारखाने का पर्याप्त विकास किया जा रहा है। इस कारखाने द्वारा बनाया गया पहला जहाज मार्च, १६४८ मे चलाया गया था। अभी तक (१६५८) इस कारखाने ने कुल १५ जहाज तैयार किये है, तथा ६ और जहाज इसमें बनाये जा रहे है।

जहाज-निर्माण के एक दूसरे कारखाने की स्थापना के बारे मे भारत सरकार आवश्यक प्रारम्भिक तैयारिया कर रही है।

जहाजी शिक्षा—भारतीयो को जहाजी शिक्षा देने के लिये १६२७ मे एक जहाज, 'डफरिन', बनाया गया था। शिक्षा सुविधाओ को बढाने के लिये १६४८ मे बम्बई मे 'नाटिकल एण्ड इंजीनियरिंग कालिज' (Nautical and Engineering College) की और कलकत्ता मे एक 'मैरीन इंजीनियरिंग कालिज' (Marine Engineering College) की स्थापना की गई। इनके अतिरिक्त, तीन जहाज रैटिंग्ज (Ratings) को भी शिक्षा प्रदान करते हैं।

निजी जहाजी कम्पनियों को सहायता—भारत सरकार ने निजी जहाजी कम्पनियो को, जहाज खरीदने के लिये, प्रथम योजनाकाल मे, २४ करोड रु० के ऋण दिये हैं, और दूसरी योजना के अधीन १२·५ करोड़ रु० के ऋणो की व्यवस्था की है।

इसके अतिरिक्त, शीघ्र ही देश मे जहाजरानी के विकास के लिये एक

'जहाजरानी विकास कोष' (Shipping Development Fund) बनाया जायेगा।

वर्तमान स्थिति—इन सब पदो के फलस्वरूप भारत मे जहाजरानी ने पर्याप्त विकास किया है। १६३६ मे भारतीय जहाजो की कुल सख्या ३०, उनकी कुल टनेज १·५५ लाख थी, और वे तटीय व्यापार का २५% और समुद्र पार के व्यापार का केवल १ प्रतिशत वहन करते थे। जनवरी, १६५८ के अन्त मे भारतीय जहाजो की सख्या १३२ हो गई थी, और इनकी कुल टनेज (Gross Registered Tonnage—GRT) लगभग ५·८२ लाख थी। इनमे से २·५८ लाख टनेज के ८४ जहाज तटीय व्यापार का और ३·२४ लाख टनेज के ४८ जहाज समुद्र पार के व्यापार का वहन करते थे। इस समय भारतीय जहाज छ समुद्र-पार के मार्गों—भारत यू० के०-योरप, भारत-मलाया, भारत जापान भारत पूर्वी अफ्रीका, भारत-फारस की खाडी, और भारत-आस्ट्रेलिया—पर चलते हैं। इनमे से चार मार्गों पर जहाज केवल सामान ही ले जाते हैं और शेष दो पर सवारियां और समान दोनो ही ले जाते है। अब सारे का सारा तटीय व्यापार, निकटवर्ती देशो से व्यापार का लगभग ४० प्रतिशत भाग और दूरवर्ती देशो से व्यापार का लगभग ६ प्रतिशत भाग भारतीय जहाजो द्वारा वहन किया जाता है। तथापि, हमे ध्यान रखना है कि अभी भी हम जहाजरानी मे बहुत पीछे हैं। जहाजरानी समिति, १६४५-४७ द्वारा निर्धारित लक्ष्यो को भी अभी हमने प्राप्त नही किया है (केवल तटीय व्यापार के लक्ष्य को छोडकर)। फलस्वरूप विदेशी जहाजी कम्पनियो अभी भी भारतीय व्यापार की यातायात से करोडो रुपया कमाती है। १६५४ ५६ के तीन वर्षों मे ही इन कम्पनियो को भारतीय आयातोंऔर निर्यातो के वहन से कुल १६६ करोड़ रु० भाडा मिला था। अतः भारतीय जहाजरानी के विकास के लिये अभी काफी क्षेत्र पडा है।

योजनाओं के अन्तर्गत भारतीय जहाजरानी (Indian Shipping under the Plans)

प्रथम योजना—प्रथम योजना के आरम्भ के समय भारत मे कुल लगभग ३·६ लाख जी० आर० टी० (GRT—Gross Registered Tonnage) के जहाज थे। इनमे से लगभग २ २ लाख टनेज (GRT) के जहाज तटीय व्यापार और १·७ लाख टनेज (GRT) के जहाज समुद्र पार के व्यापार मे लगे हुए थे। प्रथम योजना मे यह लक्ष्य रखा गया था कि इस कुल टनेज (GRT) मे २·१५ लाख की वृद्धि की जाय, जिसमे से १ ०५ लाख (GRT) की वृद्धि तटीय व्यापार मे और १·१ लाख (GRT) की वृद्धि समुद्र पार के व्यापार मे की जाय। इस प्रकार योजना के अन्त मे कुल टनेज लगभग ६ लाख (GRT) की जानी थी। इसके अतिरिक्त, पुराने जहाजो के स्थान पर लगभग ६०,००० टनेज (GRT) के नये जहाज प्राप्त किये जाने थे। वास्तव में, योजना के अन्त मे कुल टनेज ४·८ लाख (GRT)

हो पाई गी जिसमे से आधी टनेज तटीय तथा निकटवर्ती देशों से व्यापार मे थी, और आधी समुद्र पार के व्यापार मे थी। इसके अतिरिक्त, लगभग १'२ लाख टनेज (GRT) के जहाजो के बनाने के लिये आज्ञा भेजी जा चुकी थी। इन जहाजो के आने पर, प्रथम योजना का ६ लाख टनेज (GRT) का लक्ष्य पूरा हो जायेगा।

मूल योजना मे जहाजरानी के ऊपर बनाये लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये जहाजरानी के विकासार्थ १६.५ करोड रुपये की व्यवस्था की गई थी। बाद मे इस रकम को बढ़ाकर २६.३ करोड रुपया कर दिया गया था। योजनाकाल मे वास्तव मे, १८.७ करोड रुपया व्यय किया गया। शेष ७.६ करोड रुपये के मूल्य के जहाजो के लिये आज्ञा दी जा चुकी थी, और इसका वास्तव मे व्यय, जहाज मिलने पर दूसरी योजना की अवधि मे किया जाना था।

मूल योजना मे बन्दरगाहो के विकास के लिये ३३ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। बाद मे इसे बढ़ाकर ३६.६ करोड रु० कर दिया गया। वास्तव मे लगभग २७.६ करोड रुपया व्यय किया जा सका। इस व्यय से पश्चिमी तट पर कराची की बन्दरगाह के पाकिस्तान मे चले जाने की कमी को पूरा करने के लिये काण्डला की नई बन्दरगाह बनाई गई और बम्बई तथा कलकत्ता एव अन्य बन्दरगाहो का विकास किया गया। इससे बड़ी बन्दरगाहो की कुल क्षमता २ करोड टन यातायात सभालने से बढकर २.५ करोड टन हो गई। योजनाकाल मे ७८ नये प्रकाश स्तम्भ (Light houses) बनाये गये व सुधारे गये, और जहाजी कर्मचारियो की परिक्षा की सुविधाओ का प्रसार किया गया।

दूसरी योजना—दूसरी योजना की अवधि मे अनुमानत ६० हजार टन (GRT) के जहाज पुराने व बेकार हो जायेंगे। इनका नये जहाजो से प्रतिस्थापन किया जायेगा। इसके अतिरिक्त, योजनाकाल मे ३ लाख टन (GRT) के नये जहाजो को चालू करने का लक्ष्य रखा गया है। इससे दूसरी योजना के अन्त में भारतीय जहाजो की कुल टनेज ६ लाख जी० आर० टी० (GRT) हो जायेगी। योजना में इस वृद्धि के निम्नलिखित मुख्य ध्येय रखे गये हैं—

(i) रेलो से ले जाई जाने वाली यातायात के कुछ भाग को तटीय जहाजो द्वारा ले जाये जाने की सभावना को ध्यान मे रखते हुए, तटीय व्यापार की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये जहाजों की समुचित व्यवस्था करना;

(ii) भारत के समुद्र-पार के व्यापार का अधिकाधिक भाग भारतीय जहाजों के लिये प्राप्त करना, और

(iii) तेल ले जाने वाले जहाजो के एक बेडे (Tanker Fleet) की स्थापना का आरम्भ करना।

इन लक्ष्यो की प्राप्ति होने पर, भारतीय जहाज देश के समुद्र पार के व्यापार

का लगभग १२ से १५ प्रतिशत के बीच तथा निकटवर्ती देशों से व्यापार का लगभग ५०% वहन करने लगेंगे।

दूसरी योजना में भारतीय जहाजरानी के विकास के लिये ४५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इस में से ८ करोड रु० तो प्रथम योजना के निर्धारित धन में से बचे हुए है, और शेष ३७ करोड रु० दूसरी योजना की धन राशि में से मिलेंगे। इसके अतिरिक्त १५ करोड रु० की और व्यवस्था भी है, जिससे एक बड़ा जहाज अन्दमान तथा निकोबार द्वीपो व भारत के बीच यातायात के लिये और तीन छोटे जहाज इन दोनो द्वीपो के बीच यातायात के लिये खरीदे जायेंगे। इसके अतिरिक्त, आशा है कि जहाजी कम्पनियाँ अपने विस्तार-कार्यक्रम के लिये लगभग १० करोड रु० की अपने पास से व्यवस्था करेंगी। योजना में प्रस्तावित कुल धन राशि में से २० करोड रु० 'पूर्वी जहाजी निगम' तथा 'पश्चिमी जहाजी निगम' में प्रत्यक्ष रूप से विनियोग किये जायेंगे। शेष रकम से निजी जहाजी कम्पनियों के विस्तार कार्यक्रम की सहायता की जायेगी। इसके अतिरिक्त, बन्दरगाहो के विकास पर ४८ करोड रु० व्यय किये जायेंगे।

वायु यातायात

(Air Transport)

प्राक्कथन

वायु यातायात परिवहन का सबसे आधुनिक रूप है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी तेज गति है। एक साधारण वायुयान १५०-२०० मील प्रति घंटा की गति से उडता है। ऐसे भी जैट वायुयान हैं जो ५००-६०० मील प्रति घन्टा की गति से उड़ते हैं। इनका यात्रा-पथ आकाश होने के कारण, पहाड़, दुर्गम वन, नदियां, समुद्र, रेगिस्तान, आदि कोई भी चीज इनके मार्ग में बाधक नही होती, जबकि अन्य प्रकार के यातायात साधनो को इन प्राकृतिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इस कारण से वायु यातायात दिन प्रतिदिन बड़ी उन्नति करता जा रहा है। वैसे भी किसी देश के आर्थिक जीवन में यह कई प्रकार से लाभदायक सिद्ध हो रहा है। वायुयानो की सहायता से टिड्डी दल व नाशकारी कीड़े-मकोड़ों से कृषि-फसलो की रक्षा करने के लिये ऊपर से दवाइयां बखेरी जा सकती हैं, भूचाल और बाढ पीड़ितों को तुरन्त ही खाने-पीने और पहनने का आवश्यक सामान पहुंचाया जा सकता है (जैसा कि भारत में आसाम में तथा अन्य स्थानों पर किया गया है), संकट के समय लोगों को तुरन्त ही सकट के स्थानों से निकाला जा सकता है, (जैसा कि भारत का विभाजन होने पर हिन्दू-मुस्लिम झगडो के दिनों में किया गया), वनों में आग लगने पर उसे जल्दी ही बुझाया जा सकता है, वनों तथा अन्य स्थानो का आसानी से सर्वेक्षण किया जा सकता है, घायल तथा बीमार व्यक्तियों को तुरन्त ही डाक्टरी सहायता पहुंचाई जा सकती है, डाक को जल्दी ही

दूर-दूर के स्थानों पर पहुंचाया जा सकता है, शीघ्र नाशी परन्तु मूल्यवान वस्तुओं को दूर दूर तक ले जाया जा सकता है, आदि आदि।

वास्तव में वायु यातायात के विकास ने विश्व को बड़ा छोटा कर दिया है, और दूरी की समस्या, बड़ी सीमा तक हल हो गई है। युद्ध और देश की सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी वायु यातायात का बड़ा महत्व है। वायुयानों के कारण आधुनिक युद्ध विश्व व्यापी और अधिक घातक हो गये हैं। साथ ही, इनसे देश की सुरक्षा को भी लाभ पहुंचा है क्योंकि संकट के समय तुरन्त ही सेना तथा गोला-बारूद को युद्ध स्थल पर पहुंचाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, १९४८ में पाकिस्तान द्वारा काश्मीर पर अचानक आक्रमण कर देने से, वायुयानों ने ही भारतीय सेना को तुरन्त काश्मीर में पहुंचा कर काश्मीर की उस भारी संकट में रक्षा की थी। इसी प्रकार देश में आन्तरिक व्यवस्था तथा शान्ति बनाने में भी वायु यातायात बड़ी सहायक सिद्ध होती है।

वायु यातायात के ये सब गुण हैं। इसके कुछ अवगुण भी हैं। एक तो यह कि यह यातायात का सब से महंगा साधन है। अतः केवल धनी व्यक्ति ही इसका प्रयोग कर सकते हैं, और वे भी इसका बहुधा तब प्रयोग करते हैं जब इसके किराये की तुलना में समय का मूल्य अधिक हो अर्थात जब किसी स्थान पर शीघ्र निश्चित पहुंचना आवश्यक हो। दूसरे यह यातायात पूर्णरूप से विश्वसनीय नहीं है। तेज वर्षा या आंधी या धुन्ध, आदि खराब मौसम में वायुयान नहीं उड़ सकता। यह केवल अच्छे मौसम का ही साथी है। तीसरे, वायु यातायात की सुविधायें केवल कुछ बड़े बड़े नगरों के बीच ही उपलब्ध हैं। इसके द्वारा हर स्थान पर नहीं जाया जा सकता। चौथे, यह यातायात अत्यधिक जोखिम पूर्ण है। आये दिन होने वाली वायु घटनायें इस बात की प्रमाण हैं। पांचवे, इसने आधुनिक युद्धों को अधिक घातक और व्यापक बना दिया है।

तथापि, इतना कुछ होते हुए भी हम वायु यातायात के गुणों को नहीं भुला सकते, और मनुष्य इस अत्यन्त द्रुतगामी यातायात-साधन को नहीं छोड़ सकता। अतः भारत में भी इसका विकास आवश्यक है यहां इसके लिये क्षेत्र भी बहुत अधिक हैं क्योंकि भारत एक बहुत बड़ा देश है और इसके विभिन्न भाग एक दूसरे से सैंकड़ों मील दूर हैं। दूसरे, यहां बहुधा मौसम अच्छा रहता है, और यहां का अधिकांश क्षेत्र मैदानी है, जहां आसानी के साथ हवाई अड्डे बनाये जा सकते हैं। बाहर के देशों से भी वायु यातायात द्वारा सम्पर्क स्थापित करने के दृष्टिकोण से भारत की स्थिति बहुत अच्छी है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम के बीच अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय वायु-मार्ग भारत पर से होकर जाते हैं।

भारत में वायु यातायात

संक्षिप्त इतिहास—भारत में वायु यातायात ने वास्तविक प्रगति दूसरे विश्व युद्ध काल में व उसके पश्चात की है। तथापि, दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व भी

इस दिशा मे कुछ काम किया जा चुका था। सबसे पहले १६११ मे बम्बई व कराची के बीच मे प्रयोगात्मक रूप मे वायु सेवा आरम्भ की गई। परन्तु बाद मे यह सेवा बन्द कर देनी पडी। प्रथम युद्धकाल मे सरकारी प्रोत्साहन के कारण इसने थोडी सी प्रगति की। १६२७ मे भारत सरकार ने एक 'नागरिक उडान विभाग' (Civil Aviation Department) स्थापित किया, और १६२८ मे दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और कराची मे 'फ्लाइंग-क्लब' (Flying Club) खोले गये। १६२६ मे 'इम्पीरियल एयरवेज सर्विस' को दिल्ली तक बढाने का प्रयत्न किया गया और विमान चालको तथा टेकनीशियनो के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। १६३२ मे पहली भारतीय वायु कम्पनी टाटा ने 'टाटा एयर-लाइन्स' (Tata Airlines) के नाम से खोली। १६३३ में इण्डियन नेशनल एयरवेज' (Indian National Airways) के नाम से एक और कम्पनी स्थापित की गई। १६३७ मे एक तीसरी कम्पनी, 'एयर सर्विसिज आफ इण्डिया' ('Air Services of India') के नाम से खोली गई। परन्तु इसे विशेष सफलता नहीं मिली, और अन्तत १६४२ मे इसे सिंधिया कम्पनी ने खरीद लिया। इस प्रकार दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व भारत मे वायु यातायात अपने शिशुकाल मे ही थी। इसने यहाँ विशेष प्रगति नही की थी, क्योंकि एक तो देश मे अच्छे हवाई अड्डो का अभाव था, दूसरे वायु यातायात ने सुरक्षा तथा प्राविधिक क्षेत्र मे अधिक प्रगति नहीं की थी, और तीसरे, वायु यातायात इसके जोखिम और महंगेपन के कारण अभी देश मे लोकप्रिय नहीं हो पाया था।

दूसरे विश्व युद्धकाल में वायु यातायात को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। भारतीय वायु सेना के विस्तार के उद्देश्य से सरकार ने देश मे कई एक हवाई अड्डे बनाये, और अन्य आवश्यक सुविधाओं का विकास किया। सरकार ने निजी वायु कम्पनियो की सेवाओ का भी प्रयोग किया। इस से इन कम्पनियों ने खूब लाभ कमाये और नवीनतम प्रकार के वायुयानो को चलाने का अनुभव प्राप्त किया।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात नागरिक उड़ान को और प्रोत्साहन मिला। वायु कम्पनियो को रक्षा-विभाग से उचित दामों पर बिक्री (Disposal) के रूप मे छोटा जहाज, फुटकर पुर्जे, हवाई अड्डे व अन्य सुविधायें प्राप्त हुईं। उधर सरकार ने भी उदार नागरिक उडान नीति अपनाई। इन परिस्थितियों से प्रोत्साहित हो कर और लाभ कमाने के लालच मे युद्धोत्तर काल मे देश मे कई एक वायु कम्पनिया स्थापित की गई। १६४६ मे इनकी संख्या ११ हो गई थी।

१५ अगस्त, १६४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ और देश का विभाजन हुआ। इस समय होने वाले हिन्दू-मुस्लिम दंगों मे शरणार्थियों को बचाने और उन्हें एक ओर से बचाकर दूसरी ओर लाने ले जाने मे वायु कम्पनियो ने सराहनीय कार्य

किया, और खूब लाभ भी कमाये। १६४८ से भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया। उस वर्ष भारत सरकार और टाटा कम्पनी ने मिल कर सयुक्त रूप से 'एयर इण्डिया इन्टरनेशनल' (Air India International) नामक कम्पनी की स्थापना की, जिसने बम्बई से लन्दन के बीच वायु-सेवा आरम्भ की। पूर्व मे 'भारत एयरवेज' (Bharat Airways) कम्पनी ने बिना सरकारी सहायता के, हाङ्गकाङ्ग व बङ्कोक तक वायु सेवा आरम्भ की।

परन्तु वायु यातायात की अभी तक की प्रगति एक दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं थी। वह यह कि यातायात की मात्रा की तुलना मे वायु कम्पनियों की सख्या अधिक हो गई थी। फलतः उन्हे पर्याप्त काम नहीं मिल पा रहा था, और कुछ एक कम्पनियो की वित्तीय दशा अच्छी नहीं थी। दशा को सुधारने के लिए सरकार ने १६४६ मे वायु कम्पनियों को डाक ले जाने का काम सौंपा और रात्रि वायु डाक सेवा आरम्भ की। उसने नागरिक उडान मे उपभोग किये जाने वाले पेट्रोल पर लगे आयात-शुल्क मे कटौती भी देनी आरम्भ की। परन्तु दशा अधिक नही सुधरी। अत १६५० मे केन्द्रीय सरकार ने वायु कम्पनियो की वित्तीय दशा की खोज करने, और वायु यातायात को दृढ आधारों पर खड़ा करने के लिये सिफारिश करने के लिये, *न्यायमूर्ति राज्याध्यक्ष की अध्यक्षता मे* एक 'वायु यातायात जाच समिति' (Air Transport Enquiry Committee) की नियुक्ति की।

समिति ने पाया कि अधिकाश वायु कम्पनियो की वित्तीय दशा खराब थी, और कि इसका मुख्य कारण यह था कि उपलब्ध वायु यातायात की मात्रा की तुलना मे वायु कम्पनियो की सख्या अधिक थी। देश मे वायु यातायात को दृढ आधारो पर खड़ा करने के लिये उसने निम्नलिखित सिफारिशें की—

(१) जिन कम्पनियो के अनुमति पत्र अस्थाई है, उन्हे नया (Renew) न किया जाय। अन्य कम्पनियो को क्षेत्रीय आधार पर पुनस्सगठित कर केवल चार कम्पनियां बना दी जाये, जिनके मुख्य वायु-आधार (Air Bases) बम्बई, दिल्ली कलकत्ता और हैदराबाद मे हो।

(२) कम्पनियो के वायु मार्गों का इस प्रकार पुनर्विभाजन किया जाय जिससे एक ही मार्ग पर कई कम्पनियां कार्य न करे।

(यात्रियो के भाडे इस प्रकार निश्चित होने चाहिये कि कम्पनियो को अपनी अचल पूंजी पर कम से कम १०% का लाभ मिल सके।

(४) वायु यातायात में पूरी तरह से वैज्ञानीकरण (Rationalisation) होना चाहिये और यदि कुछ कर्मचारियो तथा मिस्त्रियो (Technicians) को पलग भी करना पडे, तो भी वैज्ञानीकरण के इस काम मे देर नहीं होनी चाहिये।

(५) सरकार को आर्थिक सहायता के रूप मे कम्पनियो के पेट्रोल के व्यय पर

छूट जारी रखने की बजाय, उनकी प्रामाणिक लागत (Standard Costs) व वास्तविक आय के अन्तर के बराबर आर्थिक सहायता देनी चाहिये।

(६) विदेशी कम्पनियों को केवल एक ही एजेन्सी के नियन्त्रण व निर्देशन में कर देना चाहिए।

(७) वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के लिये अभी समय उपयुक्त नहीं है। इसलिये इस प्रश्न को पांच वर्षों के लिये स्थगित कर देना चाहिए।

यद्यपि सरकार ने समिति के उक्त सुझावों में से अधिकांश को स्वीकार कर लिया था, तथापि, कुछ कारणों से, उन्हें कार्यान्वित न किया जा सका;

वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण (*Nationalisation of Air Transport*)

ऊपर हम पढ़ आये हैं कि राजाध्यक्ष समिति, १९५० ने वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के बारे में यह मत प्रकट किया था कि वह समय राष्ट्रीयकरण के लिये उपयुक्त नहीं था, और कि इस प्रश्न को पांच वर्षों के लिये स्थगित कर देना चाहिए। परन्तु कुछ कारणों से, सरकार ने तीन वर्ष के भीतर ही अर्थात् १९५३ में ही वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक समझा। इस पद के पक्ष और विपक्ष में निम्नलिखित बातें कही जाती है—

पक्ष—(१) राजाध्यक्ष समिति ने तुरन्त ही वायु यातायात के पूर्ण वैज्ञानी-करण की सिफारिश की थी। परन्तु निजी कम्पनियां, वित्तीय तथा अन्य कारणों से इस दशा में नहीं थी कि वे अपने कार्य का तुरन्त ही पूर्ण वैज्ञानीकरण कर सकें। इसके लिये वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

(२) राष्ट्रीयकरण से वायु यातायात को चलाने के विभिन्न प्रकार के खर्चे कम हो जायेंगे। उदाहरणार्थ, एक ही प्रबन्ध होने के कारण बड़े-बड़े अधिकारियों के वेतन का खर्चा तथा कार्यालयों का खर्चा कम हो जायेगा। साथ ही, निजी कम्पनियों की प्रतिस्पर्धा से होने वाली हानियां समाप्त हो जायेंगी। उधर, एक ही सरकारी कम्पनी के अधिक प्रत्येक वायुयान का अधिकतम सभव प्रयोग हो सकेगा, और कार्यक्षमता में वृद्धि होगी।

(३) सरकार वायु यातायात का सचालन तथा विकास, निजी लाभ कमाने के उद्देश्य के स्थान पर, जनहित के ध्येय से करेगी। अत. वह अपेक्षाकृत सस्ती व कुशल वायु सेवा प्रदान कर सकेगी, अलाभकारी परन्तु आवश्यक मार्गों पर भी वायु-सेवा चलायेगी, और बाढ, भूचाल, अकाल, आदि सकटों के समय वायु यातायात का अधिक उपयुक्त प्रयोग कर सकेगी।

(४) सरकार पहले से ही देश में वायु यातायात के विकास के लिये हवाई अड्डों के निर्माण, अन्तरिक्ष-विभागों (Meterological Stations) की स्थापना, विमान-चालकों के प्रशिक्षण, आदि पर तथा निजी वायु कम्पनियों को आर्थिक सहायता के रूप में, बहुत सा धन व्यय कर रही है। परन्तु तब भी इसका समोचित विकास नहीं हो रहा है। अत. ऐसी दशा में राष्ट्रीयकरण ही दूसरा विकल्प रह जाता है।

विपक्ष—निजी कम्पनियो के समर्थको ने ऊपर के तर्कों को निराधार माना, और राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। उन्होने कहा कि, जैसा कि अन्य सरकारी उपक्रमो का अनुभव हमे बतलाता है सरकारी सचालन मे व्यय कम होने के स्थान पर बढता है, और कायक्षमता बढने के स्थान पर कम होती है। ऐसा ही वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण से भी होगा। फिर, सरकार यात्रियो की सुविधा, आदि के लिये इतना ध्यान नही रखेगी, जितना की निजी कम्पनिया रखती हैं। जहा तक निजी कम्पनियो की प्रतिस्पर्धा की बात है, वह स्वय सरकार द्वारा बिना सोचे-समझे नई वायु कम्पनियो को लाइसेंस देने का परिणाम है। इस कारण के अतिरिक्त, निजी कम्पनियो द्वारा हानि उठाने का एक और कारण सरकार द्वारा लगाये गये ऊचे करो का भार है। साथ ही, सरकार को यह भी नही भूलना चाहिये कि जिन भी देशो मे नागरिक वायु यातायात का विकास हुआ है, उनमे आरम्भ मे, वहा कि सरकारो ने निजी कम्पनियो को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी है। अत: भारत मे भी ऐसा ही होना चाहिए, और निजी वायु-कम्पनियो को अपने पावो पर खडे होने का पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए।

परन्तु देश की केन्द्रीय सरकार ने इन तर्कों को विशेष महत्व प्रदान नही किया, और निजी वायु कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण करने के लिए १६५३ मे 'वायु यातायात निगम अधिनियम,' (Air Corporations Act) पास किया। यह अधिनियम १ अगस्त, १६५३ को देश मे लागू किया गया। उस तिथि को केन्द्रीय सरकार ने निजी वायु कम्पनियो की समस्त सम्पत्ति तथा दायित्वो को स्वय सभाल लिया, और कम्पनियो को इसके बदले मे मुआवजा दे दिया गया। मुआवजे की कुल रकम ४.८ करोड रु० निश्चित की गई थी। इसमे से १० प्रतिशत (अर्थात् ४८ लाख) रु० नकद दिया गया, और शेष रकम को ३½ प्रतिशत ब्याज वाले पाच वर्षीय बन्धो (Bonds) मे चुकाया गया।

अधिनियम के अधीन १५ जून, १६५३ को ही वायु यातायात का सचालन करने के लिए दो निगमो: 'इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन, (Indian Air Lines Corporations), तथा 'एयर इण्डिया इन्टर नेशनल कार्पोरेशन' (Air India International Corporation) की स्थापना की गई। पहला निगम देश मे सभी मुख्य केन्द्रो के बीच तथा भारत एवं पडोसी देशो के बीच वायु-सेवा का संचालन करता है। इसके वायु-मार्गों की कुल लम्बाई लगभग २२,७०० मील है। इसके पास कुल ६७ विमानो का एक बेडा है, जिसमे से ६३ डकोटा विमान हैं। एयर इण्डिया इण्टरनेशनल लम्बे फासलो की अन्तर्राष्ट्रीय वायु-सेवाओ का सचालन करता है। इसके वायु-मार्गों की कुल लम्बाई २३,४८३ मील है। इसके पास कुल १२ विमान (8 Super Constellations, 3 Constellations and 1 Dakota) हैं,जो १७ देशो के बीच वायु-सेवायें प्रदान करते हैं।

इण्डियन एयर लाइन्स ने १६५७ मे लगभग ६ लाख यात्रियों, ८·५ करोड़

पौंड सामान तथा १·३ करोड पौंड डाक का वहन किया। इसकी रात्रि वायु डाक सेवा ने लगभग ६२,००० यात्रियो, २६ लाख पौंड समान, और ४३ लाख पौंड का वहन किया। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल मे निगम मे ७·६ करोड रु० का विनियोग किया गया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना मे इसके लिये १६ करोड रु० की व्यवस्था की गई है, जिसमे से ५.३४ करोड रु० नये विमानो को खरीदने के लिए और ७ करोड रु० नकद हानि को पूरा करने के लिए रखे गये हैं। यह इसलिए क्योंकि निगम अभी अपनी क्रियाओ से लाभ कमाने की दशा मे नही पहुंचा है। इसने आरम्भ से लेकर मार्च, १९५७ के अन्त तक लगभग ४ करोड रु० का नकद घाटा उठाया है। इस आधार पर निजी क्षेत्र मे इसकी काफी आलोचना भी की गई है, और इस तथ्य का राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे भी बहुधा प्रयोग किया जाता है।

इसके विपरीत, एयर इण्डिया इन्टरनेशनल आरम्भ से ही, घाटे के स्थान पर लाभ कमाता रहा है। १९५६-५७ मे इस निगम ने कुल ८८ लाख रु० के लाभ कमाये। करो को निकालकर शुद्ध लाभ की मात्रा ३८ लाख रु० थी। इसकी सेवाओं मे भी निरन्तर वृद्धि होती रही है। १९५६-५७ मे इसने लगभग ८० हजार यात्रियो, १४ लाख पौंड डाक और ३३ लाख पौंड सामान का वहन किया। प्रथम योजनाकाल मे इसमे ७·५ करोड रु० का विनियोग किया गया था। दूसरी योजना मे इसके लिए १४.५ करोड रु० की व्यवस्था की गई है।

पंच वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत वायु यातायात

प्रथम योजना—नागरिक उड़ान विभाग के विकास कार्यक्रमो के लिये प्रथम योजना मे १३.४ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। वास्तव मे इस पर ७.८ करोड़ रु० ही व्यय हो पाये। विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत मुख्यत नये हवाई अड्डो का निर्माण तथा पुराने अड्डो मे विभिन्न सुविधाओ के प्रसार की योजनाये शामिल की गई थी। तदनुसार, योजनाकाल मे ६ नये हवाई अड्डे बनाये गये, दो नये हवाई अड्डो का निर्माण-कार्य लगभग समाप्ति पर था और कई एक पुराने अड्डो पर कुछ आवश्यक निर्माण कार्यों को पूरा किया गया। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, प्रथम योजनाकाल (१९५३) मे ही निजी वायु कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण किया गया, और सार्वजनिक क्षेत्र मे दो उड्डयन निगमो (i) Indian Air Lines Corporation और (ii) Air India International Corporation की स्थापना की गई। प्रथम योजना मे इन निगमो के विकास कार्यक्रमो के लिये ९.५ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। वास्तव मे इन कार्यक्रमो पर १५.४ करोड रु० खर्च हुए, जिनमे से ६ करोड रु० विमानो के क्रय पर खर्च हुए। योजना काल मे इन निगमो ने अपने सगठनो को अधिक मजबूत भी बनाया और इनका विकास भी किया, जिससे इनके पास विमानो की सख्या, इनके वायु-मार्गों की लम्बाई, और इनके प्रदान की गई वायु-सेवाओ के परिमाण मे पर्याप्त वृद्धि हुई।

दूसरी योजना—दूसरी योजना मे नागरिक उड्डयन सम्बन्धी कार्यक्रमो के

लिये १०५ करोड रु० की, और उड्डयन निगमों के कार्यक्रमों के लिये ३० ५० करोड रु० की व्यवस्था की गई है। नागरिक उड्डयन कार्यक्रम के अन्तर्गत ८ नये हवाई अड्डों और ग्लाइडर अड्डों के निर्माण कार्यक्रम के अतिरिक्त, टेली-सचारों की स्थापना, उड्डयन मार्ग तथा टेक्सी मार्ग का निर्माण और वायु मार्गों तथा हवाई अड्डों के लिये साधन सामग्री उपलब्ध करना, आदि कार्यक्रम शामिल हैं। इसी प्रकार उड्डयन निगमों के लिये भी समुचित कार्यक्रम स्थिर किये गये हैं, जिनमें नयें विमानों का क्रय और विमानों से सम्बन्ध रखने वाली कार्य-प्रणाली में सुधार करना सम्मिलित है।

University Questions

1 How far do our means of transportation serve the needs of rural areas ? Make suggestions for their development
(Agra 1958, Rajasthan 1952)

2. Discuss the effects of improvements in the means of transport on rural industry and agriculture *(Allahabad 1956)*

3 Discuss the merits of regrouping of Indian railways. What measures would you recommend to reduce overcrowding in trains ? *(Agra, 1958)*

4 Discuss the merits of the recent regrouping of Indian railways What measures would you recommend to further improve the efficiency of railways in India ? *(Rajputana, 1954)*

5. Write a short note on Indian railways since 1945.
(Rajputana, 1951)

6 Describe the importance & the present position of the railways in India with special reference to the need for rehabilitation and adequate equipment as stressed by the first five Year Plan.
(Patna, 1955)

7 Examine the necessity & importance of rail road co ordination in India.

Discuss the working of state transport in the U. P. from the above point of view *(Agra, 1955)*

8 Comment on roads versus railways in India What counter measures have been adopted to meet rail-road competition ?
(Punjab 1955)

9. Give the pros & cons of the nationalisation of road transport How far has it proceeded in the U. P. ? *(Allahabad 1954)*

10 Discuss the merits of Government roadways as against private motor companies for carrying of passengers & goods. Give reasons for your preference *(Agra, 1952)*

11. How far can the state help in the development of road transport in India ? *(Agra, 1957)*

12. Write a short note on transport co-ordination. *(Agra, 1956)*

13. Write short notes on the following—

(a) Indian road transport ;

(b) Shortage of seaports in India *(Agra, 1957)*

14 Discuss the importance of water transport in India. How can this type of transport be further developed & made more beneficial for the country ? *(Agra, 1957)*

15 Explain the difficulties of Indian coastal shipping and show how they can be met *(Agra, 1957)*

16. Discuss the advantages & limitations of air transport. Describe the present position of air transport in India

(Allahabad, 1956)

17. Write a short note on air transport. *(Agra, 1956)*

—:o:—

अध्याय २८

भारत की राष्ट्रीय आय

(National Income of India)

राष्ट्रीय आय का अर्थ

किसी राष्ट्र की एक अवधि-विशेष (बहुधा एक वर्ष) में आर्थिक क्रियाओं के शुद्ध अन्तिम फल को राष्ट्रीय आय कहते हैं। इस शुद्ध अन्तिम फल अथवा राष्ट्रीय आय की विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषा दी है। एक दृष्टिकोण के अनुसार यह राष्ट्र के लोगों के द्वारा एक वर्ष में उत्पन्न की गई वस्तुओं और सेवाओं का शुद्ध योग है, दूसरे मत के अनुसार, यह देश के व्यक्तिगत सदस्यों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में किये गये अपने योग के बदले में प्राप्त वस्तुओं और सेवाओं का शुद्ध योग है। तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार, यह व्यक्तियों द्वारा प्राप्त आय का वह भाग है, जो एक वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उपभोग किया जाता है। अधिकांश अर्थशास्त्री पहले दृष्टिकोण को अपनाते हैं, क्योंकि इसके अनुसार राष्ट्रीय आय को मापना अपेक्षाकृत सरल रहता है।

राष्ट्रीय आय की गणना

राष्ट्रीय आय को द्रव्य के मापदण्ड द्वारा मापा जाता है अर्थात् द्रव्य में आँका जाता है। इसके मापने की निम्नलिखित मुख्य विधियां है—

(१) उत्पत्ति की गणना की रीति (Census of Production method or Inventory Method)—इस रीति के अन्तर्गत समस्त अर्थ-व्यवस्था में जितनी वस्तुयें और सेवायें उत्पन्न की जाती हैं उसका शुद्ध मूल्य जोड़ा जाता है। इस के लिए एक वर्ष में कृषि, उद्योगों खानों, व्यापार तथा अन्य सभी व्यवसायों में वस्तुओं तथा सेवाओं की जितनी उत्पत्ति होती है उसके कुल मूल्य की गणना कर ली जाती है। इस कुल मूल्य में से कच्चे माल व अन्य चल पून्जी की लागत का मूल्य, अचल पूंजी के मूल्य-ह्रास और घिसावट का मूल्य, और खानों के खोदने में दी जाने वाली रकम को घटा कर जो शेष मूल्य बचता है, वह ही देश की राष्ट्रीय आय होती है। *जिन देशों में उत्पादन और व्यापार के विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध* होते हैं, वहां इस रीति का प्रयोग करना आसान रहता है। परन्तु इस रीति के प्रयोग करने में एक ओर तो दोहरी गणना और दूसरी ओर कुछ उत्पादन का मूल्य शामिल होने से छूट जाने का भय रहता है।

(२) आय की गणना की रीति (Census of Income Method)—इस रीति के अनुसार राष्ट्र के सभी सदस्यों व फर्मों की शुद्ध आय का योग

निकाल कर राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है। इस नीति के अन्तर्गत आय-कर देने वालों की आयों की गणना की आय-कर-विभाग से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर कर ली जाती है। शेष लोगों की आय के बारे में अन्य स्रोतों से आँकड़े प्राप्त किये जाते हैं अथवा अनुमान लगाये जाते हैं। इस प्रकार आय कर देने वाले और आय-कर न देने वाले सभी प्रकार के व्यक्तियों की शुद्ध वार्षिक आय की गणना कर के उनका योग निकाल लिया जाता है। यह योग ही राष्ट्रीय आय होती है। परन्तु इस तरह से लोगों की आय का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, क्योंकि एक तो सभी लोग आय-कर नहीं देते, और जो देते भी हैं, वे सदा अपनी वास्तविक आय को प्रकट नहीं करते। इस बहुत बार लोगों की आय की गणना उनके व्यवसाय के अनुसार की जाती है। यहां पहले देश की कार्यशील जनसंख्या (Work Population) को जाना जाता है। फिर, इसका पेशेवार वितरण (Occupational Distribution) किया जाता है। फिर प्रत्येक पेशे में काम करने वाले लोगों की आय को आंका जाता है। बाद में विभिन्न पेशों के लोगों की आय को जोड़कर, उसका योग निकाला जाता है। यह योग ही राष्ट्रीय आय होती है।

(३) दोनों रीतियों का सम्मिश्रण—जब उत्पादन के सभी क्षेत्रों में अथवा आय के पूर्ण आँकड़े नहीं मिलते, तो ऊपर बतलाई गई दोनों रीतियों का एक साथ प्रयोग किया जाता है। जहां उत्पादन के विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध होते हैं, वहां उत्पादन की गणना रीति का प्रयोग किया जाता है, और जहां आय के विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध होते हैं, वहां आय की गणना रीति का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, डा० वी० के० आर० वी० राव ने ब्रिटिश भारत की १९३१-३२ की राष्ट्रीय आय मालूम करने के लिये, और राष्ट्रीय आय समिति, १९४९ ने भारत संघ की राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिये ऐसा ही किया है। राष्ट्रीय आय समिति ने कृषि, वन, पशु पालन, आखेट (Hunting), मछली पकड़ना, खानों और उद्योगों द्वारा उत्पादित शुद्ध आय को जानने के लिए 'उत्पादन की गणना की रीति' का अनुसरण किया है, और व्यापार, यातायात, सार्वजनिक प्रशासन, व्यावसायी तथा शिष्ट कलाओं और घरेलू सेवाओं की शुद्ध आय जानने के लिए 'आय की गणना रीति' का प्रयोग किया है।

राष्ट्रीय आय की गणना का महत्व

राष्ट्रीय आय की गणना कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है—

(१) राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। अन्य बातें समान रहने पर, हम कह सकते हैं कि किसी देश की राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होगी, उस देश में आर्थिक कल्याण का स्तर भी उतना ही ऊंचा होगा। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय के आंकड़े लोगों के रहन-सहन के स्तर के बारे में महत्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं।

(२) एक ही देश के एक लम्बी अवधि में राष्ट्रीय आय के वार्षिक अनुमान अथवा विभिन्न वर्षों का अनुमान) यह बताते हैं कि कालान्तर में उस देश ने

आर्थिक प्रगति की है या नहीं, और यह प्रगति अथवा अधोगति कितनी तेजी से हुई है। दूसरे शब्दों मे एक देश के विभिन्न वर्षों के राष्ट्रीय आय के आकड़ों से पता चलता है कि समय बीतने के साथ साथ लोगों का आर्थिक कल्याण बढा है अथवा नहीं, वे अधिक अमीर हुए है अथवा गरीब हुए हैं अथवा वैसे ही रहे है।

(३) अन्य बातें समान रहने पर हम दो या अधिक देशो के राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय के आकड़ो की तुलना करके उन देशों मे लोगो के आर्थिक कल्याण अथवा रहन सहन के स्तर की तुलना कर सकते है। साथ ही, इन आकड़ो की तुलना से हम उन देशो की उत्पादिकता की भी तुलना कर सकते हैं।

(४) राष्ट्रीय आय के अनुमान उन अनुपातों को जानने के लिए भी प्रयोग मे लाये जाते है जिनमे कि राष्ट्रीय आय विभिन्न सामाजिक वर्गों मे, तथा उपभोग और पूञ्जी-निर्माण मे बांटी जाती है अथवा बांटी जाए।

(५) राष्ट्रीय आय को यदि उत्पत्ति की गणना रीति से आंका जाय तो इसके आंकड़े हमे यह भी बताते हैं कि यह आय कौन-कौन से स्रोतो मे कितनी कितनी मात्रा मे प्राप्त होती है। इससे विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों का अर्थ-व्यवस्था मे सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। राष्ट्रीय आय समिति के शब्दों में "राष्ट्रीय आय के आकड़े समस्त अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण रूप मे चित्रित करने मे तथा इसके विभिन्न भागो को, इनके सापेक्षिक स्थानो व अन्तर-सम्बन्धो को विचारने मे सहायता देते हैं।"

(६) ऊपर लिखी बातो के कारण, देश के आर्थिक नियोजन के लिए राष्ट्रीय आय के आकड़ों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत मे राष्ट्रीय आय की गणना की कठिनाइयां

किसी भी देश मे राष्ट्रीय आय की गणना के लिये दो बाते आवश्यक हैं: एक तो जिन धारणाओं (Concepts) का प्रयोग किया जाये, उनकी स्पष्ट परिभाषा तथा दूसरे, उनसे सम्बन्धित विश्वसनीय आकड़ो की उपलब्धि। पश्चिम के उन्नत देशो मे भी अभी तक ये दोनो बातें उपलब्ध नही हैं, तब भारत जैसे पिछड़े देश मे इनका मिलना और भी कठिन है। अत भारत मे राष्ट्रीय आय की गणना के मार्ग मे दो प्रकार की कठिनाइया है - एक तो धारणा सम्बन्धी, और दूसरी समको सम्बन्धी।

(क) धारणा सम्बन्धी कठिनाइयां (Conceptual Difficulties)—राष्ट्रीय आय समिति, १९४९ ने इस प्रकार की निम्नलिखित कठिनाइयो का वर्णन किया है.—

(१) भारत मे उपज का एक बड़ा भाग बाजार मे द्रव्य के बदले मे बिकने के लिये नही आता—यह या तो उत्पादको द्वारा स्वय उपभोग कर लिया जाता है या अन्य वस्तुओं अथवा सेवाओं के बदले मे बेच दिया जाता है। इससे उपज के इस भाग के द्रव्य-मूल्य का पता नही चलता, और इसके बारे में मोटे रूप से अनुमान

ही लगाने पड़ते हैं, जिसमे गल्ती का बड़ा भय रहता है। यह कठिनाई मुख्य रूप से कृषि व ग्राम-उद्योगों के क्षेत्र मे हमारे सामने आती है।

(२) दूसरे, भारत मे बड़ी संख्या मे उत्पादक अपनी उपज की मात्रा और कुल मूल्य के बारे मे कोई ज्ञान नही रखते। यह इसलिये क्योंकि भारत की अधिकांश जनसंख्या निरक्षर है, उनकी आर्थिक क्रिया जीवन-निर्वाह मात्र के लिये होती है, और वे अपने उत्पादन अथवा उपभोग का कोई लेखा नही रखते। ऐसी दशा में ऐसे लोगो से पूछ-ताछ करके आवश्यक आकड़े प्राप्त नही किये जा सकते, और केवल मोटे रूप मे अनुमान ही लगाने पड़ते है। भारत जैसे देश मे, व्यक्तिगत पूछ-ताछ के लिये प्रशिक्षित कर्मचारियो व धन का अभाव भी, इस क्षेत्र की अन्य कठिनाईया हैं।

(३) तीसरे, भारत मे औद्योगिक स्रोत के हिसाब से राष्ट्रीय आय का वर्गीकरण आसान नही, क्योकि यहा लोगो का ठीक-ठीक पेशेवार वर्गीकरण नही किया जा सकता। यह इसीलिये, क्योंकि यहां बड़ी संख्या मे लोग एक से अधिक प्रकार के कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, किसान लोग, पूरा वर्ष खेतो मे काम न होने के कारण, खाली समय मे या तो नगरो मे किसी भी प्रकार का काम करने चले जाते हैं, या गावो मे ही खेती से भिन्न कोई काम करते है।

(ख) समकों सम्बन्धी कठिनाइयां (Statistical Difficulties):—इन ऊपर बतलाई गई धारणा सम्बन्धी कठिनाइयो के अतिरिक्त, भारत मे राष्ट्रीय आय मापने के मार्ग मे इससे भी बड़ी कठिनाई विभिन्न क्षेत्रो मे समंको का उपलब्ध न होना है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य है.—

(१) भारत में जो समंक उपलब्ध भी हैं, वे बहुधा अधूरे और अविश्वसनीय हैं ;

(२) इन समंको की पूर्ति मे बहुत से रिक्त स्थान (Gaps) हैं तथा बहुत सी महत्वपूर्ण आर्थिक क्रियाओ व पहलुओ के बारे मे कोई समंक ही उपलब्ध नही है।

(३) भारत के विभिन्न भागो में इतनी अधिक विभिन्नता है कि एक क्षेत्र के उपलब्ध समको को दूसरे क्षेत्र पर लागू करके, समंको की अपर्याप्तता को दूर नही किया जा सकता, और

(४) अधिकाश समकं अविभाजित भारत से सम्बद्ध हैं, वर्तमान भारत संघ से नही।

भारत में राष्ट्रीय आय के अनुमान

ऊपर बतलाई गई कठिनाइयों के कारण भारत मे राष्ट्रीय आय के बहुत अधिक विश्वसनीय अनुमान उपलब्ध नही हैं। फिर भी, यहां ऐसे अनुमान लगाने के प्रयत्न किये गये हैं, और किये जा रहे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व केवल निजी

व्यक्तियों ने ही ऐसा करना आवश्यक समझा था। इस दिशा में प्रयत्न करने वाले सब से पहले व्यक्ति स्वर्गीय दादा भाई नारोजी थे। उनके पश्चात स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक समय-समय पर १८- अनुमान और लगाये गये। नीचे हम उन में से कुछ अनुमान देते है —

अनुमान लगाने वाले का नाम	वर्ष	राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति आय रु०—आने—पाई
१. दादा भाई नौरोजी	१८६७—७०	३४ करोड पौंड	२०—०—०
२. विलियम डिगबी	१८९८—९९	४२८ ,, रु०	१७—८—५
३. वाडिया और जोशी	१९१३—१४	१,०८७ ,, ,,	४४—५—०
४. शाह और खम्बाट	१९२१—२२	२,३६४ ,, ,,	३८—०—०
५ फिंडले शिराज	१९२२	८८३ ,, ,,	११६—०—०
६. डा० वी० के० आर० वी राव	१९३१—३२	१,६८९ ,, ,,	६५—०—०
७ सर जेम्स ग्रिग	१९३७—३८		५६—०—०
८. कामर्स पत्रिका	१९४२		२४—०—०
९ वाणिज्य मन्त्रालय	१९४५—४६	४,९३१ ,, ,,	२०४—०—०

ऊपर की तालिका में दिये गये भारत की राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय के अनुमान आपस में तुलनात्मक नही है। यह इसलिये क्योंकि एक तो जिन विभिन्न वर्षो से ये अनुमान सम्बन्धित है, उन सब में मूल्य स्तर समान न हो कर भिन्न-भिन्न था, दूसरे, विभिन्न अनुमानो में शामिल किया जाने वाला देश का क्षेत्रफल भी भिन्न-भिन्न रहा है। इसके अतिरिक्त, इन अनुमानो की विश्वसनीयता के बारे में कहना भी कठिन है।

राष्ट्रीय आय समिति —स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सरकार ने शीघ्र ही राष्ट्रीय आय के विश्वसनीय अनुमान लगाने के कार्य के महत्व को समझा। अत: ऐसा करने के लिये उसने १९४९ मे वित्त मन्त्रालय (Ministry of Finance) में राष्ट्रीय आय सगठन (National Income Unit) की स्थापना की। इसके शीघ्र बाद ही इस इकाई का पथ-प्रदर्शन करने के लिये और राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने के लिये एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट अप्रैल; १९५१ में प्रकाशित की, जिसमे १९४८-४९ के लिये राष्ट्रीय आय का अनुमान दिया गया था। समिति की अन्तिम रिपोर्ट फरवरी, १९५४ में प्रकाशित हुई थी। इस में १९४८-४९ की राष्ट्रीय आय का संशोधित अनुमान (Revised Estimate) और अगले दो वर्षों १९४९-५० व १९५०-५१ की राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये थे। इससे बाद के वर्षों की राष्ट्रीय आय के अनुमान भारत सरकार की केन्द्रीय साख्यिकीय संगठन

(Central Statistical Organisation) द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। नीचे की तालिका में १९४८-४९ और १९५५-५६ के बीच प्रचलित तथा स्थिर मूल्यों पर राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय दी गई है।

वर्ष	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु० में)		प्रति व्यक्ति आय (रु० में)	
	प्रचलित मूल्यों पर	१९४८-१९४९ के मूल्यों पर	प्रचलित मूल्यों पर	१९४८-४९ के मूल्यों पर
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६·९	२४६·९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३·९	२४८·६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६·३
१९५१-५२	९,९७०	९,१००	२७४·०	२५०·१
१९५२-५३	९,८२०	९,४६०	२६६·४	२५६·६
१९५३-५४	१०,४८०	१०,०३०	२८०·७	२६८·७
१९५४-५५	९,६१०	१०,२८०	२५४·२	२७१·९
१९५५-५६	९,९९०	१०,४८०	२६०·८	२७३·६

राष्ट्रीय आय के स्रोत

भारत की राष्ट्रीय आय में विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का क्या योगदान रहता है, इसका अनुमान नीचे की तालिका से लग जायेगा। इसमें १९५०-५१ की राष्ट्रीय आय के स्रोतों का ब्योरा उस वर्ष में प्रचलित मूल्यों के आधार पर दिया गया है।

स्रोत	शुद्ध उपज (करोड़ रु० में)	कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत अनुपात
कृषि		
१ कृषि, पशुपालन व अधीन क्रियायें	४७,८०	५०·२
२ वन	७०	०·७
३ मछली पकड़ना	४०	०·४
४ कृषि का योग	४८,९०	५१·३
खानें, निर्माण तथा छोटे उद्यम (Mining, Manufacturing & Small Enterprises)		
५ खानें	७०	०·७
६ कारखाने	५,५०	५·८
७ छोटे कार्य	९,१०	९·६

८	खानें, निर्माण तथा छोटे उद्योगों का योग	१५,३०	१६ १
	वाणिज्य, यातायात तथा संचार		
६	सचार (डाक, तार व टेलीफोन)	४०	० ४
१०	रेलें	१,८०	१ ६
११	सगठित बैंकिङ्ग व बीमा	७०	०'७
१२	अन्य वाणिज्य व यातायात	१४.००	१४ ७
१३	वाणिज्य, यातायात तथा संचार का योग	१६,६०	१७'७
	अन्य सेवायें		
१४	व्यवसाय तथा शिष्ट कलायें (Professions and Liberal Arts)	४,७०	४'६
१५	सरकारी सेवायें (प्रशासन)	४,३०	४'५
१६	घरेलू सेवायें	१,३०	१ ४
१७	घर सम्पत्ति (House Property)	४,१०	४ ३
१८	अन्य सेवाओं का योग	१४,४०	१५'१
१६	उत्पादन लागत (Factor Cost) पर शुद्ध घरेलू उत्पादन	६,५५०	१००'२
२०	विदेशो से अर्जित शुद्ध आय	—२०	—'२
२१	उत्पादन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन = राष्ट्रीय आय	६,५३०	१००'०

पंच वर्षीय योजनायें व राष्ट्रीय आय

देश का तेजी से सर्वांगीण आर्थिक विकास करने के लिये १६५०-५१ से पच वर्षीय योजनाओं को बनाया जा रहा है। राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि इस आर्थिक विकास के अच्छे निर्देशक माने जाते हैं। अत नीचे हम यह पढते है कि पच वर्षीय योजनाओं मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि किस प्रकार हुई है, और आगे होने का अनुमान है।

प्रथम पंच वर्षीय योजना की रिपोर्ट मे यह अनुमान लगाया गया था कि यदि सतत प्रयत्न किया जाय तो देश की १६५०-५१ की राष्ट्रीय आय १६७१-७२ तक अर्थात् लगभग २१ वर्षों मे दुगनी की जा सकती है तथा प्रति व्यक्ति आय को १६७७-७८ तक अर्थात् लगभग २७ वर्षों मे दुगुना किया जा सकता है।

(प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय की अपेक्षा अधिक समय मे दुगुनी इसलिये होगी, क्योंकि देश की जनसंख्या लगभग १·२५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढने का अनुमान लगाया गया था)।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना की रिपोर्ट मे अनुमान लगाया गया है कि देश की राष्ट्रीय आय १९६७–६८ तक और प्रति व्यक्ति आय १९७३–७४ तक दुगुनी हो जायेगी। ये अनुमान कहा तक सही उतरते हैं, यह देखना बाकी है। तथापि, बहुत से लोगों को इन आशाओं के ठीक समय पर पूरा होने मे संदेह है।

प्रथम पच वर्षीय योजना का उद्देश्य १९५०–५१ से १९५५–५६ तक की अवधि मे राष्ट्रीय आय मे ११% वृद्धि लाना रखा गया था। इस अवधि मे जनसख्या मे ६% की वृद्धि होने पर १९५५–५६ तक प्रति व्यक्ति आय मे ५% की वृद्धि होने की आशा थी। परन्तु अनुमान है कि वास्तव मे १९५५–५६ मे राष्ट्रीय आय १९५०–५१ की ९,११० करोड रु० की राष्ट्रीय आय से बढकर १०,८०० करोड रु० हो गई है अर्थात् इस मे १८% की वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति आय मे ११% की वृद्धि का अनुमान है।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना का उद्देश्य योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे २५% वृद्धि तथा प्रति व्यक्ति आय मे १८% वृद्धि रखा गया है।

अन्य देशों से तुलना

नीचे की तालिका मे कुछ देशों के संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय के तुलनात्मक आंकडे दिये गये हैं—

देश	वर्ष	कुल राष्ट्रीय आय (करोड रु० मे)	प्रति व्यक्ति आय (रु० मे)
स० रा० अमरीका	१९५५	१,५५,५२०	९,४१०
कनाडा	१९५५	१०,९६६	६,५१६
न्यूजीलैण्ड	१९५५	१,१२८	५,२६६
स्वीडन	१९५४	३,५४४	४९१२
स्विट्जरलैण्ड	१९५४	२,४१०	४,८६५
आस्ट्रेलिया	१९५४	४,०२०	४,६६४
इङ्गलैण्ड	१९५५	२२,१७८	४,३५१
भारत	१९५४–५५	१०,१७०	२६९

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि कुल राष्ट्रीय आय की दृष्टि से भारत का ससार के देशों मे स्थान बहुत ऊंचा है। यह इसलिये क्योंकि भारत एक बहुत बड़ा देश है। परन्तु देश की जनता की वास्तविक आर्थिक स्थिति का ज्ञान कुल राष्ट्रीय आय से नहीं वरन् प्रति व्यक्ति आय से होता है। जब हम ऊपर की तालिका मे प्रति व्यक्ति आय के आंकड़ो को देखते हैं, तो पता चलता है कि अन्य देशों की

तुलना मे भारत मे प्रति व्यक्ति आय कितनी अधिक कम है। कुल राष्ट्रीय आ. की मात्रा काफी बडी होने पर भी प्रति व्यक्ति आय इतनी कम इसलिए है, क्योकि यहा की कुल जनसख्या बहुत बडी है। अत प्रति व्यक्ति आय (व लोगो के रहन-सहन के स्तर) को बढाने के लिए आवश्यक है कि एक ओर जहां देश का तेजी से आर्थिक विकास कर कुल राष्ट्रीय आय को बढाया जाय, वहा, दूसरी ओर, देश की जनसख्या की वृद्धि पर रोक लगाई जाय।

University Questions

1 What do you understand by national income? What is the national income of India? (*Agra 1957*)

2 Write a short note on 'National Income of India'. (*Agra 1957*)

3 How do the estimates of national dividend in India compare with those of the U. S A, U S S R. Great Britain, Japan & China (*Punjab, 1956*)

4 Describe the methods of calculating national dividend in India. Discuss the merits & demerits of each method. (*Punjab 1955*)

— o —

A

भारत में आर्थिक नियोजन*

(Economic Planning in India)

प्राक्कथन

सन् १८९४ मे सर विलियम हारकोर्ट ने कहा था "अब हम सभी समाजवादी है।" परन्तु, जैसा कि प्रो० रोबिन्स ने कहा है, "अभी हम सब समाजवादी भले हो न हो, परन्तु निश्चय ही हम लगभग सभी नियोजन के समर्थक है।" राज्य की शुद्ध निर्बाध-नीति (Policy of Laissez-faire) के समर्थक पागलपन के सीमान्त को छोड कर और कही मिलने कठिन हो गये है। आर्थिक नियोजन का यह अभ्युदय बहुत नही, केवल २५-३० वर्ष पुराना है। देश की अर्थ-व्यवस्था को योजनाबद्ध आधार पर चलाने का सबसे पहला प्रयोग करने का श्रेय समाजवादी रूस को है। उस देश मे प्रथम पच वर्षीय योजना सन् १९२८ मे चलाई गई थी। इस योजना की सफलता इसी बात से जानी जा सकती है कि इसमे रखे गये लक्ष्य (Targets) पांच के स्थान पर पहले चार वर्षों मे ही पूरे हो गये। और यह भी उस समय मे जबकि रूस को छोड कर ससार के अन्य सभी देश १९२९-३३ की ससार-व्यापी महामन्दी (Great Depression) मे कराह रहे थे। एक ओर जहा इस काल मे रूस की योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था मे उत्पादन, व्यापार, रोजगार, आदि सभी कुछ बढ रहा था, वहा दूसरी ओर, अन्य देशो की योजनाहीन अर्थ-व्यवस्थाओ मे उत्पादन, व्यापार, रोजगार, और सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओ का परिमाण बहुत अधिक गिर रहा था। इस घटना ने ससार के देशो की आखें खोली, और वे आर्थिक नियोजन के महत्व को मानने लगे।"† आज लगभग सभी देश किसी न किसी उद्देश्य से आर्थिक नियोजन को अपनाये हुए है।

आर्थिक नियोजन का अर्थ है "एक निश्चित केन्द्रीय अधिकारी द्वारा समुदाय के साधनो और आवश्यकताओ के व्यापक सर्वेक्षण (Survey) के पश्चात्, और देश मे सभी व्यक्तिगत तथा पृथक् पृथक् सयन्त्रो (Plants), उपक्रमो, और उद्योगो को एक ही समग्र (Whole) की समन्वित इकाइया (Co-ordinated Units) मान कर, एक दी हुई समय-अवधि मे, निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बड़े आर्थिक

* इस अध्याय मे अधिकाश तथ्य तथा आँकडे योजना आयोग के निम्नलिखित प्रकाशनो मे लिये गये हैं—(1) First Five Year Plan ; (2) Second Five Year Plan , (3) Review of the First Five Year Plan.

† लेखक की अन्य रचना 'अर्थशास्त्र', खण्ड ३, पृष्ठ ६२ से उद्धृत।

निर्णयों का लेना।" इसके विपरीत, योजनाहीन अर्थ-व्यवस्था में सभी बड़े आर्थिक निर्णय, किसी केन्द्रीय प्राधिकारी द्वारा न लिये जा कर, हजारों-लाखों व्यक्तिगत साहसियों व फर्मों द्वारा एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से लिये जाते हैं। ये मूल्य-यन्त्र द्वारा प्रभावित होते हैं और अधिकतम निजी लाभ कमाने की दृष्टि से लिये जाते हैं। समस्त अर्थ-व्यवस्था के हित की वृद्धि इनका लक्ष्य नहीं होता।

आर्थिक नियोजन, समय और परिस्थितियों के अनुसार, किसी भी उद्देश्य से किया जा सकता है। तथापि, सामान्यतः सभी आर्थिक नियोजन के ये उद्देश्य होते हैं: जनता के रहन सहन के स्तर को ऊपर उठाने के लिए उत्पादन को बढ़ाना (और इसके लिए उत्पादन-साधनों का पूर्ण प्रयोग करना तथा उत्पादन की प्राविधिक कुशलता को बढ़ाना), देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना, और इसे बनाये रखना, आय, धन तथा अवसरों में वितरण की असमानता को कम करना और आर्थिक क्रियाओं में चक्रीय उतार-चढ़ाव को समाप्त कर आर्थिक जीवन में स्थिरता तथा सुरक्षा लाना। आजकल पिछड़े तथा अर्ध-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य देश का द्रुत आर्थिक विकास तथा औद्योगीकरण होता है। इन देशों में अन्य उद्देश्य इस उद्देश्य के विशिष्ट पहलू होते हैं। उन्नत देशों में पूर्ण रोजगार आर्थिक स्थायित्व आदि उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

स्पष्ट ही, आर्थिक नियोजन के ऊपर बतलाये गये सभी उद्देश्य बहुत वाञ्छनीय तथा सराहनीय हैं। ये सभी उद्देश्य आर्थिक नियोजन के गुणों को भी स्पष्ट कर देते हैं।

आर्थिक नियोजन के बहुत से गुण हैं। इसे अपना कर देश का अधिक तेजी से आर्थिक विकास व औद्योगीकरण कर देश में धन के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है, और लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा किया जा सकता है। इससे देश में पाई जाने वाली चिरकालिक (Chronic) बेरोजगारी तथा अपूर्ण रोजगार (Under-employment) की बीमारी को भी दूर किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन से अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक स्थायित्व भी आता है। इसके अपनाने से (योजना हीन) अर्थ-व्यवस्था में समय-समय पर आने वाले समृद्धि और मन्दी के चक्रीय (Cyclical) उतार-चढ़ाव समाप्त हो जाते हैं, और अर्थ-व्यवस्था अधिक स्थिर गति से विकास के मार्ग पर आगे बढ़ती है। इससे चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical unemployment) की समस्या भी दूर हो जाती है। उचित आर्थिक नियोजन के द्वारा देश में आय और धन के वितरण की असमानता को कम कर, इसे अधिक न्याय पूर्ण बनाया जा सकता है। सभी लोगों के लिये 'अवसरों की समानता' (Equality of Opportunity) उत्पन्न कर अधिक न्याय पूर्ण और प्रगति-शील समाज को जन्म दिया जा सकता है। आर्थिक नियोजन में देश के विभिन्न प्रदेशों

* ऊपर लिखी पुस्तक, खण्ड ३, पृष्ठ ६४.

तथा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न भागों का सन्तुलित आर्थिक विकास किया जाता है। अतः योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में अवसन्न क्षेत्रों (Depressed Areas) या अवसन्न उद्योगों की समस्या ही उत्पन्न नहीं हो पाती। आर्थिक नियोजन के द्वारा देश में वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन को जनता की आधार-भूत आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल बनाया जा सकता है। इस प्रकार देश में साधनों का अपव्यय निम्नतम कर उनका सर्वोत्तम प्रयोग किया जा सकता है। इन सब गुणों के अतिरिक्त, आर्थिक नियोजन का एक और गुण यह है कि देश के सामने रखी गई आर्थिक विकास की एक निश्चित योजना, उचित शिक्षा व प्रचार की सहायता से, लोगों के सोये हुए उत्साह को जगाने में एक जादू का काम कर सकती है। इससे देश के आर्थिक विकास को बड़ा बल मिलता है।

तथापि यह स्पष्ट ही है कि विभिन्न देशों को ये लाभ, उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार, भिन्न-भिन्न मात्रा में प्राप्त होंगे।

भारत में आर्थिक नियोजन का संक्षिप्त इतिहास—

भारत में आर्थिक नियोजन का विचार बहुत नया नहीं है। पिछले २० वर्षों में इस पर काफी सोच-विचार किया गया है। यहां इस विचार का श्रीगणेश सर्व प्रथम श्री एम० विश्वेश्वरय्या (M. Visveswaraya) ने १९३४ में 'भारत के लिये योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था' (Planned Economy for India) लिख कर किया था। इसके तीन वर्ष पश्चात् इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने पं० जवाहर लाल नेहरु की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय योजना-समिति' (National Planning Committee) की स्थापना की थी। १९४२ से १९४६ के बीच, इस समिति का कार्य, इसके अध्यक्ष तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं के जेल जाने के कारण मन्द पड़ा रहा। अन्तत: १९४९ में इसने अपनी योजना प्रस्तुत की थी। इससे पूर्व इसने भारतीय अर्थ-व्यवस्था के कई एक पहलुओं पर महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित किये। इधर १९४४ में देश में एक के बाद दूसरी तीन योजनायें प्रकाशित हुई थीं। पहली योजना बम्बई योजना (Bombay Plan) थी, जिसे बम्बई के आठ उद्योगपतियों ने बनाया था। काफी समय तक इस योजना का बड़ा चर्चा रहा। इसी वर्ष ही इण्डियन फैडरेशन ऑफ लेबर की ओर से, मुख्यत: श्री एम० एन० रॉय (M. N. Roy) के द्वारा तैयार की गई, 'जनता की योजना' (People's Plan) का प्रकाशन हुआ। तभी वर्धा के श्री एस० एन० अग्रवाल ने 'गांधीवादी योजना' (Gandhian Plan) देश के सामने रखी। इधर १९४४ में भारत सरकार ने भी एक 'योजना-विभाग' (Planning Department) स्थापित किया। इस विभाग की सहायता से केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों ने, युद्ध के पश्चात् चलाने के लिये, कई एक विकास योजनायें बनाई। इनमें से कुछ एक पर थोड़ा-थोड़ा काम भी हुआ। १९४६ में अन्तिरिम सरकार ने, नियोजन की

समस्याओं का परीक्षण करने के लिये, एक 'परामर्श दाता योजना मण्डल' (Advisory Planning Board) स्थापित किया।

परन्तु १९४७ में देश के विभाजन ने तथा इसके पश्चात देशी रियासतों के भारत संघ में मिल जाने ने पुरानी सब योजनाओं को नई परिस्थितियों के अनुपयुक्त बना दिया। साथ ही, स्वतंत्र परन्तु विभाजित भारत के सामने कई एक नई समस्याओं, जैसे खाद्यान्न, कपास, पटसन की समस्या, विस्थापितों के पुनर्स्थापन की समस्या, विदेशी विनिमय या भुगतान-सन्तुलन (Balance of Payments) की समस्या, आदि ने पूर्णत: नये रूप से देश के आर्थिक विकास की व्यापक योजना बनाना आवश्यक कर दिया।

फलस्वरूप, मार्च १९५० में श्री नेहरु की अध्यक्षता में 'योजना आयोग' (Planning Commission) की स्थापना की गई। भारत में वास्तविक आर्थिक नियोजन इस आयोग की स्थापना से आरम्भ होता है। इस आयोग ने नितम्बर, १९५० में भारत के लिये 'कोलम्बो योजना' बनाई। इस योजना का दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के विकास की विस्तृत योजना में समावेश कर लिया गया है। साथ ही, इसने अन्य अनुसंधान कार्यों के अतिरिक्त देश के आर्थिक विकास के लिये दो पंच वर्षीय योजनायें बनाई हैं। पहली पंच-वर्षीय योजना १ अप्रैल १९५१ को आरम्भ होकर ३१ मार्च, १९५६ को पूरी हो चुकी है। दूसरी योजना १ अप्रैल, १९५६ में आरम्भ हुई है। नीचे हम अन्य योजनाओं के बारे में न पढ़ कर, केवल इन्ही दो पंच-वर्षीय योजनाओं के बारे में पढ़ेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना
(First Five Year Plan)

जैसा कि हम अभी ऊपर बतला आये हैं, मार्च १९५० में भारत सरकार ने एक योजना आयोग की स्थापना की। इसका मुख्य कार्य देश के साधनों के अधिकतम प्रभावपूर्ण तथा सन्तुलित प्रयोग के लिये योजनायें तैयार करना है। इसने प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रारूप-रेखा (Draft Outline), जनता के विस्तृत विचार-विमर्श तथा आलोचना के लिए, ९ जुलाई, १९५१ को प्रकाशित की। योजना का अन्तिम (Final) रूप ८ दिसम्बर १९५२ को देश के सामने आया। प्रथम पंचवर्षीय योजना १९५१-५६ के पाँच वर्षों के लिए थी। अप्रैल, १९५१ में आरम्भ होकर, यह मार्च, १९५६ में पूरी हो चुकी है।

उद्देश्य

योजना का केन्द्रीय उद्देश्य "देश में विकास के ऐसे क्रम को आरम्भ करना था, जो कि (जनता) के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाये तथा लोगों को अधिक सम्पन्न तथा बहुविध (Varied) जीवन के अवसर प्रदान करे।"

आर्थिक नियोजन एक सतत क्रम है। अतः यह बताया गया था कि पहली योजना का कार्य भारतीय जनता के आर्थिक और सामाजिक स्तर में पर्याप्त वृद्धि

करना होगा, जिससे कि अन्ततः लगभग १९७७ तक प्रति व्यक्ति आय को दुगुना किया जा सके। प्रथम योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय को ९,००० करोड़ रुपया (सन् १९५१) से बढ़ाकर (१९५६ मे) १०,००० करोड़ रुपया करना था। साथ ही यह भी सोचा गया था कि इस अवधि मे बचत की दर को १९५०-५१ मे राष्ट्रीय आय की ५% से बढ़ाकर १९५५-५६ मे ६·७५% किया जायेगा। इसके बाद १९६०-६१ तक इसे ११%, और १९६७-६८ तक इसे आगे बढ़ाकर २०% किया जायेगा। तत्पश्चात् बचत की यही दर रहने पर भी, विनियोग की वास्तविक मात्रा, अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के साथ-साथ, स्वयमेव बढ़ती जायेगी।

योजना का आकार विनियोग

प्रथम योजना के विनियोग और अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य काफी साधारण (Modest) रखे गये थे। यह विशेषतया इसलिये किया गया था, क्योंकि १९५०–५१ मे देश अभी दूसरे महायुद्ध तथा विभाजन के विस्था-पनों (Dislocations) को दूर करने मे तथा स्फीति (Inflation) को रोकने और खाद्यान्न तथा कपास और पटसन, आदि कच्चे माल की कमी को पूरा करने मे लगा हुआ था। अतः यह सोचा गया था कि यह योजना भविष्य मे देश के अधिक द्रुत आर्थिक विकास की नीव रखेगी।

आरम्भ मे योजना की अवधि मे सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) मे २०६९ करोड रु० के व्यय की व्यवस्था की गई थी। परन्तु देश मे बढ़ती हुई बेरोजगारी को रोकने के लिए, और रोजगार की दशा को सुधारने के लिए १९५३-५४ मे योजना मे कुछ नई श्रम-परक योजनाये (Labour-intensive Sckemes) शामिल की गई। इसके लिए पहले १७५ करोड रु० की व्यवस्था की गई, और योजना का कुल व्यय २०६९ करोड रु० से बढ़ाकर २,२४४ करोड़ रु० कर दिया गया। अन्ततः कुल व्यय का लक्ष्य और बढ़ा कर २,३७८ करोड रु० कर दिया गया। (अनुमान है कि वास्तव में योजना की अवधि मे कुल व्यय १९६० करोड़ रुपये हुआ होगा।*)

२,३७८ करोड रु० के इस संशोधित प्रस्तावित व्यय मे से १,३९० करोड़ रुपये (कुल व्यय का लगभग ५८·४ प्रतिशत भाग) केन्द्र द्वारा तथा ९८८ करोड रुपये (कुल व्यय का लगभग ४१·६% भाग) राज्य सरकारो द्वारा व्यय किया जाना था।

सार्वजनिक क्षेत्र मे इस व्यय के अतिरिक्त, निजी क्षेत्र मे निजी साहसियों के द्वारा १४०० से १५०० करोड़ रुपये के बीच विनियोग-व्यय का अनुमान था।

---

*Source : Review of the First Five Year Plan (May, 1957) p. 3 & p. 18

प्राथमिकतायें तथा व्यय का प्रतिरूप
Priorities & Pattern of Outlay)

नीचे की तालिका मे प्रथम योजना मे विकास की विभिन्न मदो पर प्रस्तावित व्यय का मूल (Original) तथा संशोधित (Revised) आवटन दिया गया है। यह आवटन योजना मे विभिन्न विकास-मदो को दी गई प्राथमिकताओ को भी प्रकट करता है।

तालिका १

(करोड रु० में)

विकास की मुख्य मदे	मूल अनुमान		संशोधित अनुमान	
	प्रस्तावित व्यय	प्रतिशत	प्रस्तावित व्यय	प्रतिशत
१ कृषि तथा सामुदायिक विकास	३६[illegible]	[illegible]	३[illegible]	१४ ६
२ सिचाई तथा बिजली	५६१	२७ १	६४७	२७ २
३ उद्योग तथा खान	१७३	८ ४	१८८	७ ६
४. परिवहन तथा सचार	४९७	२४ ०	५७१	२४ ०
५ समाज सेवाय	४२५	२० ५	५[illegible]	२२ ४
६. विविध	५२	२ ५	८६	३'६
योग	२०६९	१००'०	२३७८	१०० ०

प्राथमिकतायें—ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम योजना मे कृषि के विकास को (जिसमे सिचाई व बिजली का विकास भी शामिल था) सबसे ऊची प्राथमिकता दी गई थी। यह इसलिये क्योकि कृषि देश की अर्थव्यवस्था का आधार है। पहले इस आधार को दृढ करना आवश्यक था, जिससे कि देश मे खाद्यान्न और कपास पटसन, गन्ना, तिलहन, आदि आवश्यक कच्चे माल की उत्पत्ति बढे। ऐसा होने पर ही उद्योगों तथा अन्य क्षेत्रो मे विकास की ऊंची गति को प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। कृषि के विकास के लिए सिचाई की छोटी व बडी योजनाओ के भरपूर विकास की आवश्यकता है। बहुत बार सिचाई की बड़ी योजनाओ के साथ बिजली का उत्पादन भी जुडा रहता है। बिजली का बडी मात्रा मे उत्पादन तथा व्यापक वितरण न केवल छोटे स्तर के उद्योगो के विकास के लिये और व्यापक रूप मे ग्रामीण विकास के लिये आवश्यक है, वरन् बडे उद्योगो के विकास के लिए भी आवश्यक है। अत. प्रथम योजना मे बिजली-उत्पादन को भी उच्च प्राथमिकता दी गई थी। इस प्रकार सिचाई तथा बिजली सहित, कृषि के विकास पर सशोधित योजना मे १००१ करोड रुपये अर्थात् कुल सशोधित व्यय के ४२'१% भाग के व्यय की व्यवस्था की गई थी।

*Source . Review of the First Five Year Plan, p. 2-3.

प्रथम योजना में अगली सबसे ऊंची प्राथमिकता परिवहन तथा संचार के साधनों के विकास को दी गई थी। संशोधित योजना में इस पर ५७१ करोड रुपये (कुल व्यय का २४०% भाग) व्यय किये जाने थे। यह इसलिये क्योंकि परिवहन के प्रति सरकार का विशेष दायित्व है। रेलें राष्ट्रीय उद्योग हैं। इन्हें कृषि और उद्योग दोनों के विकास की आवश्यकता को पूरा करना है। इसके अतिरिक्त, सरकार ने देश के सभी गांवों को सडकों के द्वारा एक दूसरे से मिलाना है। सरकार ने जल व वायु-यातायात जैसी नई दिशाओं के विकास में भी सहायता देनी है। देश के इस आर्थिक विकास व औद्योगीकरण के लिये इन सभी यातायात साधनों का पहले के विकास परम मूलभूत आवश्यकता है।

ऊपर बताये गये अधिक आवश्यक खर्चों के कारण, प्रथम योजना में सरकार औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक धन की व्यवस्था नहीं कर पाई। अतः योजना में यह मान लिया गया था कि योजनाकाल में औद्योगिक विस्तार प्रधानतः निजी साधनों व उपक्रम पर निर्भर होगा। कुछ दिशाओं में इनके पूरक के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र के साधन और विदेशी पूंजी भी लगेगी। इसप्रकार निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के विकास के कार्यक्रम पर्याप्त होंगे।

समाज सेवाओं पर संशोधित योजना में यद्यपि ५३२ करोड रुपये (कुल प्रस्तावित व्यय का २२४% भाग) के व्यय की व्यवस्था की गई थी, तथापि, योजना आयोग ने यह स्पष्ट शब्दों में मान लिया था कि देश में इन सेवाओं की आवश्यकतायें इतनी अधिक हैं कि सरकार के साधनों द्वारा बहुत सीमित भाग ही हो सकता है। इस पर भी योजना में इस कार्य के लिए उपलब्ध साधनों का एक बडा भाग विस्थापितों को फिर से बसाने के लिये रखा गया था। अतः इस बात के महत्व पर जोर दिया गया था कि देश में निरक्षरता के विस्तार, स्वास्थ्य तथा सफाई में सुधार, नागरिक सुविधाओं के विकास, और प्रारम्भिक व शिल्प-शिक्षा की व्यवस्था, आदि समाज सेवाओं के लिए धन के विनियोग के साथ साथ सारी जनता भी प्रत्यक्ष रूप से बडे स्तर पर प्रयत्न करे। ऐसे सामूहिक प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने के लिये तथा अन्य बातों को ध्यान में रखकर, योजना में सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा स्थानीय निर्माण कार्यों के लिये धन की बडी राशि की व्यवस्था की गई थी।

विकास के मुख्य कार्यक्रम*

कृषि तथा सामुदायिक विकास

ऊपर हम बता आये हैं कि प्रथम योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास को (जिसमें सिंचाई व बिजली का विकास भी शामिल है) सबसे ऊंची प्राथमिकता दी गई थी। कृषि तथा सामुदायिक विकास पुनर्निर्माण की बहुत सी मदों के लिये

*प्रत्येक कार्यक्रम का पुस्तक में यथास्थान अधिक विस्तृत अध्ययन किया गया है। यहां तो इनका अत्यन्त संक्षिप्त विवरण ही दिया गया है।

एक व्यापक शब्दावली है। इसके अन्तर्गत कृषि उत्पादन के अतिरिक्त, पशुपालन, वनो तथा भूमि या मिट्टी का संरक्षण, मछली पालन, सहकारिता, तथा ग्राम-पंचायतें, आदि आती हैं। संशोधित योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास पर कुल ३५४ करोड़ रु० (कुल व्यय का १४.९%) की व्यवस्था की गई थी। इसमें से २४६ करोड़ रु० कृषि पर, ९० करोड़ रु० सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा पर, और शेष १५ करोड़ रु० ग्राम पचायतों तथा स्थानीय विकास-कार्यों, आदि अन्य कार्यक्रमों पर खर्च किये जाने थे।

कृषि — योजना में खाद्यान्न तथा व्यापारिक फसलों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के लक्ष्य रखे गये थे। इनमें अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य निम्नलिखित थे —

वस्तु	उत्पादन (१९५०-५१)	लक्ष्य (१९५५-५६)	अतिरिक्त उत्पादन	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न (लाख टन)	५४०*	६१६	७६	१४
कपास (लाख गाठें)	३०	४२	१२	४०
पटसन (लाख गाठें)	३३	५४	२१	६३
गन्ना गुड (लाख टन)	५६	६३	७	१२
तिलहन (लाख टन)	५१	५५	४	८

कृषि उपज में वृद्धि के ये लक्ष्य निम्नलिखित विकास कार्य-क्रमों के द्वारा पूरे किये जाने थे—

(i) सिंचाई की छोटी व बड़ी योजनाओं के द्वारा सिंचाई सुविधाओं का प्रसार :—योजना काल में कुल १९७ लाख एकड़ नई भूमि पर सिंचाई सुविधाओं को बढ़ाया जाना था—८५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की बड़ी योजनाओं के द्वारा और ११२ लाख एकड़ पर सिंचाई की छोटी योजनाओं के द्वारा.

(ii) कृषि भूमि का विस्तार:—योजनाकाल में कुल ७४ लाख एकड़ भूमि को पुनः कृषिगत (Reclaim) किया जाना था। इसमें से १४ लाख एकड़ केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था ने, १२ लाख एकड़ राज्य ट्रैक्टर संस्थाओं ने, और शेष ४८ लाख एकड़ भूमि राज्य सरकारों की सहायता से किसानों ने कृषिगत करनी थी। इसके अतिरिक्त, ३० लाख एकड़ भूमि पर बांध व नालियां, आदि बनाने के भूमि-सुधार के कार्य तथा लगभग ३४ लाख एकड़ भूमि पर यान्त्रिक खेती (Mechanical Cultivation) की जानी थी।

(iii) गहरी खेती —भूमि से प्रति एकड़ उपज को बढ़ाने के लिये, सिंचाई की अधिक सुविधाओं के अतिरिक्त, अच्छे बीजों, खाद व उर्वरता बढ़कों, खेती

*खाद्यान्न के लिये आधार वर्ष १९५०-५१ न होकर १९४९-५० था।

के अच्छे यन्त्रों तथा खेती करने की उन्नत विधियों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिये राज्य सरकारों ने भरसक प्रयत्न करने थे तथा आर्थिक सहायता देनी थी।

भूमि सम्बन्धी नीति (Land Policy):—भारत मे कृषि के पिछड़ेपन का एक बहुत महत्वपूर्ण कारण यहां की निकृष्ट भूमि-व्यवस्था रही है। गावों मे इस भूमि व्यवस्था के चारो ओर ही एक कट्टर सामाजिक ढाचा बना हुआ है। इस ढाचे को समूल बदल कर नये साधनो और नई प्रविधियो को कृषि मे लाना इसकी उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस तत्व के महत्व को समझाते हुए, योजना आयोग ने योजना मे मध्यजनो (Intermediaries), बड़े भूमि मालिकों, मध्यम और छोटे दर्जे के भूमि-मालिकों, काश्तकारो और खेतीहर मजदूरो के सम्बन्ध में महात्वपूर्ण भूमि सम्बन्धी सुधार बताये थे। इस भूमि सम्बन्धी नीति के बारे मे हम पुस्तक मे पहले ही यथास्थान अध्ययन कर आये हैं।

कृषि के लिये वनो तथा भूमि संरक्षण का बहुत महत्व है। अतः संशोधित योजना मे इनके लिये १० करोड रु० की व्यवस्था की गई थी।

योजना मे पशुपालन के लिये २२ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। पशुओं की नस्ल और उत्पादन-शक्ति को सुधारने के लिये ६०० आधार ग्राम (Key Villages) १५० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र (Artificial Insemination Centres) तथा सांड पालने के २२५ केन्द्र खोलने का लक्ष्य रखा गया था। बूढे और निकम्मे पशुओं के लिये १६० गोसदन खोले जाने थे। पशु-चिकित्सालयों तथा औषधालयों की सख्या २,००० से बढाकर २,६४० कर दी जानी थी। इसके अतिरिक्त, मुर्गी-पालन, भेडो की नस्ल सुधार तथा पशु-रोग-चिकित्सा की शिक्षा तथा अनुसंधान के लिये भी धन की व्यवस्था की गई थी।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की विभिन्नता (Diversification) तथा विस्तार के लिये, योजना मे दुग्धशालाओ, बागवानी, मछली उद्योग तथा गावं के धन्धों के विकास के लिये भी धन की व्यवस्था की गई थी।

कृषि तथा कृषको की आर्थिक दशा सुधारने मे कृषि विपणन (Agricultural Marketing) का बहुत महत्वपूर्ण हाथ है। योजना मे सहकारी विपणन को प्रोत्साहित करने के उपाय बतलाये गये थे। बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश और हैदराबाद राज्यो मे पहले से ही नियमित बाजार (Regulated Markets) स्थापित किये गये है। अन्य राज्य सरकारो को इस बात की सिफारिश की गई थी। कि वे भी सभी महत्वपूर्ण मंडियो को इसी प्रकार नियमित बनायें।

कृषि के लिये वित्त —योजना मे इस बात को माना गया था कि देश मे कृषि उत्पादन पर्याप्त वित्त की कमी के कारण बहुत अधिक हानि उठाता है। इस कमी को पूरा करने के लिये योजना मे सहकारी साख समितियो के सगठन पर जोर डाला गया था। इस दिशा मे सामान्य लक्ष्य यह रखा गया था कि १६५५-५६

तक एक तिहाई ग्रामीण जनता सहकारी प्राथमिक साख समितियों की सदस्य हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये योजना में उपाय भी बताये गये थे।

साथ ही, योजना में यह लक्ष्य रखा गया था कि योजना के अन्त तक किसानों की अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सहकारी समितियों तथा सरकारी ऋणों के द्वारा १०० करोड रु० वार्षिक के ऋण दिये जायें। इसका मतलब यह था कि उस समय जितना अल्पकालीन ऋण किसानों को मिलता था, उसे उसके तिगुने से भी अधिक कर दिया जाय। मध्यकालीन ऋण तथा दीर्घकालीन ऋण के वार्षिक लक्ष्य क्रमशः [illegible] करोड रु० और १० करोड रु० रखे गये थे।

सहकारिता—विकास के हर क्षेत्र में, विशेषतया ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में योजना ने सहकारी संगठनों के महत्त्व पर जोर दिया था। सहकारी साख के विकास के लक्ष्यों के बारे में हम अभी ऊपर बता आये हैं। (संशोधित) योजना में सहकारिता के विकास के लिये ७ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी।

सामुदायिक विकास—योजना आयोग के शब्दों में सामुदायिक विकास एक प्रणाली है और राष्ट्रीय प्रसार सेवा (National Extension Service) एक साधन है जिसके द्वारा पंचवर्षीय योजना गांवों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में परिवर्तन लाने का क्रम आरम्भ करना चाहती है। सामुदायिक विकास योजनायें चुने हुए क्षेत्रों में भरपूर विकास के कार्यक्रम के रूप में आरम्भ की गई है। इनमें खेती की उत्पत्ति को बढाने पर विशेष जोर दिया गया है। योजना में सामुदायिक विकास योजनाओं के लिये ९० करोड रु० की रकम रक्खी गई थी, और यह प्रस्ताव किया गया था कि आगामी १० वर्षों में देशभर में ऐसे केन्द्रों का जाल बिछा दिया जाय। प्रथम योजना के कार्यकाल के ५ वर्षों में १,२०,००० गाँवों को, अर्थात देश के लगभग एक चौथाई गावों में राष्ट्रीय प्रसार सेवायें पहुचाने का लक्ष्य रखा गया था।

ग्राम्य जीवन में ग्राम पंचायतों का भी बडा महत्वपूर्ण स्थान है। (संशोधित) योजना में इनके तथा स्थानीय विकास-कार्यों के लिये १५ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी, जिससे कि जिन भागों में योजना में शामिल की गई विभिन्न विकास योजनाओं से कोई प्रत्यक्ष लाभ न पहुंचे वहां के लोगों को भी विकास-कार्यों में प्रेरित किया जा सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योजना में कृषि के विकास के व्यापक कार्यक्रम रखे गये थे। कृषि के लगभग सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का विकास कर देश में उन्नतिशील कृषि की नींव डालने का लक्ष्य सामने रखा गया था।

सिंचाई तथा बिजली

योजना में सिंचाई और बिजली का कार्यक्रम मुख्यतः उन योजनाओं पर

*First Five year Plan, A summary P.63.

आधारित था, जो प्रथम योजनाकाल से पहले ही आरम्भ की जा चुकी थी। इस प्रकार की उन सभी योजनाओं पर, जिनको कि पचवर्षीय योजना में शामिल कर लिया गया था, कुल ७६५ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान था। इसमें से १५३ करोड़ रु० सन् १६५०–५१ के अन्त तक पहले ही खर्च हो चुके थे। योजनाकाल में इन पर व्यय के लिये ५१८ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी। योजनाकाल में इन योजनाओं की प्रगति के द्वारा सिंचाई के अन्तर्गत ८५ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि आने का अनुमान था, और ११ लाख किलोवाट अतिरिक्त बिजली उत्पन्न होने की आशा थी। इन योजनाओं के पूर्ण हो जाने, और इनका पूरा पूरा विकास हो जाने पर, अनुमान है कि कुल १६६ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई हो सकेगी, और १४ लाख किलोवाट अतिरिक्त बिजली प्राप्त होगी।

इन पुरानी योजनाओं के अतिरिक्त, प्रथम योजना में ५ और नई सिंचाई और बिजली योजनायें शामिल की गई थीं। इन पर योजनाकाल के अन्तिम वर्षों में काम प्रारम्भ किया जाना था। इनके नाम ये हैं कोसी (प्रथम चरण), कोयना (प्रथम चरण), कृष्णा (प्रथम चरण), चम्बल (प्रथम चरण), और रिहन्द। इन योजनाओं पर कुल व्यय २०० करोड़ रु० से भी अधिक होगा। प्रथम योजना में इन पर व्यय के लिये ४० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी।

इन बड़ी योजनाओं के अतिरिक्त, सिंचाई की छोटी योजनाओं को भी प्रथम योजना में शामिल किया गया था। इन पर ७७ करोड़ रु० व्यय किये जाने थे। इनसे लगभग ११२ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होनी थी।

इस प्रकार प्रथम योजनाकाल में कुल १६७ लाख एकड़ (८५ लाख एकड़ बड़ी योजनाओं से, और ११२ लाख एकड़ छोटी योजनाओं से) अतिरिक्त भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाया जाना था।

बिजली-उत्पादन में भी बड़ी योजनाओं के अतिरिक्त, निजी (Private) बिजली कम्पनियों की विस्तार-योजनाओं द्वारा १.६६ लाख किलोवाट की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि होनी थी।

योजना में देहातों में बिजली पहुंचाने के लिये भी धन की व्यवस्था की गई थी। तथापि, यह कार्यक्रम मुख्यतः दक्षिण के मद्रास, मैसूर और ट्रावनकोर कोचीन राज्यों तक सीमित था।

संशोधित योजना के अनुसार, सिंचाई और बिजली पर कुल ६४७ करोड़ रु० (कुल संशोधित व्यय का २७.२% भाग) व्यय किये जाने थे। इसमें से २५६ करोड़ रु० बहु-उद्देशीय योजनाओं पर, २१३ करोड़ रु० सिंचाई पर और १७८ करोड़ रु० बिजली योजनाओं पर व्यय किये जाने थे।

उद्योग तथा खान

यद्यपि प्रथम योजना में सिंचाई और बिजली सहित खेती के विकास को सबसे ऊंची प्राथमिकता दी गई थी, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि औद्योगिक

विकास का महत्त्व किसी भी प्रकार कम है। योजना आयोग ने इस तथ्य को भली भांति माना था। उसने यह स्पष्ट किया कि कम उन्नत अर्थ-व्यवस्था में कृषि और औद्योगिक विकास में वस्तुतः कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। एक सीमा के पश्चात् खेती के काम में तब तक विकास नहीं हो सकता जब तक कि खेती के काम में लगे हुए फालतू लोग धीरे-धीरे उद्योगों तथा अन्य सेवाओं में न लगाये जाय। दूसरी ओर, औद्योगिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों आदि के भरण-पोषण के लिये खाद्यान्न के उत्पादन में बड़ी मात्रा में वृद्धि हो, और, साथ ही, अधिकाधिक औद्योगिक उत्पादन के लिये कच्चे माल की मात्रा में भी वृद्धि हो। इसी अन्तिम सत्य को ध्यान में रख कर प्रथम योजना में पहले कृषि का विकास करने, और इसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बात, सिंचाई सुविधाओं का प्रसार करने पर अधिक जोर दिया गया था। बिजली-उत्पादन तथा यातायात सुविधाओं का पूर्व विकास भी देश के औद्योगिकरण के लिये परम आवश्यक है। अतः इन्हें भी उचित महत्त्व दिया गया था।

स्पष्ट ही, सीमित साधन होते हुए, जब कृषि, सिंचाई और बिजली के विकास के लिये योजना में अधिक धन की व्यवस्था की गई, तो औद्योगिक विकास के लिये सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक साधन नहीं बच पाये। अतः योजना में यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया था कि योजनाकाल में देश में औद्योगिक विस्तार प्रधानतः निजी साधनों व उपक्रम पर निर्भर होगा। हां, कुछ दिशाओं में इनके पूरक के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र के साधन और विदेशी पूंजी भी लगेगी।

सशोधित योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों और खान पर व्यय के लिये १८८ करोड़ रु० (कुल सशोधित व्यय की ७.६ प्रतिशत) की व्यवस्था की गई थी। इसमें से १३९ करोड़ रु० बड़े और मध्यम उद्योगों, खानों और वैज्ञानिक अनुसंधान पर, और ४६ करोड़ रु० ग्राम और छोटे उद्योगों के विकास पर व्यय किये जाने थे। मूल योजना में उद्योगों और खानों के विकास के लिये १७३ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी। इसमें से ६४ करोड़ रु० केन्द्रीय और राज्य सरकारों की औद्योगिक योजनाओं के लिये रखे गये थे। इन योजनाओं में कुछ पहले से ही चालू और कुछ नई योजनायें थी। नई योजनाओं में से सबसे बड़ी योजना लोहे और इस्पात का एक नया कारखाना बनाने की थी, जिस पर कुल मिला कर ८० करोड़ रु० खर्च होने का अनुमान था। योजनाकाल में इस पर केवल ३० करोड़ रु० व्यय किया जाना था, जिसमें से १५ करोड़ रु० देशी और विदेशी पूंजी के रूप में प्राप्त होने थे। इसके अतिरिक्त, सिंदरी में खाद के कारखाने, चितरंजन के रेल इंजन बनाने के कारखाने, मैसूर राज्य में जलहल्ली नामक स्थान पर मशीनों के कल-पुर्जे, आदि बनाने के कारखाने, आदि योजनाओं को पूरा करने की व्यवस्था की गई थी।

६४ करोड़ रु० के इस खर्चे के अतिरिक्त, बुनियादी उद्योग-धन्धों (जैसे बिजली के भारी यन्त्र बनाने का उद्योग) के विकास के लिये ५० करोड़ रु० और खर्च किये जाने थे।

इस प्रकार प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में अधिकतर योजनायें पूंजी वस्तुओं (Capital Goods) मध्यवर्ती (Intermediate) वस्तुओं के उत्पादन के बारे में थीं, जो न केवल तात्कालिक आवश्यकताओं को देखते हुए, वरन् भावी आर्थिक विकास की दृष्टि से भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके पूरा होने से औद्योगिक ढांचे का वर्तमान असन्तुलन या एकतरफापन किसी सीमा तक कम हो जायेगा। योजना में शामिल किये गये पेनिसिलीन और डी० डी० टी० तैयार करने के कारखाने उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते, परन्तु सार्वजनिक स्वास्थ्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए इनका विशेष महत्त्व था, और है।

निजी क्षेत्र में विकास—जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, प्रथम योजना में औद्योगिक क्षेत्र के अधिकांश भाग में विस्तार प्रधानतः निजी साधनों व उपक्रम पर छोड़ दिया गया था। इसके लिये निजी क्षेत्र के ४२ संगठित उद्योगों के विकास-कार्यक्रम, उन उद्योगों के प्रतिनिधियों से परामर्श करके, बनाये गये थे। ये उद्योग देश के कुल कारखाना-उद्योग का २/३ भाग बनाते हैं।

यह अनुमान लगाया गया था कि योजनाकाल में निजी क्षेत्र में औद्योगिक विस्तार पर कुल २३३ करोड़ रु० लगाये जायेंगे। इसमें से लगभग ८०% विनियोग पूंजी और उत्पादक वस्तुओं के उद्योग में होने थे। इसमें से, कुछ मुख्य उद्योगों, जैसे लोहा और इस्पात के उद्योग में ४३ करोड़ रु०, पेट्रोलियम साफ करने के कारखानों में ६४ करोड़ रुपये, सीमेंट उद्योग में १३ करोड़ रुपये, अल्यूमीनियम उद्योग में ९ करोड़ रुपये, और रासायनिक खाद, भारी रासायनिक पदार्थ, और शक्ति अल्कोहल उद्योग में १२ करोड़ रुपये, और निजी बिजली कम्पनियों द्वारा अतिरिक्त बिजली उत्पादन में १९ करोड़ रुपये लगाये जाने थे। उपभोक्ता की वस्तुयें उत्पन्न करने के उद्योगों में मुख्यतः पहले से स्थित उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग करके उत्पादन में वृद्धि करने पर जोर दिया गया था। तथापि, कुछ नये उद्योगों, जैसे नकली रेशम (Rayon), कागज, दवाइयाँ और ओषधियां तैयार करने के उद्योगों, में काफी पूंजी लगाने की व्यवस्था की गई थी।

इस प्रकार सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में उद्योगों के विस्तार के लिये कुल ३२७ करोड़ रु० (९४ करोड़ रु० सार्वजनिक क्षेत्र, और २३३ करोड़ निजी क्षेत्र) के विनियोग की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त, निजी क्षेत्र में १५० करोड़ रुपये कारखानों के आधुनिकीकरण (Modernisation) और मशीनों के बदलने पर खर्च होने का अनुमान था। इस प्रकार योजनाकाल में उद्योगों पर कुल ४७७ करोड़ रु० के विनियोग होने का अनुमान था।

कुछ महत्वपूर्ण उद्योगो के योजना मे निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये गये थे :—

	१९५०–५१ मे उत्पादन	१९५५–५६ मे उत्पादन का लक्ष्य
ढला हुआ लोहा	१५ ७ लाख टन	१९ ५ लाख टन
तैयार इस्पात	[illegible]	[illegible]
सीमेंट	२६ [illegible]	[illegible]
अल्यूमीनियम	[illegible]	
रासायनिक खाद-अमोनियम सल्फेट	४६ [illegible]	[illegible]
रासायनिक खाद-सुपरफास्फेट	[illegible] ,,	[illegible]
रेल के इन्जिन		१५०
मशीनी औजार	१,१००	४,६००
द्रव पैट्रोलियम	प्राप्त नही	४,०३० गैलन
बिटयूमेन (Bitumen)	प्राप्त नही	३७,५०० टन
सूत	११,७९० लाख पौंड	१६,४०० लाख पौंड
मिल का कपडा	३७१ ८० करोड गज	४७ करोड गज
हाथ करघे का कपडा	८१ ,, ,,	१७० ,, ,,
पटसन का माल	८.९ लाख टन	१२ लाख टन
साइकिलें	१ लाख	५ ० लाख

ग्राम और छोटे उद्योग—ग्राम और छोटे उद्योगो का देश की अर्थ व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान ध्यान मे रखते हुए, संशोधित योजना मे इनके विकास के लिये लगभग ४६ करोड रुपये की व्यवस्था की गई थी। साथ ही, इनकी कठिनाइयो और कमजोरियो को दूर कर इनकी उन्नति और विकास के लिये आवश्यक उपायों और नीति की सिफारिश की गई थी। योजना मे निम्नलिखित दस ग्राम उद्योगों के विकास के कार्यक्रम भी शामिल किये गये थे :—गावो मे तेल का उद्योग, नीम के तेल का साबुन बनाना, धान की भूसी निकालना, ताड का गुड बनाना, गुड और खांड का उद्योग, चमडा उद्योग, कम्बल उद्योग, हाथ से कागज बनाना, मधु मक्खी पालन, और दियासलाई का कुटीर उद्योग। इसके अतिरिक्त, खादी और नारियल की जटा के धन्धे के विकास के बारे मे भी प्रस्ताव रखे गये थे।

परिवहन तथा सचार—संशोधित योजना मे परिवहन तथा सचार की आधारभूत सेवाओ के विकास के लिये ५७१ करोड रु० की भारी रकम (कुल संशोधित व्यय का २४ भाग) की व्यवस्था की गई थी। इसमे से आधी से कुछ कम रकम (संशोधित योजना मे २६७ करोड रु०) केवल रेलो पर खर्च की जानी थी। रेलों के मुख्य कार्यक्रम मे दो बातें शामिल थी :—एक तो, उनके टूटे फूटे और पुराने साज-सामान के स्थान पर नया लगाकर उनका पुनस्स्थापन (Rehabilitation) करना: और दूसरे रेलो को उस समान व मशीनरी, आदि से सम्पन्न करना, जिस

से कि वे उस अतिरिक्त भार को उठा सकें, जो उन पर अर्थ व्यवस्था के अन्य भागों मे विकास के परिणामस्वरूप पड़ना था।

सड़कें—संशोधित योजना में सड़कों और सड़क यातायात पर कुल १४७ करोड़ रु० के व्यय की व्यवस्था की गई थी। मूल योजना में सड़कों पर १०० करोड़ से कुछ अधिक रुपये व्यय किये जाने थे। इसमें से एक चौथाई रकम राष्ट्रीय राजपथों के और शेष राज्यों की सड़कों के विकास पर व्यय किये जाने थे। राष्ट्रीय मार्गों के विकास की योजना के अन्तर्गत एक तो जो सड़कें पहले से बन रही थीं, उन्हें पूरा किया जाना था, दूसरे ४५० मील लम्बी नई सड़कें बनाई जानी थी, और छोटे-छोटे बहुत से पुलों के अतिरिक्त, ४१ बड़े पुल बनाये जाने थे।

योजना में कांडला में एक नई बन्दरगाह बनाने, तेल साफ करने वाले कारखानों को बन्दरगाहों की सुविधायें देने, ५ मुख्य बन्दरगाहों—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कोचीन और विशाखापतनम के आधुनिकीकरण और विकास के लिए तथा यातायात की नई दिशाओं, जैसे जहाजरानी और नागरिक वायु यातायात (Civil Aviation) के विकास के लिये ६७ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी।

योजना के अन्तर्गत डाक, तार, टेलीफोन और आकाशवाणी के विकास-कार्यक्रम पर कुल ६० करोड़ रुपया खर्च किया जाना था। इस कार्यक्रम में अधिक महत्व २,००० या इससे अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक गांव में डाकखाना खोलने और बड़े नगरों में टेलीफोन की सुविधायें बढ़ाने पर दिया गया था।

सामाजिक सेवायें—संशोधित योजना में समाज सेवाओं और विस्थापितों के पुनर्वास के लिये कुल ५३२ करोड़ रुपये (कुल संशोधित व्यय की २२·४%) की व्यवस्था की गई थी। इसमें से १७० करोड़ रुपये शिक्षा पर, १३८ करोड़ रुपये स्वास्थ्य पर, ४६ करोड़ रुपये मकानों पर, ३६ करोड़ रुपये श्रम और श्रम कल्याण तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण पर, और १३६ करोड़ रुपये विस्थापितों के पुनर्वास पर खर्च किये जाने थे। परन्तु सरकार द्वारा समाज सेवाओं पर इतनी रकम खर्च करने से भी दशा विशेष नहीं सुधरती थी। अतः योजना में इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया गया था कि जनता को भी सामुदायिक प्रयत्नों के द्वारा इस दशा में अपना सक्रिय योग देना चाहिये। योजना में यह आशा की गई थी कि सामुदायिक विकास योजनाओं तथा स्थानीय विकास-कार्यों पर किया गया खर्च इस प्रकार के सामुदायिक प्रयत्नों को जन्म देगा।

योजना की वित्त-व्यवस्था (Financing of the Plan)—प्रथम योजना में पहले २,०६६ करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया था। बाद में इसमें संशोधन करके अन्तत. २,३५८ करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया। इसमें से १,३६० करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा ९८८ करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा व्यय किये जाने थे। अनुमान है कि योजनाकाल में वास्तव में कुल

लगभग २,०१३ करोड रुपये* (ठीक रकम २,०१२ करोड रुपये) व्यय हुये। इस मे से १,११५ करोड केन्द्र द्वारा, ८९७·५ करोड रुपये राज्य सरकारो द्वारा व्यय किये गये अनुमान है कि योजनाकाल मे किये गये कुल व्यय का लगभग ५७% भाग योजना के अन्तिम दो वर्षों मे किया गया।

वित्त के स्रोत (Sources of Finances)—मूल योजनाओ मे प्रस्तावित व्यय के लिये वित्तीय साधनो को विभिन्न स्रोतो से किस प्रकार प्राप्त किया जाना था, और वास्तव मे इन स्रोतो से कितनी-कितनी रकम प्राप्त की गई, यह नीचे की तालिका मे दिया गया है :—

प्रथम योजना (१९५१–५६) की वित्त-व्यवस्था

(करोड रुपये मे)

	वित्त के स्रोत	आयोजित प्राप्ति	वास्तविक प्राप्ति
१.	योजना पर व्यय	२,०६९	२,०१३
२.	बजट के साधनः		
	(क) चालू आगम (Current Revenues) से प्राप्त आधिक्य	५७०	५७५
	(ख) रेलो का अंशदान	१७०	११५
	(ग) बाजार ऋण (Market Loans)	११५	२०४
	(घ) अल्प बचतें तथा अकोषित ऋण (Unfunded Debt)	२७०	३०४
	(ङ) अन्य विविध स्रोत	१३३	८०
	बजट के साधनो का योग	१,२५८	१,२७८
३.	विदेशी सहायता	१५६†	२०३
४.	घाटे की वित्त-व्यवस्था	२९०	५३२
५	आयोजित व्यय और २ से ४ तक के साधनो मे अन्तर	३६५	
६	योग	२,०६९	२,०१३

*कुल व्यय का यह अनुमान योजनाकाल के पहले चार वर्षों के लेखों (Accounts) और अन्तिम वर्ष (१९५५–५६) के 'संशोधित अनुमानो' पर आधारित है। योजना आयोग द्वारा मई, १९५७ मे प्रकाशित 'Review of the First Five Year Plan' मे इसी रकम को ले कर योजना की वित्त-व्यवस्था तथा कार्यकरण का विश्लेषण किया गया है। तथापि, उसमे यह स्पष्ट कह दिया गया था कि यदि योजना के अन्तिम वर्ष के भी 'लेखो' को लिया जाता, तो सभवतः योजना का कुल वास्तविक व्यय १,९६० करोड रुपये ही बैठता।

†दिसम्बर, १९५२ तक प्राप्त विदेशी सहायता।

मूल योजना मे २,०६९ करोड रु० व्यय करने का लक्ष्य रखा गया था। इसमे से १,२५८ करोड रुपये बजट के स्रोतो (करों, रेलों के अंशदान, बाजार ऋणों, अल्प बचतों तथा अन्य पूंजी स्रोतो) से प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। दिसम्बर, १९५२ तक (जब कि योजना की अन्तिम रिपोर्ट तैयार हुई थी) १५६ करोड रु० की विदेशी सहायता का आश्वासन मिल चुका था। इसके अतिरिक्त, यह सोचा गया था कि योजनाकाल मे स्टर्लिङ्ग पावने मे से जो २९० करोड रु० भारत को मिलेंगे, उसके बराबर की घाटे की वित्त-व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार १,७०४ करोड रु० (१२५८+१५६+२९०=१७०४ करोड रु०) एकत्र करने के बावजूद भी २,०६९ करोड रु० का व्यय पूरा करने के लिए ३६५ करोड रु० का और प्रबन्ध करना आवश्यक था। मूल योजना मे इसके लिए कोई निश्चित व्यवस्था नही की गई थी। उसमे केवल यह सोचा गया था कि इस 'अन्तर' (Gap) को पूरा करने के लिये विदेशो से कुछ और सहायता मिलेगी। यदि फिर भी कुछ अन्तर बना रहा, तो उसे अतिरिक्त कर-आय अथवा /और ऋणों अथवा/ और घाटे की वित्त-व्यवस्था से पूरा किया जायेगा। किसी भी योजना मे इस प्रकार की अनिश्चितता छोडना, उस योजना का एक भारी दोष है। ऊपर हम पढ आये हैं कि बाद मे योजना मे व्यय के लक्ष्य को बढाकर २,३७८ करोड़ रु० कर दिया गया था। व्यय के लक्ष्य को ३०९ करोड रु० से बढाते हुए, यह निश्चित नही किया गया था कि इस अतिरिक्त व्यय के लिए साधन किस प्रकार प्राप्त होंगे। इस प्रकार योजना मे आयोजित व्यय और साधनो के बीच 'अन्तर' का आकार ३६५ करोड रु० से बढकर ६७४ करोड रु० हो गया था। बजट-साधनों तथा विदेशी सहायता से अतिरिक्त साधन प्राप्त न होने की दशा मे, इस अन्तर को भरने की एक ही विधि रह जाती थी—वह थी घाटे की वित्त-व्यवस्था, जिसके द्वारा योजना, व्यय को पूरा करने के लिये २९० करोड रु० के स्थान पर ९६४ (२९०+६७४) करोड रु० प्रदान किये जाते।

परन्तु, वास्तव मे योजनाकाल मे केवल २,०१३ करोड रु० ही व्यय किये जा सके। इसमे से बजट-साधनों के लक्ष्य (१२५८ करोड़ रु०) से कुछ अधिक रु० (१२७८ करोड रु० प्राप्त हुए, विदेशी सहायता मे १५६ करोड रु० के स्थान पर २०३ करोड रु० प्राप्त हुए, और अत घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा २९० करोड रु० के स्थान पर ५३२ करोड रु० प्राप्त करने पड़े।

नीचे हम योजना मे वित्त के स्रोतो से आयोजित प्राप्ति तथा वास्तविक प्राप्ति का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

कर—मूल योजना मे योजना के पाचो वर्षों में करो से प्राप्त आय (चालू आगम) मे से कुल ५७० करोड रु० बचाये जाकर योजना के अन्तर्गत व्यय किये जाने की आशा की गई थी। इसमे से १६० करोड रु० केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त किये जाने थे, और ४१० करोड़ रु० राज्य सरकारों के द्वारा। वास्तव में कर-आय का लक्ष्य

को पूरा कर लिया गया, परन्तु राज्य सरकारों ने इस स्रोत से नियोजित राशि को एकत्र नहीं किया। जहां केन्द्रीय सरकार ने योजना के ५ वर्षों में चालू आय में से १६० करोड़ रु० के स्थान पर ३०५ करोड़ रुपये बचाये, वहां राज्य सरकारों ने ४१० करोड़ रुपये के स्थान पर केवल २७० करोड़ रुपये ही प्राप्त किये। और यह तब जब कि 'वित्त-आयोग' (Finance Commission) के निर्णय के अनुसार, राज्यों को केन्द्र से लगभग ८० करोड़ रुपये प्राप्त हुए। केन्द्रीय सरकार ने समय-समय पर आय-कर, और उत्पादन-शुल्क को बढ़ाकर तथा अवसरानुसार, निर्यात-शुल्क में समायोजन कर, योजनाकाल में निर्यात शुल्क को निकाल कर, अतिरिक्त करों से कुल १७५ करोड़ रुपये एकत्र किये। राज्य सरकारों द्वारा योजनाकाल में अतिरिक्त करों से २३० करोड़ रुपये एकत्र करने का लक्ष्य रखा गया था। परन्तु वास्तव में वे इस स्रोत से केवल ८० करोड़ रुपये ही एकत्र कर पाईं। इससे स्पष्ट है कि प्रथम योजनाकाल में राज्य सरकारों (बम्बई, आसाम और पंजाब की सरकारों को छोड़कर) ने अतिरिक्त कर लगाकर योजना के लिये धन एकत्र करने के अपने दायित्व को पूरी तरह से नहीं निभाया।

रेलों का अंशदान—रेलों ने योजनाकाल में १७० करोड़ रुपये के अंशदान के स्थान पर केवल ११५ करोड़ रुपये का ही अंशदान दिया, यद्यपि रेलों ने इस अवधि में रेल के किराये-भाड़े में वृद्धि करके लगभग १०० करोड़ रु० और कमाये। अंशदान में इस कमी का एक कारण रेलों के कार्य रेलों के कार्यवाहक खर्चे में वृद्धि था।

सार्वजनिक ऋण—योजनाकाल में बाजारी ऋणों (Market Loans) से केवल ११५ करोड़ रुपये प्राप्त करने की ही आशा की गई थी, क्योंकि योजना के बनाते समय द्रव्य बाजार की दशा अच्छी नहीं थी। तथापि, योजना के अन्तिम वर्षों में दशा सुधरी, और सरकार इन ऋणों से ११५ करोड़ रुपये के स्थान पर २०४४ करोड़ रुपये प्राप्त कर सकी।

अल्प बचत—अल्प बचतों से २२·५ करोड़ रुपये प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। वास्तव में इनसे २३७ करोड़ रु० प्राप्त किये गये।

अनौपचारिक ऋणों से ४५ करोड़ रुपये की आयोजित प्राप्ति के स्थान पर ६७ करोड़ रुपये प्राप्त हुए।

अन्य पूंजी स्रोतों से योजनाकाल में १३३ करोड़ रुपये के लक्ष्य की तुलना में केवल लगभग ८० करोड़ रु० ही प्राप्त हुए।

विदेशी सहायता—योजनाकाल में विदेशों से २६३ करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त हुई, परन्तु वास्तव में इसमें से अनुमानतः २०३ करोड़ रुपये की सहायता का ही प्रयोग किया जा सका।

घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficet Financing)—मूल योजना में २९० करोड़ रुपये तक घाटे की वित्त-व्यवस्था करना जोखिमरहित समझा गया था,

क्योंकि योजनाकाल मे इतनी रकम के बराबर ही इंगलैण्ड के पास भारत के जमा स्टर्लिङ्ग पावने मे से धन प्राप्त होना था। वास्तव मे, भारत को अपने स्टर्लिङ्ग पावने मे से लगभग इतनी ही रकम तो प्राप्त हुई, परन्तु घाटे की वित्त-व्यवस्था इससे कही अधिक रही। योजना के प्रथम चार वर्षों मे (इन वर्षों के लेखो (Accounts) के अनुसार) कुल २४० करोड़ रुपए की घाटे की वित्त-व्यवस्था हुई। १९५५-५६ मे ('संशोधित अनुमानों' के अनुसार) २९२ करोड़ रु० की घाटे की वित्त व्यवस्था हुई।* अत. योजनाकाल मे कुल ५३२ करोड़ रुपए की घाटे की वित्त-व्यवस्था हुई।*

प्रथम योजना की सफलताएं

प्रथम पंचवर्षीय योजना १ अप्रैल, १९५१ को आरम्भ होकर ३१ मार्च, १९५६ को समाप्त हो चुकी है। नियोजित आर्थिक विकास के पथ पर स्वतन्त्र भारत का यह पहला पद था। इसकी सफलताओं का भली प्रकार मूल्यांकन करने के लिये पहले हमे संक्षेप मे उन परिस्थियो को जान लेना चाहिये, जिनमे कि इस योजना को आरम्भ किया गया था।

योजना के आरम्भ के समय देश की आर्थिक स्थिति विनियोग व आर्थिक विकास की दर को तेजी से बढाने के बिल्कुल भी अनुकूल नही थी। देश मे खाद्यान्न और कच्चे माल की बहुत कमी थी। औद्योगिक उत्पादन उत्पादन-क्षमता से बहुत कम था। यातायात प्रणाली पर बहुत अधिक भार पड़ा हुआ था। पाकिस्तान से बडी संख्या मे आने वाले विस्थापितो के पुनर्स्थापन की बडी विकट समस्या थी। जून, १९५० मे कोरिया मे युद्ध के छिड़ जाने और १९५०-५१ मे अत्यधिक खराब फसल ने कठिनाई को और भी बढा दिया था। १९५१ मे ही देश को ४७ लाख टन खाद्यान्न का आयात करनी पड़ी थी। अर्थ-व्यवस्था मे स्फीति का बड़ा दबाव था। १९५१-५२ मे व्यापार-सन्तुलन मे चालू खाते मे १६३ करोड रु० का घाटा था। युद्धोत्तर काल मे जो विभिन्न विकास योजनायें आरम्भ की गई थी, उन्हे धन की कठिनाई का सामना करना पड रहा था। केन्द्रीय व राज्य सरकारों के विकास-कार्यक्रमो मे कोई समन्वय नही था, और कुछ नये स्थापित राज्यो मे तो सामान्य कार्यों के लिये भी पर्याप्त प्रशासन-यंत्र नही था।

इन परिस्थितियो मे प्रथम योजना का पहला उद्देश्य युद्ध और देश के विभाजन के द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था मे आये हुए असाम्य (Disequilibrium) को ठीक करना था। इसका दूसरा उद्देश्य, साथ ही, देश मे सार्वतोमुखी तथा संतुलित आर्थिक विकास के ऐसे क्रम को आरम्भ करना था, जिससे कि आने वाले वर्षो मे देश की राष्ट्रीय आय निरन्तर रूप से बढती जाय, और जनता को रहन-

* १९५५-५६ मे वास्तव मे लगभग कुल १८० करोड़ रुपए की घाटे की वित्त-व्यवस्था हुई। अत प्रथम योजनाकाल मे कुल लगभग ४२० करोड़ रुपए की घाटे की वित्त-व्यवस्था हुई।

सहन का उच्चतर स्तर प्राप्त हो। इस सब की प्राप्ति के लिये राज्य ने नये उत्तर दायित्वो को स्वीकार किया, और सार्वजनिक क्षेत्र मे पहले से अधिक मात्रा मे और समन्वित तथा नियोजित ढङ्ग से व्यय और विनियोग का श्री गणेश किया। वास्तव मे भारत मे आर्थिक नियोजन अभी तक मुख्यत सार्वजनिक व्यय और विनियोग के नियोजन तक ही सीमित है।

प्रथम योजना मे पहले २,०६९ करोड रु० व्यय करने का लक्ष्य रखा गया था। बाद में इसमे संशोधन करके अन्तत. २,३७८ करोड रु० व्यय करने का लक्ष्य रखा गया था। वास्तव मे योजनाकाल मे कुल लगभग २,०१३ करोड़ रु० व्यय हो पाये।

नीचे की तालिका मे हम विकास की विभिन्न मदो के प्रस्तावित व्यय तथा वास्तविक व्यय के आकडे देते हैं। इससे प्रत्येक दिशा मे योजना की गति का अनुमान लग जायेगा।

प्रथम योजना (१६५१-५६) मे व्यय

विकास की मद	प्रस्तावित व्यय (करोड रु० मे)	वास्तविक व्यय (करोड रु० मे)
१. कृषि तथा सामुदायिक विकास	३५४	२६६
२ सिचाई तथा बिजली	६४७	५८५
३. उद्योग तथा खाने	१८८	१००
४. यातायात तथा सचार	५७१	५३२
५ समाज सेवाये	५३२	४२३
६. विविध	८६	७४
योग	२,३७८	२,०१३

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि सभी दिशाओ मे योजना मे वास्तविक व्यय प्रस्तावित व्यय से कम रहा है। तथापि, हमे यह भी नही भूलना चाहिये कि लगभग सभी दिशाओ मे सरकार द्वारा किया गया विकास-व्यय पहले की अपेक्षा कही अधिक ऊंचा रहा है।

कृषि व सामुदायिक विकास—योजनाकाल मे कृषि उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई। यह कृषि उत्पादन के निम्नलिखित आकडो से स्पष्ट है—

वस्तु	उत्पादन १६५०-५१	उत्पादन १६५५-५६ (लक्ष्य)	उत्पादन १६५५-५६ (वास्तविक)
खाद्यान्न (लाख टन)	५००	६१६	६४८
कपास (लाख गाठे)	३०	४२	४०
पटसन (लाख गाठे)	३३	५४	४२
गन्ना गुड (लाख टन)	५६	६३	५६
तिलहन (लाख टन)	५१	५५	५७

योजना के अन्त मे खाद्यान्न तथा तिलहन का उत्पादन निर्धारित लक्ष्यो से भी बढ गया। कृषि-उत्पादन का निर्देशांक योजना के आरम्भ की तुलना में योजना के अन्त मे १६% ऊंचा था।

कृषि उत्पादन को बढाने और कृषि का बहुमुखी विकास करने के लिये योजना मे कई महत्वपूर्ण काम किये गये और आवश्यक पद उठाये गये। उदाहरणार्थ, योजना काल में सिंचाई सुविधाओ का विकास किया गया (इसका हम अभी आगे अलग से अध्ययन करेंगे); रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग में दुगुने से अधिक की वृद्धि हुई, उत्तम बीजो का प्रयोग बढा, १९५५-५६ में चावल उगाने की जापानी विधि के अधीन २१ लाख एकड़ भूमि लाई जा चुकी थी, लगभग १२ लाख एकड़ भूमि को केन्द्रीय ट्रैक्टर सस्था के द्वारा और १७ लाख एकड़ भूमि को राज्य ट्रैक्टर संस्थाओ के द्वारा कृषिगत (Reclaim) किया गया, और बहुत सी भूमि पर बाध व नालियाँ बनाने, आदि के भूमि-सुधार के कार्य किये गये। अधिकांशत. प्रथम योजनाकाल मे ही सभी राज्यो मे जमीदारी अथवा मध्यजनो के उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम पास किये गये और कुछ राज्यो मे इन्हे वास्तव मे लागू कर एक शोषण-हीन भूधारणाधिकार की प्रणाली का बीज बोया गया। भूमि की अनिवार्य चकबन्दी के कार्य को आगे बढाया गया, और कुछ राज्यो में कृषि जोतो की अधिकतम व निम्नतम सीमायें भी लागू की गई। सहकारी खेती और सहकारी विपणन के प्रसार के क्षेत्र मे योजनाकाल मे विशेष प्रयत्न नहीं किये गये। वैसे योजना काल मे सहकारी समितियो की संख्या, सदस्यता, और कार्यवाहक पूंजी मे क्रमश. ३३%, २८·५% और ७०% की वृद्धि हुई। पशु-पालन पर तथा पशु-चिकित्सा के विकास पर योजना काल मे सरकार की ओर से १६ करोड रु० व्यय किये गये, जिससे अन्य बातों के सहित, ५७४ आधार ग्राम केन्द्र, १४४ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र, और २५ गोसदन खोले गये।

सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय प्रसार सेवा का कार्यक्रम पहली बार प्रथम योजना के अधीन ही आरम्भ किया गया था योजना के अन्त तक इस दिशा मे रखे गये लक्ष्य को ९० करोड रु० के प्रस्तावित व्यय के स्थान पर ४६ करोड रु० के व्यय से ही प्राप्त कर लिया गया था। योजना के अन्त तक लगभग १ लाख २१ हजार गावो में १२०० विकास खण्ड आरम्भ किये गये थे। इन गावो की कुल जनसंख्या लगभग ८ करोड थी।

सिंचाई तथा बिजली—योजना मे सिंचाई तथा बिजली के विकास कार्यक्रम को बहुत महत्व प्रदान किया गया था। अत. योजना काल मे इस पर ५९९ करोड़ रु० (कुल व्यय का २९% भाग) व्यय किये गये। योजनाकाल मे पहले से चल रही बडी बडी नदी घाटी योजनाओं, जैसे भाखडा-नांगल, दामोदर घाटी, हीराकुण्ड, तुङ्गभद्रा, आदि पर पर्याप्त प्रगति की गई, और यथासम्भव सिंचाई-सुविधाओ तथा बिजली उत्पादन की संभावनाओ का लाभ उठाया गया। साथ ही, कई एक नई

योजनाओ, जैसे कोसी, कोयना, कृष्णा, आदि पर काम आरम्भ किया गया। योजना मे बडी तथा मध्य आकार की सिंचाई योजनाओ से ८५ लाख एकड भूमि पर सिंचाई सुविधाओ के प्रसार का लक्ष्य रखा गया था। योजना काल मे इन योजनाओ से ६ लाख एकड भूमि पर पानी उपलब्ध था। वास्तव मे इनसे लगभग ४० लाख एकड को ही सींचा गया। इसके अतिरिक्त १०० लाख एकड भूमि नये छोटे सिचाई कार्यों द्वारा सीची जाने लगी। इससे देश मे कुल सीचित क्षेत्र ५१० लाख एकड से बढ कर ६५० लाख एकड हो गया। योजना के अन्त तक बिजली का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से बढकर ३४ लाख किलोवाट हो गया।

उद्योग प्रथम योजना मे औद्योगिक विकास मुख्यत निजी उपक्रम के लिये छोडा गया था। योजनाकाल मे, पूर्व अनुमान के अनुसार निजी क्षेत्र मे औद्योगिक प्रसार के लिये लगभग २३३ करोड रु० का विनियोग किया गया। तथापि, मशीनों तथा सयन्त्रो के आधुनिकीकरण तथा पुनर्स्थापन की प्रगति अवश्य अनुमान से पीछे रही–इस पर केवल लगभग ११० करोड रु० व्यय हुए, जब कि योजना का अनुमान लगभग १५० करोड रु० था। औद्योगिक उत्पादन मे लगभग ४०% की वृद्धि हुई। मिलो मे बने कपडे का उत्पादन लगभग ३७० करोड गज (१९५०–५१ मे) से बढकर १९५५–५६ मे लगभग ५१० करोड गज हो गया जब कि लक्ष्य ४७० करोड गज था। चीनी मिलाई की मशीनो, कागज और साइकिलो का उत्पादन निर्धारित लक्ष्यो के स्तर तक पहुच गया, बल्कि कुछ का उत्पादन तो लक्ष्यो से भी बढ गया। सीमेट का उत्पादन १९५०–५१ के २७ लाख टन से बढकर १९५५–५६ मे ४६ लाख टन हो गया। सामान्य इञ्जीनियरी उद्योगो तथा भारी रसायन एवं रासायनिक उत्पादो के उत्पादन मे भी काफी वृद्धि हुई। कच्चे मालो की अधिक माना मे उपलब्धि, बेकार पडी हुई उत्पादन क्षमता के प्रयोग तथा पर्याप्त माना मे नये विनियोगो के कारण औद्योगिक उत्पादन मे सामान्य वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त कई एक वस्तुए' तो देश मे पहली बार ही उत्पन्न की गई', और कई एक नये तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगो, जैसे पैट्रोलियम साफ करना, पानी के जहाज बनाना वायुयान-निर्माण, माल गाडियो के डिब्बे, पैसिलीन, एमोनियम क्लोराइड और डी डी टी. का निर्माण, आदि की स्थापना हुई। सार्वजनिक क्षेत्र मे कई एक कारखानो, जैसे कि सिंदरी मे खाद का कारखाना, चित्तरजन मे रेल के इ जिन बनाने का कारखाना, इण्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज और रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना ने सन्तोषजनक प्रगति की। उधर, दूसरी ओर, कुछ योजनायें बीच मे ही रह गई—उदाहरणार्थ प्रस्तावित लोहे और इस्पात के कारखाने तथा बिजली के भारी उपकरण के कारखाने के निर्माण पर योजनाकाल मे काम ही आरम्भ नही हुआ, और मशीनी औजार कारखाना नैपा अखबारी कागज का कारखाना और बिहार सुपरफास्फेट कारखाना भी लक्ष्य से पीछे रहे।

प्रथम योजना मे ग्राम तथा लघु उद्योगों को भी महत्त्व प्रदान किया गया

था, और १० चुने हुए ग्राम उद्योगो के विकास कार्यक्रम को शामिल किया गया था। इसके फलस्वरूप अब देश की अर्थ-व्यवस्था मे इनका महत्त्व अधिक अच्छी तरह से माना जाने लगा है। इन उद्योगो के विकास-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये योजनाकाल मे कुछ सगठनो जैसे कि खादी व ग्रामोद्योग मण्डल, हाथ-करघा मण्डल, दस्तकारी मण्डल, लघु उद्योग मण्डल, आदि की स्थापना की गई है। योजनाकाल मे इन उद्योगो के विकास पर कुल ४३·७ करोड़ रु० की रकम व्यय की गई है।

योजना मे खनिज विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था।

यातायात तथा संचार– किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए सिचाई तथा बिजली और यातायात के विभिन्न साधनो का समुचित विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। सभी कृषि, उद्योगो व खानो और अन्य आर्थिक क्रियाओ के क्षेत्र मे विकास क्रम को आगे बढाया जा सकता है। सिचाई और बिजली के बारे मे हम ऊपर पढ आये हैं। यातायात व संचार साधनो के विकास पर योजनाकाल मे ५३१·५ करोड रु० व्यय किये गये। योजनाकाल मे रेलो का पुनर्स्थापन किया गया, और उन्हे नया भार ढोने के लिये काफी मजबूत बनाया गया। योजना में १,०३८ रेलवे इजिन, ५,६७४ यात्री-डिब्बे, और ४९,१४३ माल-डिब्बे प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। वास्तव मे योजनाकाल मे १५८६ इजिन, ४७५८ यात्री डिब्बे और ६१,२५७ माल-डिब्बे प्राप्त किये गये। इसके अतिरिक्त, देश मे भी इनका उत्पादन बढा—१९५०–५१ मे इजिनो का उत्पादन २७ था, यात्री डिब्बो का उत्पादन ६७३ था, और माल डिब्बो का उत्पादन ३,७०७ था। १९५५–५६ मे यह उत्पादन बढकर क्रमशः १७९, १२२१ तथा १४,३१७ हो गया था। योजनाकाल मे ही चित्तरंजन (पश्चिमी बगाल) मे रेल के इजिन बनाने का कारखाना तथा पैराम्बूर (मद्रास) मे यात्री डिब्बे बनाने का कारखाना बनकर तैयार हुये और उत्पादन करने लगे। योजनाकाल मे ३८० मील नई रेल लाइन बनाई गई, युद्धकाल मे उखाड दी गई, ४३० मील रेल लाइन को पुन. लगाया गया, और ४६ मील नैरो गेज की लाइन को छोटी लाइन मे बदला गया।

योजना मे निर्धारित सड़क निर्माण व सड़क यातायात के कार्यक्रम को लगभग पूरा कर लिया गया। इस पर क्रमश १३५ करोड रुपये तथा १२ करोड़ रुपये खर्च हुये। योजनाकाल मे लगभग २४,००० मील नई पक्की सड़कें और लगभग ४४,००० मील नीचे स्तर की नई सडकें तैयार की गई। जहाजरानी, बन्दरगाहो और नागरिक उड्डयन पर वास्तविक खर्चा योजना मे निर्धारित व्यय से काफी कम रहा।

समाज सेवायें—प्रथम योजनाकाल मे, सरकार के सीमित साधनों को देखते हुये, समाज सेवाओ का पर्याप्त विकास हुआ—प्राइमरी शिक्षा, बेसिक शिक्षा, उच्चतर शिक्षा, इन्जीनियरी शिक्षा तथा प्राविधिक प्रशिक्षा की सुविधाओ

में पर्याप्त वृद्धि हुई ; हस्पतालों तथा औषधालयों की संख्या में तो विशेष वृद्धि नहीं हुई, परन्तु मलेरिया तथा फाइलेरिया नियन्त्रण के कार्यक्रम में काफी सफलता मिली। पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों के पुनस्स्थापन का कार्य लगभग पूरा कर लिया गया, यद्यपि, पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों का पूर्ण पुनस्स्थापन अभी काफी शेष था।

राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में लगभग १८.४% की वृद्धि हुई। तथापि, प्रति व्यक्ति आय में केवल १०.५% की वृद्धि हुई, क्योंकि इसी बीच देश की जनसंख्या में लगभग ६.६% की वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति उपभोग के स्तर में ८% से अधिक की वृद्धि नहीं हुई होगी। १६५०-५१ व १९५५-५६ के बीच, प्रति व्यक्ति कुछ वस्तुओं के उपभोग में इस प्रकार की वृद्धि हुई होगी—अनाज १२.६ औंस से बढ़कर १४.४ औंस, कपड़ा ६.७ गज से बढ़कर १६.४ गज, और चीनी ०.३७ औंस से बढ़कर ०.५७ औंस। साइकलों, सिलाई की मशीनों, बिजली के लैम्पों, रेडियो, आदि औद्योगिक वस्तुओं के उपभोग में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

विनियोग—योजना में कुल ३५००-३६०० करोड़ रु० के विनियोग का लक्ष्य रखा गया था। वास्तव में योजना के पांच वर्षों में लगभग ३१०० करोड़ रु० का विनियोग हो पाया—१५०० करोड़ रु० का विनियोग सार्वजनिक क्षेत्र में, और १६०० करोड़ रु० का विनियोग निजी क्षेत्र में। योजना के अन्त में विनियोग का स्तर १६५०-५१ में विनियोग के स्तर से लगभग दुगुना था।

रोजगार—योजना काल में श्रम की पूर्ति में जितनी वृद्धि हुई, रोजगार-अवसरों में सम्भवतः उतनी ही वृद्धि नहीं हुई। अतः योजनाकाल में अर्ध बेरोजगारी व पूर्ण बेरोजगारी में कोई कमी नहीं हुई, कुछ वृद्धि ही चाहे हुई हो। हां, शहरों में बेरोजगारी निश्चित रूप से बढ़ी। १६५३ में इस शहरी बेरोजगारी की दशा इतनी खराब हो गई थी कि योजना-व्यय में लगभग ३०० करोड़ रु० की वृद्धि का निर्णय किया गया। परन्तु अन्ततः वास्तविक व्यय योजना के मूल व्यय जितना भी नहीं हो पाया, और रोजगार-स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

निष्कर्ष—भारत की प्रथम योजना नियोजित आर्थिक विकास के पथ पर प्रथम पग थी। जिन परिस्थितियों में यह आरम्भ की गई थी, और जो सीमित साधन उस समय उपलब्ध थे, उनके कारण योजना के लक्ष्य अनिवार्यतः बड़े साधारण थे। दूसरी ओर, शताब्दियों की परतन्त्रता और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण, जनता की अपूर्ण आवश्यकतायें बड़ी असाधारण थीं। अतः इन आवश्यकताओं के समक्ष योजना की सफलतायें अत्यन्त साधारण लगती हैं। परन्तु, हमें याद रखना है कि कई शताब्दियों के आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिये अभी हमें काफी परिश्रम करना पड़ेगा, और सन्तोष रखना पड़ेगा। प्रथम योजना तो उस परिश्रम का प्रारम्भ मात्र थी। सन्तोष की बात तो यह है कि इसने जनता को नियोजन के प्रति जागरूक

बनाया है, और एक सीमा तक, लोगों में आर्थिक उन्नति के लिये उत्साह तथा साहस को जन्म दिया है। इसी उत्साह और साहस के सहारे ही राष्ट्र आगे बढ़ा करते हैं।

नीचे हम इस नियोजन-क्रम की दूसरी कड़ी–द्वितीय पंच वर्षीय योजना–का अध्ययन करते हैं।

द्वितीय पंच वर्षीय योजना
(Second Five Year Plan)

प्राक्कथन

द्वितीय पंच वर्षीय योजना भारत के योजना बद्ध आर्थिक विकास के क्रम में दूसरा कदम है। इस योजना का कार्यकाल अप्रेल, १९५६ से मार्च, १९६१ तक के पाँच वर्ष हैं। प्रथम योजना की सफलता की पृष्ठभूमि में बनाई गई यह (द्वितीय) योजना प्रथम योजना की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वाकांक्षी (Ambitious) है। यह इसके नीचे दिये गये विवरण से स्पष्ट हो जायेगा।

योजना के मुख्य उद्देश्य

देश की सरकार व जनता देश में "समाजवादी ढङ्ग के समाज" ("Socialistic Pattern of Society") की स्थापना का उद्देश्य अपना चुकी है। अतः सरकार के सभी प्रयत्न इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये जायेंगे। द्वितीय योजना के निम्नलिखित चार मुख्य उद्देश्य भी इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर बनाये गये हैं—(अ) राष्ट्रीय आय में अच्छी बड़ी (२५%) वृद्धि ताकि देश में लोगों का रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो सके; (आ) आधारभूत और भारी उद्योगों के विकास पर विशेष रूप से जोर देते हुए देश का तेजी से औद्योगिकरण; (इ) रोजगार-अवसरों का बड़ा प्रसार, और (ई) आय और धन की विषमताओं को कम करना, तथा आर्थिक शक्ति का पहले से अधिक सन्तुलित वितरण।

ये चारो उद्देश्य परस्पर सम्बद्ध हैं। राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि और लोगों के रहन-सहन के स्तर में काफी उन्नति, उत्पादन और विनियोग में बड़ी वृद्धि के बिना संभव नहीं हैं; और इनके लिये देश का तेजी से औद्योगीकरण तथा विशेष रूप से आधारभूत व भारी उद्योगों का विकास अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि रोजगार-अवसर का अधिकतम प्रसार हो ताकि देश में बेरोजगारी और अर्ध-बेरोजगारी की समस्या का अन्त हो। तेजी से औद्योगीकरण, विशेषतया कुटीर व छोटे स्तर के उद्योग-धन्धों का विकास इस दिशा में विशेष रूप से सहायक होगा। इसी से तथा अन्य आवश्यक उपायों के अपनाने से यह भी संभव होगा कि देश में आय व धन के वितरण में असमानता पहले से कम हो।

योजना में कुल व्यय और उसका वितरण

द्वितीय पंच वर्षीय योजना की अवधि में केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा विकासार्थ कुल व्यय ४८०० करोड़ रु० होगा। इसका विकास के मुख्य मदों

वितरण नीचे की तालिका में दिया गया है। साथ ही, तुलना के लिये प्रथम पंच वर्षीय योजना के आंकडे भी दिये गये हैं।

पहली और दूसरी योजनाओं में व्यय का वितरण

(करोड रु० में)

विकास की मदें	प्रथम योजना वास्तविकव्यय	प्रथम योजना कुल का %	दूसरी योजना प्रस्तावितव्यय	दूसरी योजना कुल का %
१. कृषि तथा सामुदायिक विकास	२६६	१४.८	५६८	११.८
२. सिंचाई तथा बिजली	५८९	२९.१	९१३	१९.०
३. उद्योग तथा खानें	१००	५.०	८९०	१८.५
४. परिवहन तथा सचार	५३२	२६.४	१३८५	२८.९
५. समाज सेवायें	४२३	२१.०	९४५	१९.७
६. विविध	७४	३.७	९९	२.१
योग	२,०१३	१००.०	४८००	१००.०

४८०० करोड रु० के इस प्रस्तावित व्यय मे से २,५५९ करोड रु० केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा २,२४१ करोड रु० सभी राज्य सरकारो द्वारा विकासार्थ व्यय किये जायेंगे। ४८०० करोड रु० के इस विकासार्थ व्यय मे से लगभग ३८०० करोड रु० विनियोग पर अर्थात् उत्पादक सम्पत्ति के निर्माण पर व्यय किये जायेंगे, और शेष १००० करोड़ रु० का चालू व्यय (Current Outlay) होगा।

सार्वजनिक क्षेत्र मे ३८०० करोड रु० के इस विनियोग-व्यय (Investment Outlay) के अतिरिक्त निजी क्षेत्र (Private Sector) मे निजी साहसियो द्वारा भी विनियोग किया जायेगा। अनुमान है कि योजना के ५ वर्षों मे निजी क्षेत्र मे लगभग २४०० करोड रु० का विनियोग होगा, जो विभिन्न क्षेत्रो मे संभवतः इस प्रकार होगा—

मद	विनियोग (करोड रु०)
१. संगठित उद्योग व खनिज	५७५
२. उद्यान (Plantations), विद्युत-उपक्रम (Electricity undertakings) एवं रेलो के अतिरिक्त परिवहन	१२५
३. निर्माण (Construction)	१,०००
४. कृषि तथा कुटीर व छोटे स्तर के उद्योग	३००
५. संग्रह (Stocks)	४००
योग=	२,४००

इस प्रकार द्वितीय पंच वर्षीय योजना काल मे कुल विनियोग-व्यय ६,२०० करोड़ रु० (३८०० करोड रु० सार्वजनिक क्षेत्र + २४०० करोड रु० निजी क्षेत्र) होने की सभावना है। योजना मे उत्पादन व विकास के जो लक्ष्य रखे गये हैं, वे इन दोनों क्षेत्रों के कुल विनियोग-व्यय के आधार पर रखे गये हैं। [प्रथम पच वर्षीय योजना काल मे इस प्रकार का कुल विनियोग-व्यय इस अनुमानित व्यय (६,२०० करोड रु०) का आधा अर्थात् लगभग ३१०० करोड़ रु० होगा। इसमे से सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र का योग ५० : ५० के अनुपात मे रहा होगा, जबकि द्वितीय योजना काल मे यह बदल कर ६१ : ३९ हो जाने की सभावना है।]

योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास

व्यय:—द्वितीय पच वर्षीय योजना काल मे कृषि तथा सामुदायिक विकास पर कुल ५६८ करोड रु० (कुल व्यय का ११'८%) व्यय किया जायेगा। इसमे से ३४१ करोड रु० कृषि पर, २०० करोड रु० सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार योजनाओ पर तथा शेष २७ करोड़ रु० अन्य कार्यक्रमो पर व्यय किया जायेगा।

कृषि—प्रथम पच वर्षीय योजना ने पहले से ही कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने का क्रम प्रारम्भ कर दिया है। इस योजना की अवधि मे खाद्यान्न की उपज मे ११० लाख टन की अर्थात २०% की वृद्धि हुई है, तथा अन्य सभी प्रकार की कृषि-उपज मे १५% की वृद्धि हुई है। द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे अनुमान है कि कृषि उपज मे लगभग १८% की वृद्धि होगी। विभिन्न कृषि-उपजो की उत्पादन-वृद्धि के लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

	१९५५–५६	१९६०–६१	(३) की (२) पर प्रतिशत वृद्धि
(१)	(२)	(३)	(४)
खाद्यान्न ···(लाख टन)	६५०	७५०	१५
कपास··· (लाख गाठें)	४२	५५	३१
गन्ना-गुड़···(लाख टन)	५८	७१	२२
तिलहन···(लाख टन)	५५	७०	२७
पटसन···(लाख गाठें)	४०	५०	२५

कृषि-उपज मे वृद्धि के इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये उन्ही जानी-पहचानी विधियो को अपनाया जायेगा अर्थात् सिंचाई-सुविधाओ, उर्वरतावर्द्धकों, अच्छे बीजो व खेती की उन्नत विधियो के प्रयोग को बढाया जायेगा। इस सम्बन्ध मे अनुमान है कि योजनाकाल मे २१० लाख एकड अतिरिक्त कृषि-भूमि पर सिंचाई का प्रबन्ध किया जा सकेगा ; नाईट्रोजन वाले उर्वरतावर्द्धकों (Nitrogenous Fertilisers) का उपभोग १९५५ मे ६ लाख टन था। १९६० मे यह बढ़कर १८ लाख टन हो जायेगा, लगभग ६३,००० एकड के क्षेत्र मे फैले हुए ३,००० बीजवर्धक खेत (Seed Multiplication Farms) स्थापित किये जायेंगे ; और ३५ लाख एकड़

नई भूमि को खेती के अन्तर्गत लाया जायेगा और उस पर भूमि-सुधार किये जायेंगे। इन बातों के अतिरिक्त, इस योजनाकाल में भूमि-सम्बन्धी समस्याओं की ओर इस दृष्टि से अधिक ध्यान दिया जायेगा कि भूमि का प्रयोग व प्रबन्ध अधिक कार्यकुशल विधि से हो और भूमि पर आश्रित लोगों को अधिक सामाजिक न्याय मिले।

द्वितीय योजनाकाल में कृषि-उपज में पहले से अधिक विभिन्नता (Diversification) लाने का भी प्रयत्न किया जायेगा। इस दृष्टि से योजना में फलों व सब्जियों की खेती को प्रोत्साहित करने के लिये ८ करोड़ रु० की, और पशु-पालन व मछली-स्थानों के विकास के लिये क्रमशः ५६ करोड़ रु० व १२ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। द्वितीय योजनाकाल में पशुओं की नस्ल को सुधारने के लिये १२५८ आधार ग्राम (Key Villages) व २४५ कृत्रिम गर्भाधानकेन्द्र (Artificatial Insemination Centres) और पशु-चिकित्सा के लिये १६०० पशु-औषधालय स्थापित किये जायेंगे। वनों के विकास पर ४७ करोड़ रु० व्यय किये जायेंगे।

सहकारिता—द्वितीय योजना में सहकारिता, विपणन (Marketing), और भण्डारों (Warehouses) के लिये ४७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। सहकारिता के सिद्धान्त को कृषि के विभिन्न क्षेत्रों में अधिकाधिक लागू करने का प्रयत्न किया जायेगा। देश में १०,४०० बड़े आकार की साख समितियां स्थापित की जायेंगी। सहकारी साख की व्यवस्था के लक्ष्य इस प्रकार हैं: अल्पकालीन साख—१५० करोड़ रुपये, मध्यकालीन साख—५० करोड़ रुपये; और दीर्घकालीन साख—२५ करोड़ रुपये। १८०० प्राथमिक विपणन समितियां सगठित की जायेंगी। अनुमान है कि द्वितीय योजना के अन्त तक सहकारी समितियों द्वारा विक्रययोग्य आधिक्य (Merketable Surplus) का लगभग १०% भाग बेचा जायेगा। देश में भण्डारों का एक जाल-सा बिछाने का काम तेजी से किया जायेगा, और कुल छोटे-बड़े ५,८५० भण्डार बनाये जायेंगे।

सामुदायिक विकास—ग्राम-सुधार व कृषि-विकास के लिए सामुदायिक विकास व राष्ट्रीय प्रसार योजनाओं का बड़ा महत्त्व है। प्रथम पंच-वर्षीय योजनाकाल में देश की लगभग १/४ जनसंख्या तक इन योजनाओं को पहुंचाया जा चुका है। द्वितीय योजना के अन्त तक सम्पूर्ण देश में इन योजनाओं को पहुंचा दिया जायेगा। इसके लिए योजना में २०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है।

ग्राम्य जीवन में ग्राम पंचायतों का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्वितीय योजना में इनके विकास पर १२ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। इसमें १,१७,००० ग्राम पंचायतों के स्थान पर योजना के अन्त में इन की संख्या बढ़ कर २,४५,००० हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, जिन भागों में अभी राष्ट्रीय प्रसार सेवा नहीं पहुंची है, वहां स्थानीय विकास कार्यों के लिए योजना में १५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है।

सिंचाई तथा बिजली (Irrigation & Power):—द्वितीय योजना में सिंचाई, शक्ति और बाढ़-नियन्त्रण पर कुल ९१३ करोड़ रुपए (कुल व्यय का १९ प्रतिशत) व्यय किए जायेंगे। इसमे से सिंचाई पर ३८१ करोड़ रु० व्यय होंगे। प्रथम पंच-वर्षीय योजना मे सिंचित भूमि का क्षेत्र ५१८ लाख एकड़ से बढ़कर ६७० लाख एकड़ हो गया था। आशा है कि द्वितीय योजना के अन्त तक २१० लाख एकड़ और भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाया जा सकेगा। इस २१० लाख एकड़ भूमि मे से १२० लाख एकड़ भूमि बड़े और मध्य आकार के सिंचाई-कार्यों द्वारा सींची जायेगी और शेष ९० लाख एकड़ भूमि छोटे सिंचाई कार्यों द्वारा सींची जाएगी। पहली प्रकार के सिंचाई-कार्यों से सींची जाने वाली १२० लाख एकड़ भूमि मे से ९० लाख एकड़ भूमि तो प्रथम योजना मे आरम्भ की गई सिंचाई योजनाओं के पूरा होने से सींची जाएगी, और शेष ३० लाख एकड़ भूमि द्वितीय योजन मे प्रारम्भ की जाने वाली सिंचाई योजनाओं की सहायता से सींची जाएगी। तथापि, इन योजनाओं के पूरा होने पर लगभग १५० लाख एकड़ भूमि को सींचा जा सकेगा। द्वितीय योजना मे मध्य आकार की सिंचाई योजनाओं पर अधिक जोर डाला गया है। फलस्वरूप प्रथम योजना मे जहा ३० करोड़ रु० से अधिक की लागत की ७ योजनायें शामिल की गई थी, वहां द्वितीय योजना मे ऐसी एक भी योजना शामिल नही की गई है। द्वितीय योजना मे कुल १९५ नई सिंचाई योजना शामिल की गई हैं।* इनमे से १० की लागत १० और ३० करोड़ रु० के बीच, होगी, ४२ की लागत १ और १० करोड़ रु० के बीच और शेष १४३ की लागत १ प्रति योजना १ करोड़ रु० से नीची होगी।*

छोटे सिंचाई-कार्यों मे से २० करोड़ रु० की लागत पर बनाये जाने वाले ३,५८१ नलकूपो की योजना विशेष रुप से उल्लेखनीय है। इनसे लगभग ९ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

बिजली—द्वितीय योजना मे देश के औद्योगीकरण पर काफी जोर दिया गया है। अतः इसके लिए विद्युत शक्ति के उत्पादन को तेजी से बढाना अत्यन्त आवश्यक है। द्वितीय योजना मे इसके लिए ४२७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है, जिससे योजनाकाल मे विद्युत-शक्ति की प्रस्थापित क्षमता (Installed Capacity) को ३५ लाख किलोवाट से (१०० प्रतिशत से कुछ अधिक से) बढाया जा सकेगा। इससे द्वितीय योजना के अन्त तक १० हजार अथवा अधिक की जनसख्या वाले सभी कस्बो और ५ हजार से १० हजार तक की जनसंख्या वाले ८५ प्रतिशत कस्बो मे बिजली पहुंचा दी जायेगी। ५ हजार से कम जनसंख्या वाले छोटे कस्बों व गावो मे बिजली धीरे-धीरे ही पहुच पायेगी, क्योंकि इसपर बड़ा खर्चा करने की आवश्यकता है। तथापि, इस कार्य के लिए भी द्वितीय योजना मे ७५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है।

देश में बिजली-उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता का अधिकांश भाग सार्वजनिक क्षेत्र मे उत्पन्न किया जाएगा। इसके फलस्वरूप द्वितीय योजना के अन्त

*Second five Year Plan, p. 327.

तक इस क्षेत्र मे सार्वजनिक क्षेत्र का भाग २१ प्रतिशत से बढकर ६७ प्रतिशत हो जाएगा।

बाढ़ नियन्त्रण तथा अन्य योजनाओ पर व्यय के लिए द्वितीय योजना मे १०५ करोड रु० की व्यवस्था की गई है।

उद्योग तथा खनिकर्म (Industries & Mining),—

द्वितीय योजना की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमे प्रथम योजना की तुलना मे औद्योगिक तथा खनिज विकास पर अधिक जोर दिया गया है और कि इस औद्योगिक तथा खनिज विकास मे सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व दिया गया है। द्वितीय योजना मे उद्योगो तथा खनिकर्म के लिये ८९० करोड रु० (कुल व्यय का १८.५%) की व्यवस्था की गई है, जबकि प्रथम योजना मे इस मद के लिये केवल १७६ करोड रु० (कुल व्यय का केवल ७.६%) की व्यवस्था की गई थी। प्रथम योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे बडे स्तर के उद्योगो की स्थापना के लिये कुल ६४ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी, जबकि निजी क्षेत्र मे लगभग २३३ करोड रु० के नये विनियोग होने की आशा थी। द्वितीय योजना मे बडे स्तर के उद्योगो तथा खनिकर्म (वैज्ञानिक खोज सहित) के लिये सार्वजनिक क्षेत्र मे ६९० करोड रु० की व्यवस्था की गई है, जबकि निजी क्षेत्र मे इस मद पर ५७५ करोड रु० के नये विनियोग होने का अनुमान है। इस प्रकार यद्यपि देश के औद्योगीकरण मे निजी क्षेत्र महत्वपूर्ण योग देगा, तथापि इस मे सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व बढता जा रहा है।

बडे स्तर के उद्योगों तथा खनिकर्म पर ६९० करोड रु० का लगभग सभी प्रस्तावित व्यय आधारभूत व भारी उद्योगो जैसे लोहा व इस्पात कोयला, उर्वरता-वर्द्धक (Fertilizers), भारी इन्जीनियरिंग, तथा भारी विद्युत उपकरण (Heavy Elec rical Equipment) के विकास के लिये है। द्वितीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे रूरकेला (उडीसा मे), भिलाई (मध्य प्रदेश मे), और दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल मे) मे कुल ३४३ करोड रु० की लागत पर दस दस लाख इस्पात इन्गोट (Steel Ingots) की क्षमता के तीन लोहे व स्पात के कारखाने लगाये जायेगे। द्वितीय योजना के अन्त तक इन तीनो कारखानो से तैयार स्पात की कुल उपज लगभग २० लाख टन होगी। इसके अतिरिक्त इन तीनो मे से एक कारखाने मे बिक्री के लिये ३.५ लाख टन ढला हुआ लोहा (Pig Iron) भी उत्पन्न किया जायगा। इसके अतिरिक्त इस लोहे और स्पात के आधारभूत उद्योग मे निजी क्षेत्र मे भी कुल ११५ करोड रु० के विनियोग किये जायेगे, जिससे निजी क्षेत्र के तीनो कारखानो—टाटा का लोहे व स्पात का कारखाना, भारतीय लोहा व स्पात कम्पनी और मैसूर लोहा व स्पात वर्क्स—की उत्पादन क्षमता का विस्तार किया जायेगा। १९६०-६१ मे इन कारखानो से २३ लाख टन तैयार स्पात उत्पन्न होने का अनुमान है। इसी प्रकार देश मे भारी इन्जीनियरिंग उद्योगो, भारी रसायन उद्योग,

आदि भारी उद्योगों का पर्याप्त विकास किया जायेगा। सूती कपड़े, पटसन, चीनी, कागज, सीमेंट, खेती, आदि की मशीनों, और भारी विद्युत उपकरणों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की जायेगी। उर्वरकों (Fertilisers) की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये सिंदरी में स्थित कारखाने का विस्तार किया जायेगा तथा नांगल व रूरकेला में दो नये उर्वरक-कारखाने स्थापित किये जायेंगे। विशाखापत्तनम में तीसरा पेट्रोलियम साफ करने का (Oil Refinery) स्थापित किया जायेगा। सीमेंट का उत्पादन ४३ लाख टन से बढ़ा कर योजना के अन्त तक १३० लाख टन कर दिया जायेगा, जबकि सीमेंट उद्योग की उत्पादन-क्षमता १६० लाख टन होगी। कोयले की उत्पत्ति को ३८० लाख टन से बढ़ा कर १९६०-६१ में ६०० लाख टन कर दिया जायेगा। अनुमान है कि विभिन्न खनिज पदार्थों की उत्पत्ति में द्वितीय योजनाकाल में लगभग ५८% की वृद्धि होगी।

इसी प्रकार उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि के लक्ष्य निश्चित किये गये हैं। उदाहरणार्थ, सूती कपड़े की उत्पत्ति १९५५-५६ में ३८५ करोड़ गज से बढ़ कर १९६०-६१ में ८५० करोड़ गज (२४% वृद्धि) हो जायेगी, जिससे 100 करोड़ गज कपड़ा प्रति वर्ष निर्यात करने पर भी प्रति व्यक्ति १८ गज कपड़ा प्रति वर्ष उपलब्ध होगा, चीनी की उत्पत्ति में २५%, कागज व गत्ते की उत्पत्ति में ७५%, साइकलों की उत्पत्ति में ८०%, कपड़ा सीने की मशीनों की उत्पत्ति में १००%, और बिजली के पंखों की उत्पत्ति में ११८% वृद्धि की जायेगी। इसी प्रकार दवाइयों, वनस्पति घी, तथा अन्य उपभोग-वस्तुओं की उत्पत्ति को भी बढ़ाया जायेगा। अनुमान है कि द्वितीय योजनाकाल में कारखानों की शुद्ध उत्पत्ति में लगभग ६४% वृद्धि होगी, जबकि पूंजी वस्तुओं के उद्योगों के उत्पादन में १५०% की वृद्धि होगी। इस से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय योजना ने पूंजी वस्तुओं के उद्योगों के विकास को बहुत महत्व प्रदान किया गया है।

द्वितीय योजना में कुटीर व छोटे स्तर के उद्योग धन्धों के महत्व को भी भुलाया नहीं गया है, और इनके विकास के लिये २०० करोड़ रु० की ही व्यवस्था की गई है। प्रथम योजना में इनके विकास के लिये कुल ३० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी। द्वितीय योजना के इस २०० करोड़ रु० में से ५९.५ करोड़ रु० करघा उद्योग, ५५ करोड़ रु० छोटे स्तर के उद्योगों, ५५.५ करोड़ रु० खादी एवं अन्य ग्राम उद्योगों तथा शेष अन्य उद्योगों पर व्यय किया जायेगा।

परिवहन तथा संचार (Transport & Communications)

देश के आर्थिक विकास में परिवहन तथा संचार के साधनों का कितना महत्व है यह इसी बात से स्पष्ट हो जायेगा कि प्रथम योजना में जहां इस मद पर ५५७ करोड़ रु० (कुल व्यय का २३.६%) के व्यय की व्यवस्था की गई थी, वहां द्वितीय योजना में भी इस मद पर १,३८५ करोड़ रु० की भारी रकम (अर्थात कुल

व्यय का लगभग २६%) व्यय की जायेगी। इसमे से अकेले ६०० करोड रु० रेलों पर व्यय किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त रेलें भी योजनाकाल मे २२५ करोड रु० सामान्य पुनस्स्थापन ((Normal Replacement) पर व्यय किये जायेंगे। इतने पर भी यह भय है कि शायद रेलें सभी अतिरिक्त माल यातायात (Goods Traffic) का भार पूरी तरह से नही उठा पायेंगी, क्योंकि अनुमान है कि योजना मे औद्योगिक एव खनिज विकास तथा अन्य विकास कार्यक्रमो के फलस्वरूप माल यातायात मे लगभग ५०% की वृद्धि हो जायेगी।

द्वितीय योजना मे सडकों तथा सडक यातायात के लिये २६३ करोड रु० जहाजरानी (Shipping), बन्दरगाहो व आन्तरिक जल-परिवहन के विकास के लिये ९९ करोड रु०, नागरिक वायु यातायात के लिये ४३ करोड रु० और आकाश वाणी, डाक व तार तथा अन्य सचार-साधनो के विकास के लिये ७६ करोड रु० की व्यवस्था की गई है। अत अन्य बातो के विकास के साथ-साथ द्वितीय योजनाकाल मे देश मे २० हजार नये डाकखानो की स्थापना की जायेगी, और ग्रामीण क्षेत्रो मे ७२ हजार सामुदायिक रेडियो (Community Receivers) लगाये जायेंगे।

समाज सेवायें (Social Services)

देश मे सभी लोगो के लिये अवसरो की अधिक समानता उत्पन्न करना समाजवादी ढग के समाज का एक आवश्यक अंग है, और इसके लिये शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाओ का विकास करना तथा औद्योगिक श्रम, विस्थापित लोगो एव अन्य पिछडे वर्गो की दशाओ को सुधारना आवश्यक है। अत द्वितीय योजना मे समाज सेवाओ के लिये ९४५ करोड रु० (कुल व्यय का लगभग २० प्रतिशत)—प्रथम योजना मे इस मद की व्यवस्था से लगभग दुगुनी रकम—की व्यवस्था की गई है। इसमे ३०७ करोड रु० शिक्षा के प्रसार पर व्यय किये जायेंगे। भारतीय सविधान के सचालक सिद्धान्तो (Directive Principles) मे से एक यह है कि १९६०-६१ तक देश मे १४ वर्ष तक की आयु के सभी बच्चो के लिये नि शुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। परन्तु योजना के लक्ष्यो के अनुसार १९६०-६१ तक ६ से ११ वर्ष तक की आयु के केवल ६३ प्रतिशत बच्चो और ११ से १४ वर्ष तक की आयु के २२.५ प्रतिशत बच्चो के लिये ही ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सकेगा। तथापि, द्वितीय योजनाकाल मे ५३ हजार नये प्राथमिक स्कूल खोले जायेंगे, जिनमे ७६ लाख बच्चों को शिक्षा प्राप्त होगी, और ३५९० नये मिडल स्कूल खोले जायेंगे, जिनमे १३ लाख बच्चो को शिक्षा प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार माध्यमिक स्तर पर सामान्य स्कूलो व बहुधंधी स्कूलो (Multi-purpose Schools) की सख्या बढाई जायेगी, और साथ ही अध्यापको की शिक्षा, विश्वविद्यालय की शिक्षा तथा प्राविधिक (Technical) शिक्षा, आदि की सुविधाओ का भी प्रसार किया जायेगा।

स्वास्थ्यः—स्वास्थ्य के लिये योजना मे २७४ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इससे योजनाकाल में डाक्टरों, नर्सों और स्वास्थ्य सहायकों (Health Assistants) की संख्या मे क्रमश: १८ प्रतिशत, ४१ प्रतिशत व ७५ प्रतिशत वृद्धि की जायेगी, हस्पतालो मे (Beds) की संख्या में २४ प्रतिशत वृद्धि की जायेगी। परिवार नियोजन के लिये योजना मे ४ करोड़ रु० की अलग से व्यवस्था की गई है।

शिक्षा और स्वास्थ्य के अतिरिक्त द्वितीय योजना मे अन्य समाज सेवाओं के लिये निम्नलिखित व्यवस्था की गई है—

	करोड रु०
गृह-निर्माण (Housing)	१२०
पिछड़ी जातियो का कल्याण	९१
विस्थापितों का पुनस्स्थापन	९०
समाज कल्याण	२९
श्रम व श्रम-कल्याण	२९
शिक्षित बेकारो से सम्बन्धित विशिष्ट योजनायें	५

योजना और रोजगार (Plan & Employment)—द्वितीय योजना को रोजगार की दृष्टि से निर्मित योजना (Employment-Oriented Plan) कहा गया है, क्योंकि इस योजना को बनाते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि देश के द्रुतगति से आर्थिक विकास के साथ-साथ अर्थ-व्यवस्था में अधिक से अधिक रोजगार-अवसर उत्पन्न किये जायं। इसीलिये 'रोजगार-अवसरों मे पर्याप्त वृद्धि' योजना के चार मुख्य उद्देश्यों मे से एक उद्देश्य के रूप मे स्पष्ट रूप से रखा भी गया है। और यह है भी आवश्यक, क्योंकि भारत मे बेरोजगारी, और विशेषतः शिक्षित लोगों की बेरोजगारी, जिसे कि अकाल का आधुनिक रूप कहा जा सकता है, बढ़ती जा रही है। एक कल्याण राज्य मे इस भयानक रोग को शीघ्रातिशीघ्र पूर्णत: समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु खेद की बात है कि अकेले सार्वजनिक क्षेत्र मे ३८०० करोड रु० के विनियोग व्यय के पश्चात भी द्वितीय योजना के अन्त मे देश मे बेरोजगारी की वही दशा होगी, जो योजना के आरम्भ मे थी। योजना आयोग के अनुसार, भारत जैसे अर्ध-विकसित देश मे, 'पूर्ण रोजगार' की दशा उत्पन्न करने का कार्य दीर्घकाल का कार्य है, जो कि दीर्घकाल तक देश का गहन विकास (Intensive Development) करने पर ही सम्पन्न किया जा सकता है। अत. "अगले पाच वर्षो के लिये कार्यक्रम निश्चित करने में मुख्य उद्देश्य (Consideration) यह सामने रखा गया है कि कम से कम बेरोजगारी की दशा को खराब होने से रोका जा सके।"*

*Second five year Plan, pp. 109,

वैसे यह ठीक है कि भारत मे बेरोजगारी की समस्या बडी जटिल तथा बड़े आकार की है, और इसके कई एक रूप हैं। एक तो देश मे पहले से ही बडी सख्या मे बेरोजगार लोग है। दूसरे, जनसख्या के बढने के कारण, अनुमान है कि आगामी ५ वर्षो मे लगभग २० लाख नये व्यक्ति प्रतिवर्ष काम की खोज मे श्रम-बाजार मे दाखिल होते रहेगे। तीसरे, अर्ध-रोजगार (Underemployment) की समस्या है—शहरो और गावो मे खेती व घरेलू व्यवसायो मे अर्ध-रोजगार प्राप्त (Underemployed) लोगो को अधिक काम मिलना चाहिये। फिर, बेरोजगारी की समस्या को केवल इस दृष्टिकोण से ही नही देखना है कि देश मे कुल बेरोजगारो की कितनी सख्या है, परन्तु इस समस्या को सफलतापूर्वक हल करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि इनमे से (i) कितने बेरोजगार लोग शहरी है, और कितने ग्रामीण, (ii) कितने शिक्षित और कितने अशिक्षित, तथा (iii) देश के विभिन्न क्षेत्रो मे बेरोजगारी का वितरण किस प्रकार है।

योजना आयोग के अनुसार, देश मे बेरोजगारी को पूर्णत दूर करने के लिये १९५६-६१ के बीच निम्नलिखित तालिका मे दिये गये रोजगार-अवसर उत्पन्न करने पड़ेगे:—

(लाखो मे)

	शहरी क्षेत्रो मे	ग्रामीण क्षेत्रो मे	योग
पहले से ही बेरोजगारो के लिये	२५	२८	५३
रोजगार की तलाश मे आने वाले नये लोगो के लिये	३८	६२	१००
योग	६३	९०	१५३

इनके अतिरिक्त खेती मे और शहरो व गाँवों में घरेलू व्यवसायो मे अर्ध-रोजगार प्राप्त लोगों को पूरा काम दिलाना आवश्यक है।

द्वितीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे ४८०० करोड रु० मे से जो ३८०० करोड रु० विनियोग पर व्यय किया जायेगा और निजी क्षेत्र मे विनियोग पर जो लगभग २४०० करोड रु० व्यय होगा, उस सब से अनुमान है कि देश मे ५ वर्षों मे लगभग ८० लाख लोगो के लिये काम उत्पन्न हो जायेगा।*

*अनुमानित अतिरिक्त रोजगार

	(लाखो मे)
(१) निर्माण (Construction)	२१·००
(२) सिचाई व बिजली	०·५१
(३) रेलें	२·५३
(४) अन्य परिवहन व संचार	१·८०
(५) उद्योग व खनिकर्म	७·५०

शेष अगले पृष्ठ पर

ये ८० लाख रोजगार-अवसर तो खेती से अन्य कार्य-क्षेत्रों में उत्पन्न होंगे। इनके अतिरिक्त, अनुमान है कि ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग १६ लाख नये श्रमिकों को खेती में खेती के विकास से सम्बन्धित योजनाओं जैसे हाथों से काम करके भूमि को तोड़ कर खेती के अन्तर्गत लाना, केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था की योजनायें, इत्यादि व उद्यानों, फल-उत्पादन का विकास, आदि में काम मिल पायेगा। इसके अतिरिक्त, भूमि पर सिंचाई सुविधाओं के बढ़ने से, ऐसी भूमियों पर आश्रित लोगों को अर्ध-रोजगार के स्थान पर पूर्ण समय के लिये काम मिलेगा। इसी प्रकार ग्रामीण व छोटे स्तर के उद्योगों के विकास कार्यक्रम के द्वारा भी ऐसे उद्योगों में काम करने वाले बहुत से लोगों को पूर्ण समय के लिये काम मिलने लगेगा।

इसके अतिरिक्त योजना में गहन बेरोजगारी व अर्ध-बेरोजगारी के विशिष्ट क्षेत्रों की ओर अधिक ध्यान देने की ओर भी ध्यान दिलाया गया है।

शिक्षित बेरोजगारी (Educated Unemployed)—शिक्षित लोगों में बेरोजगारी वैसे तो देश में सामान्य बेरोजगारी का ही एक भाग है। परन्तु इसका अलग से अध्ययन इसलिये महत्वपूर्ण है, क्योंकि शिक्षित लोगों के लिए उनकी शिक्षा के अनुसार विशिष्ट प्रकार का व उचित रोजगार उत्पन्न करना आवश्यक है। (साथ ही, अशिक्षित लोगों की बेरोजगारी की तुलना में शिक्षित लोगों की बेरोजगारी देश के मानवीय साधनों के अधिक अपव्यय की सूचक है।) इसीलिये सितम्बर, १९५५ में योजना आयोग ने शिक्षित बेरोजगारी की समस्या का अध्ययन करने के लिए अलग से अध्ययन-समिति (Study Group) की नियुक्ति की थी। इस समिति (Group) ने मैट्रिक पास व इससे ऊंची शिक्षा प्राप्त लोगों को ही शिक्षित माना है। इसका अनुमान है कि द्वितीय योजनाकाल में लगभग १४.५ लाख नए शिक्षित व्यक्ति काम की खोज में श्रम-बाजार में आयेंगे। इसके अतिरिक्त, लगभग ५.५ लाख शिक्षित व्यक्ति पहले से ही बेरोजगार होंगे। इस प्रकार शिक्षितों में बेरोजगारी को

(६) कुटीर व छोटे स्तर के उद्योग	४.५०
(७) वन, मछली पकड़ना, राष्ट्रीय प्रसार सेवायें तथा अन्य सम्बन्धित योजनायें	४.१३
(८) शिक्षा	३.१०
(९) स्वास्थ्य	१.१६
(१०) अन्य समाज सेवायें	१.४२
(११) सरकारी नौकरियां	४.३४
योग (१ से ११ तक)	५१.९६
(१२) कुल का ५२ प्रतिशत के हिसाब से वाणिज्य व व्यापार समेत अन्य	२७.०८
योग	७९.०३
	अथवा लगभग ८०

पूर्णत समाप्त करने के लिए द्वितीय योजनाकाल में लगभग २० लाख शिक्षितों के लिए नया काम उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

इस समिति (Group) का आगे अनुमान है कि द्वितीय पच वर्षीय योजना मे शामिल की गई केन्द्रीय व राज्य सरकारो की योजनाओ मे लगभग १० लाख शिक्षितो को काम मिल जाएगा। इसके अतिरिक्त, पाच वर्षो मे रिटायर होने वाले लोगो की स्थान-पूर्ति मे २·४ लाख शिक्षितो को, और निजी क्षेत्र मे लगभग २ लाख शिक्षितो को काम मिल पाएगा। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्त मे शिक्षित बेरोजगारो की सख्या भी लगभग उतनी ही होगी जितनी कि द्वितीय योजना के आरम्भ मे थी इसके अतिरिक्त, समिति (Group) ने समस्या के क्षेत्रीय (Regional) व पेशेवार (Occupational) पहलुओ को विशेष रूप से ध्यान मे रखने पर जोर दिया है।

इस पृष्ठभूमि मे, समिति (Group) ने शिक्षित लोगो की बेरोजगारी को कम करने के लिए यह सुझाव रखा है कि उन्हे (i) छोटे स्तर के उद्योगो व (ii) सहकारी माल परिवहन (Co-operative Goods Transport) के क्षेत्र मे विशेष रूप से काम दिलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समिति (Group) ने यह सुझाव रखा है कि देश के विभिन्न भागो मे शिक्षित बेरोजगारो के लिए ओरियन्टेशन कैम्प (Orientation Camps) सगठित किए जाने चाहिये, जहा उन्हे ६ महीने रख कर हाथ के काम की ओर उनका लगाव बढाया जाना चाहिए, और किसी काम की प्रशिक्षा दी जानी चाहिए। फिर, वहा से उपयुक्त लोगो को उनके झुकाव के अनुसार काम पर लगाना चाहिए।

समिति (Group) द्वारा बताई गई इस प्रकार की योजनाओ पर कुल १३० करोड रुपये के खर्चे पर २·३५ लाख शिक्षितो के लिए काम उत्पन्न किया जा सकता है। फिलहाल योजना आयोग ने योजना मे प्रयोग के रूप मे केवल ऐसी ५ करोड रुपये की लागत की योजनाओ को शामिल किया है। यदि ये सफल रही, तो बाद मे इस प्रकार की और योजनाओ को अपनाया जायेगा।

ये सब तो अल्पकालीन उपाय हैं। शिक्षित बेरोजगारो के दीर्घकालीन उपायो के रूप में यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणाली व शिक्षा-सुविधाओ मे इस प्रकार विकास किया जाय कि विभिन्न प्रकार की शिक्षा-प्राप्त लोगो की श्रम-बाजार मे पूर्ति व माग मे उचित साम्य हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत किए जाने वाले सभी प्रयत्नो के सफल हो जाने पर भी योजना के अन्त मे देश मे बेरोजगारी की दशा वही होगी जो योजना के आरम्भ मे थी—केवल इस योजनाकाल मे श्रम-बाजार मे आने वाले नए व्यक्तियो के लिए ही अतिरिक्त रोजगार-अवसर उत्पन्न किए जा सकेंगे।

योजना की वित्त व्यवस्था (Financing of the Plan)

किसी भी योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसके लिए

आवश्यक मात्रा में वित्तीय साधनो को प्राप्त किया जा सके। ऊपर हम बतला आए हैं कि दूसरी योजना मे सार्वजनकि क्षेत्र में कुल ४८०० करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। योजना मे इस रकम को विभिन्न वित्तीय स्रोतों से प्राप्त करने का निम्नलिखित कार्यक्रम रखा गया है—

वित्त के स्रोत	करोड़ रु०
(१) चालू आय मे से बचत :	
(क) करो की १९५५–५६ की दरो के आधार पर	३५०
(ख) कर-वृद्धि के द्वारा	४५०
	८००
(२) जनता से ऋण :	
(क) बाजार ऋण (Market Loans)	७००
(ख) छोटी बचतें	५००
	१२००
(३) बजट के अन्य साधनो से :	
(क) रेलो का अंशदान	१५०
(ख) भविष्य निधि तथा अन्य जमा खाते	२५०
	४००
(४) विदेशो से	८००
(५) घाटे के बजट बना कर	१२००
(६) कमी, जो स्वदेश मे ही नये साधनो द्वारा पूरी करनी होगी	४००
सर्व योग	४८००

केन्द्र और राज्यो की सरकारें मिल कर करों, ऋणों और अन्य साधनों द्वारा २,४०० करोड रुपये एकत्र कर पायेगी। १,२०० करोड़ रुपये की अतिरिक्त राशि घाटे के बजट बनाकर एकत्र करने का विचार है। विदेशो से मिलने वाली सहायता को ८०० करोड रु० आका गया है। इस प्रकार कुल मिला कर सार्वजनिक क्षेत्र के लिये वित्तीय साधनो का योग ४,४०० करोड़ रुपये हो जाता है। इसके बाद ४०० करोड़ रुपये की कमी रह जाती है। यह कमी, अन्ततोगत्वा, स्वदेश में ही अतिरिक्त साधनो की तलाश कर के पूरी करनी पड़ेगी। ऊपर घाटे का बजट बनाने और जनता से ऋण लेने की जिन सम्भावनाओ की बात कही गई है, वे प्रायः सीमा को स्पर्श कर गई हैं। अतः उपरोक्त कमी को पूरा करने का एक मात्र शेष मार्ग कर-वृद्धि का, और शायद, राष्ट्रीय उद्योग-उपक्रमो के लाभों को प्रयोग करने का, रह जाता है।

विदेशी विनिमय—यहां योजना के लिये विदेशी विनिमय के साधनो की आवश्यकता व प्राप्ति की बात को भी जान लेना आवश्यक है। योजना मे चालू

खाते मे, पाच वर्षो मे, कुल मिलाकर, ११०० करोड रु० का घाटा होने का अनुमान लगाया है। इस घाटे के सतुलन के लिए लगभग इतनी ही राशि के विदेशी सूत्रों से प्राप्त होने की योजना मे अनुमान लगाया गया है। यह अनुमान इस प्रकार है: लगभग ८०० करोड रु० की विदेशी सहायता योजना के सार्वजनिक क्षेत्र को मिलेगी, लगभग १०० करोड रु० की विदेशी पूंजी का विनियोग योजना के निजी क्षेत्र मे होगा और योजना के अनुसार, भारत के खाते मे खडी हुई स्टर्लिङ्ग पावने की रकम मे से २०० करोड रु० का उपयोग, योजना की विदेशी विनिमय की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये, बिना किसी जोखिम के किया जा सकता है।

दूसरी योजना के कार्यकरण की समीक्षा*

(Review of Second Plan's working)

दूसरी योजना की आधी से कुछ अधिक अवधि बीत चुकी है। आरम्भ से ही इसे कई एक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। ये कठिनाइयाँ इस सीमा तक बढ गई है कि योजना के तीसरे वर्ष के आरम्भ होते-होते योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) को इसमे महत्वपूर्ण परिवर्तन करने पडे है। नीचे हम योजना का दो वर्षो (१९५६–५८) मे कार्यकरण तथा इसके परीक्षण (Appraisal) व पुनरीक्षण (Re-appraisal) के बारे मे पढते है।

व्यय तथा इसकी वित्त-व्यवस्था (Outlay and its Financing)—अनुमान है कि योजना के पहले दो वर्षों (१९५६–५८) मे केन्द्र तथा राज्यो की सरकारो द्वारा योजना पर कुल केवल १४९९ करोड रु० व्यय हो पाये। इसमे से ६५९ करोड रु० बजट के साधनो द्वारा, १३८ करोड रु० विदेशी सहायता के रूप में तथा ७०२ करोड रु० घाटे के बजट बनाकर प्राप्त हुए। १९५८-५९ के लिये केन्द्रीय व राज्य सरकारो के बजटो मे १००० करोड रु० के योजना-व्यय की व्यवस्था की गई है। इसमे से ४४८ करोड रु० आन्तरिक साधनो से, ३२५ करोड रु० विदेशी सहायता के रूप मे और २२७ करोड रु० घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा प्राप्त होने की आशा की गई है। परन्तु योजना आयोग के अनुसार, १९५८–५९ में कुल ९६० करोड रु० का ही योजना-व्यय हो पायेगा, जिसमे से लगभग २१५ करोड रु० घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा प्राप्त किये जायेंगे। इस प्रकार योजना के पहले तीन वर्षों मे कुल केवल २,४५९ (१४९९+९६०) करोड रु० व्यय होने का अनुमान है। यह रकम ४८०० करोड रु० के कुल प्रस्तावित योजना-व्यय की आधी से कुछ ही अधिक बैठती है। इसमे ४३८ करोड रु० विदेशी सहायता के होगे और

*Source Planning Commission : Appraisal & Prospects of the Second Five Year Plan, May, 1958.

६१७ करोड़ रु० घाटे की वित्त-व्यवस्था से प्राप्त होंगे, जबकि सम्पूर्ण योजना मे घाटे की वित्त-व्यवस्था से केवल १२०० करोड रु० ही प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। इसमे स्पष्ट है कि आगामी दो वर्षों में घाटे के बजट बना कर साधन प्राप्त करने के लिये बडा सीमित क्षेत्र रह गया है, क्योकि अधिक मात्रा मे ऐसा करने से, पहले ही ऊंचे मूल्य स्तर मे तेजी से वृद्धि होगी, जो कि समस्त अर्थ-व्यवस्था के लिए और स्वयं योजना की सफलता के लिए बडा हानिकारक सिद्ध होगा।

इससे यह भी स्पष्ट है कि योजना के इन तीन वर्षो मे करों, बाजार ऋणों, अल्प बचतो, आदि बजट के साधनो से, योजना अनुसार, पर्याप्त साधन प्राप्त नही हुए है, इसका यह अर्थ नही है कि इस दिशा मे प्रयत्न नही किये गये है। वास्तविकता यह है कि इन तीन वर्षों मे केन्द्र की और राज्यो की सरकारो द्वारा नये कर लगाये गये हैं, और पुराने करो की दरो मे वृद्धि की गई है। केवल इसी कर-वृद्धि के फलस्वरुप सम्पूर्ण योजनाकाल मे कुल ९०० करोड रु० प्राप्त होने की आशा है--लगभग ७२५ करोड रु० केन्द्रीय सरकार के कर-प्रयत्नो द्वारा और लगभग १७५ करोड रु० राज्य सरकारो के कर प्रयत्नो द्वारा। योजना मे कर-वृद्धि के द्वारा केवल ४५० करोड रु० ही प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। यदि इसमे ४०० करोड रु० की वह कमी भी जोड दे, जो कि देश मे ही नये साधनो द्वारा पूरी करने के लिए छोड दी गई थी, तो भी कर-वृद्धि की अतिरिक्त आय (९०० करोड रु०) मे से (४५०+४००=८५० करोड रु० घटा कर। ५० करोड रु० बच जाते हैं। तथापि, बात ऐसे नही बन रही है। कर-वृद्धि के द्वारा जो धन प्राप्त हो रहा है, वह सारे का सारा ही योजना मे व्यय के लिये-उपलब्ध नही हो रहा है, क्योकि उसका एक बडा भाग अन्य दिशाओ मे, जैसे कि सुरक्षा, विकासेतर (Non-development) व्यय और योजना के बाहर विकास-व्यय मे चला जाता है। फलस्वरुप योजना के इन तीन वर्षो मे 'चालू आय मे से बचत' के द्वारा केवल ४३६ करोड रु०, और आगामी दो वर्षों मे ३२० करोड रु० और प्राप्त होने की आशा है, इस प्रकार इस स्रोत से योजना के पाँचो वर्षो मे केवल ७५६ करोड रु० प्राप्त होने की आशा है, जबकि योजना मे ८०० करोड रु० प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था, और जबकि योजना के पहले तीन वर्षो मे ही इतनी कर-वृद्धि की जा चुकी है, जिससे की सम्पूर्ण योजनाकाल मे ९०० करोड़ रु० की अतिरिक्त कर आय प्राप्त होने की आशा है। अतः यह आवश्यक है कि सुरक्षा पर व्यय, विकासेतर व्यय और योजना के बाहर होने वाले विकास-व्यय को यथासंभव कम किया जाय। साथ ही, राज्यो को अभी अपने कर-प्रयत्नो को बढाने की आवश्यकता है, क्योकि अभी तक जो कर वृद्धि द्वारा अतिरिक्त आय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये गये हैं, उनमे राज्यो का योग उनके निर्धारित योग से काफी कम है। इस दिशा मे विशेष प्रयत्न केन्द्र द्वारा ही किये गये हैं।

इधर बाजार ऋणो और अल्प बचतो से भी आशानुसार धन प्राप्त नही हुआ है। १९५६-५७ मे इस स्रोत से जहा २०० करोड़ रुपए मिले, वहा १९५७-

५८ में केवल १२७ करोड़ रुपए ही मिले। १९५८–५९ में इससे २१७ करोड़ रुपए प्राप्त होने की आशा है। इसके लिए अल्प बचत आन्दोलन को घर-घर तक पहुँचाने की आवश्यकता है।

रेलों का अंशदान सन्तोषजनक है। तीन वर्षों में इन से १२९ करोड़ रु० मिलने का अनुमान है जबकि योजना के पाँचों वर्षों का लक्ष्य केवल १५० करोड़ रुपये है।

उधर भविष्य निधि तथा अन्य जमा खातों से बजाय कुछ मिलने के तीन वर्षों में ११ करोड़ रु० की कमी होने का अनुमान है।

इस प्रकार बजट के कुल साधनों से तीन वर्षों में कुल ११०१ करोड़ रु० (४३९ करोड़ रु० चालू आय में से + ५४४ करोड़ रु० जनता से ऋणों से + १२९ करोड़ रु० रेलों से — ११ करोड़ रु० बजट के अन्य साधनों से) प्राप्त होने का अनुमान है। योजना में पाँच वर्षों में इस स्रोत से २४०० करोड़ रुपये प्राप्त होने का लक्ष्य रखा गया है। इसके अतिरिक्त, ४०० करोड़ रु० की कमी को भी इसी स्रोत से पूरा किया जाना है। अत: योजना में निर्धारित कुल व्यय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बजट के साधनों को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है।

व्यय के वितरण की संरचना—योजना में विकास की विभिन्न मदों पर व्यय का वितरण जिस प्रकार किया गया था और योजना के पहले तीन वर्षों (१९५६–५९) में इन मदों पर जितना-जितना व्यय होने की सम्भावना है, यह नीचे की तालिका में दिया गया है –

(करोड़ रु० में)

विकास की मदें	मूल योजना (१९५६–६१)	१९५६–५९ में अनुमानित व्यय
१. कृषि तथा सामुदायिक विकास	५६८	२६१
२. सिंचाई तथा बिजली	९१३	४३९
३. उद्योग तथा खानें	८९०	५११
४. परिवहन तथा संचार	१,३८५	८००
५. समाज सेवायें	९४५	३६०
६. विविध	९९	४५
योग	४,८००	२,४१६

विकास-कार्यक्रम—अधिकांश क्षेत्रों में, और विशेषत: कृषि के क्षेत्र में, विकास-कार्यक्रम योजनानुसार नहीं चल रहे हैं। यह बात ऊपर बतलाये गये कुल व्यय और उसके वितरण से भी स्पष्ट हो जाती है। अत: यह दिखाई दे रहा है कि योजना में निर्धारित भौतिक लक्ष्य पूर्णतया प्राप्त नहीं किये जा सकेंगे। नीचे हम विभिन्न क्षेत्रों में योजना के पहले तीन वर्षों के कार्यकरण का संक्षिप्त विवरण देते हैं—

कृषि तथा सामुदायिक विकास—मूल योजना मे खाद्यान्न के उत्पादन में १ करोड़ टन की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि यह लक्ष्य बड़ा नीचा है। अतः अक्टूबर, १६५६ में ही इसे बढ़ा कर १ करोड़ ५५ लाख टन कर दिया गया था। अनुमान है कि कृषि की खाद्यान्न की उत्पादन-क्षमता मे १६५६-५७ मे १३ लाख टन को और १६५७-५८ में २३ लाख टन की वृद्धि हुई होगी, और १६५८-५६ मे लगभग ३० लाख टन की वृद्धि हो जायेगी। इस प्रकार तीन वर्षों की कुल वृद्धि (६६ लाख टन) संशोधित लक्ष्य की आधी भी नही बैठती। अतः इस दिशा मे प्रयत्नों को बढाने व प्रभावपूर्ण बनाने की अत्यधिक आवश्यकता है। योजना की सफलता, बड़ी सीमा तक, खाद्यान्न के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि पर ही निर्भर है।

१६५६–५८ के दो वर्षों मे १'६२ राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड प्रारम्भ किये गये, और ४४० राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डो को सामुदायिक विकास खण्डों मे बदला गया। १६५७–५८ के अन्त मे १५ करोड की जनसंख्या के कुल २,७६,००० गांव सामुदायिक विकास कार्यक्रम से लाभान्वित हो रहे थे।

सिंचाई तथा बिजली—१६५६–५८ के दो वर्षों मे छोटे सिंचाई-कार्यों से ३५ लाख एकड भूमि पर, और बड़े तथा मध्यम आकार के सिंचाई-कार्यों से १८ लाख एकड भूमि पर सिंचाई-सुविधाओं का प्रबन्ध किया गया है, जबकि योजना का पांच वर्षों का लक्ष्य क्रमशः ६० लाख एकड व १२० लाख एकड है। अब अनुमान है कि यदि बड़े तथा मध्य आकार के सिंचाई-कार्यों पर व्यय करने के लिये पर्याप्त साधन प्राप्त हो सके, तो इन से योजनाकाल में १२० लाख एकड के स्थान पर केवल १०४ लाख एकड भूमि पर ही सिंचाई-सुविधाओं को बढाया जा सकेगा।

बिजली—१६५६–५६ के तीन वर्षों मे बिजली की प्रस्थापित क्षमता मे ६'३ लाख किलोवाट (७'७ लाख किलोवाट सार्वजनिक क्षेत्र में और शेष निजी क्षेत्र मे) की वृद्धि होने की सभावना है। योजना मे योजना की पूर्ण अवधि मे बिजली की प्रस्थापित क्षमता मे ३५ लाख किलोवाट की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया था। अब अनुमान है कि यह वृद्धि केवल ३० लाख किलोवाट ही हो पायेगी।

उद्योग तथा खानें— बड़े तथा मध्य आकार के उद्योग—सार्वजनिक क्षेत्र—मूल योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक योजनाओं मे प्रत्यक्ष विनियोग के लिये ५२४ करोड रुपये रखे गये थे, जिसमे से ३५० करोड रुपये लोहे और इस्पात के तीन कारखानो (रूरकेला, भिलाई और दुर्गापुर) के लिये रखे गये थे। इसके अतिरिक्त ६०–६५ करोड रुपये 'राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम' (N. I. D. C.) द्वारा विनियोग के लिये रखे गये थे। बाद मे इन रकमों को बढ़ाया गया, क्योंकि यह अनुभव किया गया कि मूल योजना मे जितने धन की व्यवस्था की गई है, उससे योजना मे शामिल औद्योगिक योजनायें पूरी नहीं हो पायेंगी।

योजना के पहले तीन वर्षों (१९५६–५९) मे सार्वजनिक क्षेत्रो मे औद्योगिक योजनाओं पर कुल ४३० करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस अवधि मे कुछ योजनायें, जो कि प्रथम योजनाकाल मे आरम्भ की गई थी, पूरी हुई और कुछ पर काम आगे बढा। तथापि, अब यह अनुभव किया जा रहा है कि मुख्यत: विदेशी विनिमय की कमी के कारण, और योजनाओ के रुपया-व्यय के अनुमानो मे भी वृद्धि के कारण, कई एक औद्योगिक योजनाओ पर अभी काम आरम्भ नही किया जायेगा, कुछ पर काम की गति धीमी हो जायेगी, जिससे वे देर मे पूरी होगी और उनसे उत्पादन तीसरी योजना के प्रारम्भिक वर्षों मे मिलने लगेगा। कुछ योजनाओ पर इसलिये भी काम देर से आरम्भ हुआ, क्योकि इनके लिये विदेशो से मशीने उधार लेने के लिये अथवा साख-सुविधायें प्राप्त करने के लिये बात-चीत मे काफी समय बीत गया। इससे कुछ उद्योगो, जैसे उर्वरक, भारी ढलाई के कारखाने, आदि मे उत्पादन के लक्ष्यो को प्राप्त नही किया जा सकेगा। तथापि, तिस पर भी, कुछ मुख्य योजनाओ, जैसे लोहे और इस्पात के तीनो कारखानो, और नागल उर्वरक कारखाने पर काम आगे बढ रहा है, और आशा है कि लगभग समयानुसार पूरे हो जायेगे।

निजी क्षेत्र–मूल योजना मे यह अनुमान लगाया गया था कि निजी औद्योगिक क्षेत्र मे योजनाकाल मे ६८५ करोड रुपये का विनियोग होगा, जिसमे से ५३५ करोड़ रुपये का नया विनियोग होगा, और शेष १५० करोड रुपये का विनियोग पुनस्स्थापन पर होगा। बाद मे इन अनुमानो मे संशोधन किया गया, और यह सोचा गया कि निजी क्षेत्र के कार्यक्रमो को पूरा करने के लिये कुल ८४० करोड रुपये का विनियोग करना पड़ेगा, जिसमे से ४४० करोड रुपये के बराबर की विदेशी विनिमय होगी। योजना के पहले दो वर्षों मे कुल लगभग २७०–२८० करोड रुपये का विनियोग होने का अनुमान है। आगामी वर्षो मे रुपया-पूंजी तथा विशेषत: विदेशी विनिमय की कमी की संभावना है। अत: आशा है कि कुछ उद्योगो, जैसे बिजली-इंजीनियरी उद्योगो, रेल के इंजिन, माल-डिब्बे, साइकल, और उपभोग-वस्तुओ के अधिकाश उद्योगो मे योजना मे निर्धारित प्रस्थापित क्षमता के मूल लक्ष्यो को प्राप्त कर लिया जायेगा, जबकि अन्य उद्योगो मे कम अथवा अधिक कमी रह जायेगी। सर्वलोग का अब अनुमान है कि योजना के अन्त तक प्रस्थापित क्षमता के मूल लक्ष्यो के केवल लगभग ७०–७५ प्रतिशत को ही प्राप्त किया जा सकेगा। उधर, उद्योगो के आधुनिकीकरण तथा पुनस्स्थापन के कार्यक्रम को भी शत प्रतिशत पूरा नही किया जा सकेगा। निजी क्षेत्र मे कुल विनियोग अधिक से अधिक अनुमानत ५७५ करोड़ रुपये ही हो पायेगा।

ग्राम तथा लघु उद्योग—योजना मे ग्राम तथा लघु-उद्योगो के कार्यक्रम के लिए २०० करोड रु० की व्यवस्था की गई थी। पहले तीन वर्षों मे इस पर ९१ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है। आशा है कि योजना की पूर्ण अवधि मे कुल

१७०–१७५ करोड़ रु० ही व्यय हो पायेंगे। अतः अधिकांश दिशाओं में कार्यक्रमों को पूरा नही किया जा सकेगा। हाथ करघा उद्योग मे वस्त्र-उत्पादन में १०० करोड़ गज की वृद्धि के लक्ष्य की प्राप्ति की कोई संभावना नही है, क्योंकि योजना के पहले दो वर्षों मे इसमे केवल १८ करोड गज की ही वृद्धि हो पाई है। लघु उद्योगों का कार्यक्रम अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक गति से चल रहा है। १९५८–५९ के अन्त तक ३० ग्रौद्योगिक बस्तियों के निर्माण, ५ क्षेत्रीय लघु–उद्योग सेवा संस्थाओं, १४ बड़ी संस्थाओं तथा ६० प्रसार केन्द्रों की स्थापना का अनुमान है। देश मे रोजगार-अवसरो के प्रसार के दृष्टिकोण से ग्राम तथा लघु उद्योगों के कार्यक्रम को पूरा करना बड़ा आवश्यक है।

खानें—*योजना मे खनिज-विकास-कार्यक्रम (जिसमे मुख्यतः कोयला-उत्पादन, कोयला धोने के कारखाने, खनिज तेल की खोज, और महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों के सर्वेक्षण तथा खोज-बीन के कार्यक्रम) के लिये ७२·५ करोड़ रु० रखे गये थे। अब अनुमान है कि सम्पूर्ण कार्यक्रम पर लगभग ८५ करोड़ रुपए व्यय होंगे। फिर भी कोयले का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से ३०–४० लाख टन कम रह जायेगा। कोयला धोने के चारो कारखाने स्थापित कर लिये जायेंगे। खनिज तेल की खोज के कार्यक्रम भी ठीक चल रहे हैं। तथापि, अन्य खनिज पदार्थों के सर्वेक्षण का काम बड़ी धीमी गति से चल रहा है।

परिवहन तथा संचारः—मूल योजना में परिवहन तथा संचार के विभिन्न विकास कार्यक्रमो पर व्यय के लिये जो राशि रखी गई थी, और १९५६-५९ के तीन वर्षों मे जिस राशि के व्यय होने का अनुमान है, वे नीचे दी गई हैं:—

(करोड़ रु० मे)

विकास की मद	योजना में व्यवस्था	(१९५६-५९ में अनुमानित व्यय
रेलें	९००	५३९
सड़कें	२४६	१२७
जहाजरानी	४५	२८
बन्दरगाह	४०	२५
संचार तथा आकाशवाणी	११६	६४

मूल योजना मे यह अनुमान लगाया गया था कि योजना के अन्तिम वर्ष तक रेलो की माल-यातायात की मात्रा १२ करोड़ टन से बढ़कर १८·१ करोड़ टन हो जायेगी अर्थात् इसमे ६·१ करोड़ टन की वृद्धि होगी। परन्तु अब चूंकि उद्योगों, खानों, आदि विभिन्न क्षेत्रो मे मूल योजना मे निर्धारित लक्ष्यो से कम विकास हो पायेगा, अतः यह अनुमान लगाया जा रहा है कि माल-यातायात की मात्रा में केवल ४·८ करोड़ टन की वृद्धि होगी। वास्तव में रेलें इसमें से ४·२ करोड़ टन यातायात ही उठा सकेंगी। मूल योजना में भी इतनी ही अतिरिक्त माल यातायात के लिये व्यव-

स्था की गई थी। यानी यातायात में ३% प्रति वर्ष की वृद्धि को ही उठाने का लक्ष्य संभवतः पूरा हो पायेगा। संशोधित योजना में रेलो द्वारा व्यय की जाने वाली व्यय की राशि को कम नहीं किया जा रहा है। परन्तु मूल्यों के बढ़ जाने के कारण, अब यह अनुमान है कि रेल-योजना के सभी कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये १०० करोड़ रु० अधिक व्यय करने पड़ेंगे। अतः ऐसी दशाओं में कुछ विकास योजनाओं, जैसे कुछ रेलों में बिजली का प्रयोग, मीटर गेज के डिब्बे बनाने के कारखाने की स्थापना आदि पर काम नहीं किया जायेगा।

साधनों की कमी के कारण, मूल योजना में निर्धारित सड़क-विकास का कार्यक्रम भी लक्ष्यों से कुछ पीछे ही रहेगा। जहाजरानी के क्षेत्र में योजना में ३ ६ लाख की टनेज (GRT) प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। अब अनुमान है कि वास्तव में केवल १·८ लाख की टनेज (GRT) ही प्राप्त की जा सकेगी। बन्दरगाहों की क्षमता अवश्य, योजना के अनुसार, २ ५ करोड़ टन से बढ़कर ३ ३ करोड़ टन हो जाने की आशा है।

समाज सेवायें—योजना के पहले तीन वर्षों (१९५६-५९) में समाज-सेवाओं की सभी दिशाओं में कुल आयोजित व्यय की तुलना में कम रुपया खर्च हो पाने का अनुमान है। मूल-योजना में समाज-सेवाओं के लिये ९४५ करोड़ रु० रखे गये थे। इसकी तुलना में पहले तीन वर्षों का अनुमानित व्यय केवल ३६० करोड़ रु० है। यदि कुल योजना-व्यय को ४,८०० करोड़ रु० से घटा कर ४,५०० करोड़ रु० कर दिया गया, और उद्योगों तथा खनिजों पर उनकी आवश्यकतानुसार व्यय किया गया, तो समाज-सेवाओं के लिये ९४५ करोड़ रु० के स्थान पर केवल ८१० करोड़ रु० ही निकल पायेंगे।

रोजगार:—योजना में यह अनुमान लगाया गया था कि योजनाकाल में सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में विभिन्न विकास-कार्यक्रमों के परिपालन से, कृषि को छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में, ८० लाख रोजगार अवसर उत्पन्न होंगे—कृषि में १६ लाख और व्यक्तियों को काम मिलने का अनुमान लगाया गया था। बाद में विभिन्न योजनाओं के लागत-व्यय के अनुमानों के बढ़ जाने के कारण, यह अनुमान लगाया गया कि यदि सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रु० ही व्यय किये जाते हैं, और निजी क्षेत्र में लगभग योजनानुसार ही व्यय होता है, तो कृषि-इतर क्षेत्र में कुल लगभग ७० लाख और रोजगार उत्पन्न हो पायेंगे। अब यदि सार्वजनिक क्षेत्र में मूल व्यय ४,५०० करोड़ रु० ही हो पाता है, तो अनुमान है कि केवल ६५ लाख अतिरिक्त रोजगार-अवसर ही उत्पन्न हो पायेंगे। अभी तक अनुमानतः कुल केवल २५ लाख अतिरिक्त रोजगार-अवसर ही उत्पन्न हो पाए होंगे।

राष्ट्रीय आय.—योजना में सम्पूर्ण योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में २५% की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था। अब बदली हुई दशाओं में इस लक्ष्य की प्राप्ति में संशय है। वास्तव में राष्ट्रीय आय में कितनी वृद्धि हो पाती है, यह इस बात पर

निर्भर करेगा कि कृषि-उत्पादन में कहां तक वृद्धि हो पाती है, क्योंकि आशा है कि कृषि-इतर क्षेत्र मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि बहुत कुछ योजना के अनुसार ही हो पायेगी।

योजना का पुनरीक्षण

(Re-appraisal of the Plan)

१९५६ के आरम्भ मे जब दूसरी योजना बनाई गई, तब कई एक अर्थ-शास्त्रियों तथा विशेषज्ञों ने यह कहा था कि देश के साधनो को देखते हुए, यह योजना बहुत अधिक महत्वाकांक्षी है। सब उन्होंने इस बात मे सशय प्रकट किया था कि केन्द्र तथा राज्यो की सरकारें आन्तरिक तथा बाहरी स्रोतों से योजनाकाल मे ४,८०० करोड़ रु० एकत्र कर पायेंगी। अतः उनका मत था कि पहले से ही हमें योजना का आकार उतना बड़ा रखना चाहिये, जितने के लिये सम्भवतः अधिक से अधिक साधन प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि एक बार बड़ी योजना बना कर, बाद मे साधनो की कमी के कारण, उसमे उलट-फेर व कतर-ब्योंत करना, नियोजन के लिये कई प्रकार से हानिकारक सिद्ध होगा। परन्तु, उस समय इस चेतावनी की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया, और ४,८०० करोड़ रु० के कुल व्यय के आधार पर ही योजना बनाई गई। तथापि, तब यह माना गया था कि योजना की सफलता कुछ आवश्यक शर्तों के पूरा होने पर निर्भर होगी।

(१) कृषि-उत्पादन मे काफी बड़ी वृद्धि;

(२) देशी बचतों मे निरन्तर वृद्धि,

(३) योजना के कारण विदेशी विनिमय की कमी को पूरा करने के लिये पर्याप्त मात्रा मे विदेशी सहायता की प्राप्ति,

(४) मूल्य-स्तर मे स्थिरता, और

(५) प्रशासन की कुशलता, और विशेषतः पहली और दूसरी योजना मे निर्मित साधनो का कार्यकुशल प्रयोग,

दुर्भाग्यवश अभी तक ये शर्तें पर्याप्त मात्रा मे पूरी नही हो रही हैं, जिससे दूसरी योजना के आरम्भ से ही देश की अर्थ-व्यवस्था व इसके साधनो पर कई प्रकार के भार पड रहे हैं, और योजना को कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है। उदाहरणार्थ, कृषि-उत्पादन मे केवल २-२.५% प्रतिवर्ष की ही वृद्धि हो रही है, जो कि दूसरी योजना के आकार के विकास-व्यय की तुलना मे बहुत कम है। खाद्यान्न का उत्पादन विशेष रूप से इस दिशा मे पिछड रहा है, जिससे प्रतिवर्ष बडी मात्रा मे खाद्यान्न की आयात करनी पड रही है। उधर, योजना में शामिल विभिन्न औद्योगिक तथा अन्य योजनाओ के लिये करोड़ो रु० की मशीनरी व उपकरण तथा आवश्यक माल विदेशों से मगवाना पड रहा है। इस सब के कारण देश की आयातें तेजी से बढ रही हैं। परन्तु हमारी निर्यातें उसी सीमा तक नही बढ रही हैं। इसके अतिरिक्त, अधिकांश बड़े देशो मे १९५५-५७ मे मूल्य-स्तर बढ़े हैं,

जिससे आयात की गई वस्तुओं के मूल्य भी बढ़े हैं। इधर नहर स्वेज सम्बन्धी झगड़े का भी इसी दिशा में प्रभाव पड़ा है। इससे देश के व्यापार-सन्तुलन का घाटा काफी बढ़ा है। अनुमान है कि अप्रैल १९५६ से सितम्बर, १९५७ के बीच का ही यह घाटा लगभग ५६७ करोड़ रु० के मूल्य का था। इस बढ़ते हुए घाटे ने विदेशी विनिमय की समस्या को बड़ा विकट बना दिया है।

देश के भीतर योजना के आरम्भ से ही मूल्य-स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रही है। अप्रैल, १९५६ से अगस्त १९५७ के बीच ही मूल्यों में लगभग १६% की वृद्धि हुई। इससे पता चलता है कि देश में स्फीति की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं। यह अवस्था दूसरी योजना के आरम्भ से पहले ही आरम्भ हो चुकी थी क्योंकि प्रथम योजना के अन्तर्गत अधिकाधिक विकास व्यय और इस व्यय को पूरा करने के लिए घाटे की अधिकाधिक वित्त-व्यवस्था प्रथम योजना के अन्तिम दो वर्षों में ही की गई थी। दूसरी योजना के अन्तर्गत पहले दो वर्षों में ही सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में विनियोग-व्यय में भी वृद्धि हुई है और सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिये घाटे की वित्त व्यवस्था का पहले से कहीं अधिक सहारा लिया गया है। इस सबसे देश में स्फीति को और भी जोर मिला है, तथा व्यापार-सन्तुलन में घाटा बढ़ा है। उधर राज्य सरकारें योजना के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन एकत्र नहीं कर पाई हैं, जबकि उनका तथा केन्द्रीय सरकार का योजना के बाहर व्यय काफी बढ़ा है।

देश में तथा बाहर वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से कई एक योजनाओं के लागत-अनुमानों में वृद्धि हो गई है, जिससे योजना में उनके लिए की गई धन-व्यवस्था अपर्याप्त हो गई। इधर, योजना के निर्माण के बाद कुछ नई महत्त्वपूर्ण योजनाओं को दूसरी योजनाओं में शामिल करना पड़ा। इन सब घटनाओं के कारण शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि योजना में शामिल विकास-कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए कुल ४,८०० करोड़ रु० से भी अधिक रु० व्यय करने की आवश्यकता होगी, जबकि विभिन्न वित्तीय स्रोतों से अभी तक की प्राप्तियों को देखते हुए, ४,८०० करोड़ रु० भी एकत्र करना कठिन दिखाई पड़ने लगा था। अतः इन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में योजना पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता थी।

तदनुसार योजना आयोग ने दूसरी योजना पर पुनर्विचार किया और मई, १९५८ में 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' (National Development Council) के सामने दूसरी योजना का पुनर्मूल्यांकन तथा भविष्य पर एक पत्र (Memorandum on the Appraisal and Prospects of the Second Five Year Plan) रखा। इस पत्र में योजना आयोग ने योजना की दो दशाओं पर विचार किया है।

प्रथम दशा—यदि कुल व्यय ४,८०० करोड़ रु० ही रखा जाता है।— अगर हम यह मानते हैं कि देश तथा विदेशों में मूल्य-स्तर बढ़ जाने से योजना में

शामिल विभिन्न योजनाओं के लागत-अनुमान बढ गये हैं। ऐसी दशा मे यदि कुल व्यय ४'८०० करोड रु० ही रखा जाता है, इसमें वृद्धि नही की जाती, तो विकास की विभिन्न मदो पर व्यय के वितरण मे परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। योजना मे चूंकि औद्योगीकरण पर बहुत अधिक बल दिया गया है, अतः औद्योगीक योजनाओ को पूरा करना आवश्यक है। इसके लिए उद्योगो तथा खानों पर अधिक व्यय करना पडेगा। ऐसा करने के लिए कुछ अन्य दिशाओं मे कम खर्च करना पडेगा। खाद्य-उत्पादन तथा रोजगार अवसरो मे वृद्धि करने की आवश्यकता को देखते हुये कृषि (सामुदायिक विकास सहित) तथा ग्राम एवं लघु-उद्योगों पर व्यय कम नही किया जा सकता। तब सिंचाई एवं बिजली, परिवहन एवं संचार, समाज सेवाओ और विविध व्यय मे ही कमी की जा सकती है। इसमे भी परिवहन पर व्यय मे कमी करने की अधिक गुंजाइश नही है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, योजना आयोग ने व्यय का जो संशोधित आवंटन दिया है, वह नीचे की तालिका मे दिया गया है। यहा तुलना के लिए व्यय का मूल आवंटन भी दिया गया है।

योजना व्यय का वितरण

(करोड रु० मे)

विकास की मद	मूल आवंटन	संशोधित आवंटन
१. कृषि तथा सामुदायिक विकास	५६८	५६८
२. सिंचाई तथा बिजली	६१३	८६०
३. ग्राम तथा लघु-उद्योग	२००	२००
४. अन्य उद्योग तथा खानें	६९०	८८०
५. परिवहन तथा सचार	१,३८५	१,३४५
६. समाज सेवायें	९४५	८६३
७. विविध	९९	८४
योग	४,८००	४,८००

दूसरी दशा—परन्तु योजना आयोग के अनुसार, सम्पूर्ण योजनाकाल मे ४,८०० करोड रु० का व्यय होने का अनुमान है। ऊपर हम पढ आये हैं कि योजना के पहले तीन वर्षों (१९५६-५९) मे कुल २,४५६ करोड रु० ही व्यय होने का अनुमान है। वर्तमान प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखते हुए, योजना आयोग के अनुसार, योजना के अन्तिम दो वर्षों (१९५९—६१) मे, १८०४ करोड रु० और प्राप्त होने का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार योजना के पाचो वर्षों के लिए कुल साधन ४,२६० (२,४५६+१,८०४) करोड रु० हुए। पत्र (Memorandum) के अनुसार, यदि योजना को इस सीमा तक छोटा किया जाता है, तो इससे अर्थ-व्यवस्था पर कई प्रकार से बुरा प्रभाव पडेगा। अतः योजना आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि कुल योजना-व्यय को किसी भी प्रकार ४,५०० करोड़ रु० से

कम नहीं होने देना चाहिए, और इसके लिए २४० करोड़ रु० (३५०८—४२६० करोड़ रु०) के अतिरिक्त साधन देश में से ही एकत्र करने के सभी संभव प्रयत्न करने चाहियें। इसके लिए योजना आयोग का सुझाव है कि १०० करोड़ रु० अतिरिक्त करों द्वारा, ६० करोड़ रु० बाजार ऋणों तथा मुख्यतः अल्प बचतों के द्वारा और ८० करोड़ रु० व्यय में मितव्ययिता, तथा करों और ऋणों की बाकियों को शीघ्रातिशीघ्र एकत्र करके प्राप्त किये जाने चाहियें।

योजना का (अ) भाग व (ब) भाग [Part (A) and Part (B) of the Plan]—राष्ट्रीय विकास परिषद् ने अपनी मई, १९५८ की बैठक में यह निर्णय किया कि कुल योजना व्यय की उच्चतम सीमा ४,८०० करोड़ रु० ही रहनी देनी चाहिए। तथापि, साधनों की संभावित कमी को ध्यान में रखते हुए, योजना को दो भागों (अ) और (ब) में बांट देना चाहिए: योजना के (अ) भाग पर ४,५०० करोड़ रु० व्यय किए जायेंगे। इसमें निम्नलिखित कार्यक्रम व योजनायें शामिल की गई हैं—

(i) कृषि-उत्पादन में वृद्धि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित कार्यक्रम व योजनायें;

(ii) अत्यावश्यक योजनायें (Core Projects), उदाहरणार्थ, लोहे और इस्पात के कारखानें, कोयला और भूरा कोयला (Lignite) की योजनायें, रेल-विकास-कार्यक्रम, कुछ बन्दरगाहों का विकास-कार्यक्रम, कुछ बिजली योजनायें, आदि,

(iii) वे योजनायें जिन पर बहुत काम हो चुका है, और

(iv) कुछ अन्य अनिवार्य योजनायें। शेष योजनायें योजना के (ब) भाग में शामिल होंगी, जिन पर कुल लगभग ३०० करोड़ रु० व्यय होगा। इस प्रकार योजना का (अ) भाग उस राशि पर आधारित है, जिसके एकत्र किए जा सकने की संभावना है। योजना के (ब) भाग में शामिल कार्यक्रमों को उसी सीमा तक हाथ में लिया जा सकता है, जिस सीमा तक कि उनके लिए अतिरिक्त साधन उपलब्ध हों। योजना के इन दोनों भागों में कौन-कौन से कार्यक्रम व योजनायें शामिल होंगी, यह योजना आयोग तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों के बीच परामर्श से निश्चित किया जायेगा।

व्यय का आवंटन—यदि कुल योजना-व्यय ४,५०० करोड़ रु० ही रखा जाता है, तो विकास की विभिन्न मदों में इसका आवंटन इस प्रकार होगा—

(करोड़ रु० में)

विकास की मद	व्यय
१. कृषि तथा सामुदायिक विकास	५१०
२. सिंचाई तथा बिजली	८२०
३. ग्राम तथा लघु उद्योग	१६०

विकास की मद	(करोड़ रु० में) व्यय
४. अन्य उद्योग तथा खानें	७६०
५. परिवहन तथा संचार	१,३४०
६. समाज सेवायें	८१०
७. विविध	७०
योग	४,५००

योजना का नवीनतम पुनरीक्षण

सितम्बर, १९५८ मे योजना आयोग ने दूसरी योजना के पुनरीक्षण (Re-appraisal) पर एक और पत्र प्रकाशित किया। इसमे उसने मई, १९५८ के पश्चात् की घटनाओ की तथा केन्द्रीय मन्त्रालयो से योजना के (अ) भाग पर हुई बात-चीतो की सक्षेप मे समीक्षा की है। इसके अनुसार, यदि राज्यो की योजनाओ पर व्यय को उतना ही रखा जाता है, जितना कि मई, १९५८ के पत्र (Memorandum) मे दिया गया था, तो, केन्द्रीय मन्त्रालयो के अनुसार, योजना के (अ) भाग को भी पूरा करने के लिए ४,५०० करोड रु० के स्थान पर ४,६५० करोड रु० का व्यय करना आवश्यक होगा अर्थात् १५० करोड रु० और व्यय करने पडेंगे। इसमे से ६२ करोड रु० केवल उद्योगो और खानो के विकास कार्यक्रम पर व्यय होगे। स्पष्ट है कि इतना व्यय करने के लिए अतिरिक्त साधनोको प्राप्त करने के हेतु केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो को अतिरिक्त करो, ऋणो व अल्प बचतों को एकत्र करना तथा व्यय मे मितव्ययिता के रूप मे बहुत अधिक प्रयत्न करने होंगे।

निष्कर्ष—ऊपर के अध्ययन से स्पष्ट है कि दूसरी योजना को आरम्भ से ही कई एक कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है। इसके पहले दो वर्ष कुछ सफलताओ और अधिक कठिनाइयो के वर्ष रहे है। योजना के इस तीसरे वर्ष मे अधिक मात्रा मे विदेशी सहायता के मिलने से दशा कुछ सुधरी है। परन्तु अर्थ-व्यवस्था की आन्तरिक दशा पहले से काफी बिगड़ रही है, क्योकि विभिन्न वस्तुओं और विशेषतः खाद्यान्न, के मूल्य काफी तेजी से बढ़ रहे हैं, और एक उंचे स्तर पर पहुच चुके हैं। योजना की सफलता के लिये यह बड़ी हानिकारक बात है। इससे, एक ओर तो विभिन्न योजनाओ के लागत-अनुमान और भी बढ जायेंगे, और दूसरी ओर, सरकार द्वारा देश मे पर्याप्त मात्रा मे साधन एकत्र करना कठिन हो जायेगा। अत: योजना की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि आन्तरिक मूल्य-स्तर को स्थिर रखा जाय। इसके लिए कृषि उत्पादन, और विशेषत: खाद्य-उत्पादन, को बढाना अत्यंत आवश्यक है। इसके साथ ही, यह भी आवश्यक है कि योजना को वित्त प्रदान करने के लिए देश मे ही विभिन्न स्रोतों से अधिक से अधिक साधन एकत्र किए जायें, और योजना के बाहर व्यय को कम से कम रखा जाय।

University Questions

1. Discuss India's industrial policy under the Second Five-Year Plan and describe the steps that are going to be taken to implement it. (*Agra, 1958*)

2. Give in brief the main features of the Second Five-Year Plan for India. (*Agra, 1957*)

3. Examine the working of the First Five-Year Plan. Discuss the role of foreign aid in its success. (*Agra, 1955*)

4. Discribe the chief features of the First Five-Year Plan. On what factors does its final success depend ? (*Agra, 1954*)

5. Write a critical note on the achievements under our First Five-Year Plan. (*Rajputana, 1956*)

6. Briefly review the progress of the Five-Year Plan. Point out the additions made to the plan and further adjustments necessary in view of the changed economi situation in the country. (*Rajputana, 1955*)

7. Indicate the contribution of the Five-Year Plan in the reorganisation and development of village economy of India. Is that enough ? (*Rajputana 1954*)

8. Describe in brief the salient features of the National Five-Year Plan. How far it will improve the living conditions of the people of India ? (*Rajputana 1953*)

9. Write a brief note on the First Five-Year Plan. (*Punjab, 1956*)

11. Write a brief essay on Economic Planning in India, covernot more than four pages of your answer-book. (*Punjab, 1955*)

11. Make a critical assesment of the First Five-Year Plan of India. How far have the targets of its agricultural production been attained ? (*Patna, 1956*)